श्रीश्रीभागवतसन्दर्भे

पञ्चमः

भक्तिसन्दर्भः

(प्रथमखण्डः)

प्रकाशक—

कृष्णदासबाबा

प्रकाशितग्रन्थसंख्या—१५१

षट्सन्दर्भात्मक–

श्रीभागवतसन्दर्भे

पञ्चमः

भक्ति-सन्दर्भः

[प्रथमखण्डः]

*
***
*

श्रीमज्जीवगोस्वामिचरणैः प्रणीतः

तथा

कुसुमसरोवरनिवासिना कृष्णदासेन

हिन्दीभाषया चानुदितः

प्रथमावृत्तिः–१०००

सम्वत् २०२६

गुरुपूर्णिमा

मूल्यम् ५) रुपये

प्रकाशकः—

कृष्णदासबाबा

(कुसुमसरोवरवाले)

वर्त्तमाननिवास

(वृन्दावन)

६।१०

समर्पण–पत्र

हमारी प्राचीन साहित्य-सेवा में विशेष सहायक तथा श्रद्धा रखने वाले श्रीमान् जयदयालजी डालमिया एवं उनकी धर्मपत्नी उदार हृदयवाली श्रीमती कृष्णादेवी को हार्दिक धन्यवाद देकर उनको उत्साहित करते हैं।—

नित्यधामगत, श्रीश्रीविनोदविहारीगोस्वामीप्रभु–महाराज (कालीदह-निबासी) के पुनीत स्मरण में—

तथा गुरु-परम्परा प्राप्त उपजीव्य-चरणोंकी पुनीत सेवा में:– (१) श्रीश्रीनित्यानन्दप्रभु, (२) श्रीश्रीजान्हवाठाकुरानी, (३) श्रीवीरचन्द्रगोस्वामी,(४) श्रीरामचन्द्रगोस्वामी,(५) श्रीकिशोरी-मोहनगोस्वामी, (६)श्रीराधावल्लभगो वामी, (७)श्रीराधारमण-गोस्वामी, (८) श्रीराधामाधवगोस्वामी, (९) श्रीसत्यानन्द-गोस्वामी, (१०) श्रीराधिकाप्रसादगोस्वामी, (११) श्रीकृष्ण-चैतन्यगोस्वामी, (१२) श्रीनित्यराधागोस्वामी,(१३) श्रीशंकरा-रण्यगोस्वामी,(१४) श्रीश्रीराधारमणचरणदास-बाबाजी महाराज (बड़े बाबाजी), (१५)नित्यधामगत-संकीर्त्तनप्रचारक–प्रेममूर्त्ति-निरन्तर अष्टसात्त्विकभावावली से विभूषित गुरुदेवमहाराज (श्रीश्रीरामदासबाबाजी महाराज),इस प्रथम भाग भक्ति-सन्दर्भ-रूप प्रस्तुत कृति को समर्पण करता हूँ। —कृष्णदास

मुद्रक :

मोहनचन्द्रगोस्वामी

मोहनप्रेस, वृन्दावन।

हमारी प्राचीन-साहित्य-सेवा में विशेष रुचि रखने
वाले एवं नाना प्रकार सहायता देकर
उत्साहित करने वाले तथा प्रस्तुत
भक्ति-सन्दर्भ-प्रकाशन में परम
हितैशी सहायकों की

❀ नामावली ❀

१. पूज्य स्वामी अखण्डानन्दजी महाराज
२. श्रीहरिदासजी शास्त्री (९नवतीर्थ) कालीदह
३. श्रीदीनशरणदासजी (पत्थरपुरा, वृन्दावन)
४. श्रीचक्रपाणिजी महाराज (वृन्दावन)
५. श्रीयुक्तनित्यानन्दभट्टजी (वृन्दावन)
६. श्रीयुक्त अतुलकृष्णगोस्वामीजी, (वृन्दावन)
७. श्रीयुक्त गोस्वामीदामोदरलालजी महाराज (वृन्दावन)
८. श्रीमान् सेठ जयदयालजी डालमिया, (नई दिल्ली)
९. श्रीमान् लज्जाराम ललाम, प्रिन्सीपल,
विद्यापीठ (वृन्दावन)
१०. श्रीमान् सेठ नन्दकिशोरजी झाझरीया (कलकत्ता)
११. श्रीहरिप्रसादजी-वेदान्ती, सीताराम-राधाकृष्ण-मंदिर
(वृन्दावन)
१२. श्रीमान् रमणदासजी पंड्या, गोलपाड़ा, (मथुरा)
१३. श्रीमान् गोपालदासजी ड़ागा, (राधाकुण्ड)
१४. श्रीयुक्त भक्तिदीपकमहाराज, (वृन्दावन)
१५. श्रद्धेय बाबा रासबिहारीदासजी महाराज,
वेणीपट्टी-द्वारभंगा (विहार)

—कृष्णदास

—*—

श्रीमद्भागवतस्वरूपः—

श्रीमद्भागवताभिधः सुरतरुस्ताराकुंरः सज्जनिः
स्कन्धैर्द्वादशभिस्वतः प्रविलसद्भक्त्यालवालोदयः।
द्वात्रिंशत्त्रिशतञ्च यस्य विलसच्छाखा-सहस्राण्यलं
पर्णान्यष्टदशेष्टदोऽति-सुलभो वर्वर्त्ति सर्वोपरि ॥

श्रीमद्भागवत नामक कल्पवृक्ष सर्वोपरि विराजित है। प्रणव जिस में अंकुर है, द्वादशस्कन्ध जिस की द्वादश मूल-शाखा है, भक्ति-रूपी आलवाल-द्वारा जो निरन्तर स्निग्ध है, जिस में ३५० अध्याय शाखासमूह तथा १८००० श्लोक पत्र-गण हैं।

पादौ यदीयौ प्रथमद्वितीयौ तृतीयतूर्य्यौ कथितौ यदूरू
नाभिस्तथा पञ्चम एव षष्ठौ भुजान्तरं दोर्युगलं तथान्यौ।
कण्ठस्तु राजन्नवमो यदीयौ मुखारविन्दं दशमः प्रफुल्लं
एकादशो यस्य ललाटपट्टं शिरोऽपि यद् द्वादश एव भाति ॥
तमादिदेवं करुणानिधानं तमालवर्णं सुहितावतारम्।
अपार–संसार-समुद्रसेतुं भजामहे भागवतस्वरूपम् ॥

यह अपार भव-सागर का सेतु रूप, करुणानिधान, तमाल-तुल्य श्यामवर्ण, कल्याणार्थ अवतीर्ण, आदिदेव श्रीभागवत-स्वरूप को हम सब आश्रय करते हैं। प्रथम-द्वितीय स्कन्ध जिस का चरणयुगल है, तृतीय-चतुर्थ दोनों जंघा हैं, पञ्चम-षष्ठ दोनों वक्ष हैं, सप्तम-अष्टम भुजा हैं। हे राजन्! नवम जिस का कण्ठ, तथा दशम प्रफुल्ल मुखकमल है। एकादश ललाट तथा द्वादश मस्तक हैं। इस प्रकार श्रीकृष्ण से अभिन्न रूप भागवत-विराजमान है।

—*—

प्रस्तुत भक्तिसन्दर्भ में सार-गर्भ-विषयः—

अन्वयमुख से-श्रीनारद-व्यास-सम्बाद, श्रीशुकपरीक्षित् सम्बाद-उपक्रम, श्रीशौनकवाक्य, श्रीब्रह्म--नारद-सम्बाद, श्रीविदुर-मैत्रेय-सम्बाद, अजानज-देवस्तुति, श्रीकपिलोपाख्यान, श्रीसनत्कुमार-उपदेश, श्रीरुद्रगीत, श्रीनारदवाक्य, श्रीऋषभदेव-वाक्य, श्रीप्रह्लाद-वचन, श्रीनारद-युधिष्ठिर-सम्बाद, श्रीजायन्तेयोपाख्यान, श्रीभगवदुद्धव-सम्बाद, श्रीशुकवाक्योपसंहार एवं श्रीसूतोपदेश के उपसंहार इन सब से भक्ति का अभिधेयत्व ।।

व्यतिरेकमुख से—भक्ति के विना गुणों का अनादर, भगवत्समर्पित कर्म का अनादर, योग का अनादर, ज्ञान का अनादर, आश्रयान्तर का अनादर, भगवद्भक्त का अनादर, कर्मादि-साधन-सिद्धगण का अनादर, भक्ति-अकरण में दोष, इन सब कारणों से भक्ति का अभिधेयत्व; भागवत में षड्विध लिङ्ग के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व; भक्ति का सार्वत्रिकत्व (सर्वदा करने का), भक्ति का सदातनत्व (नित्यत्व), भक्ति-उपदेश से भगवान् का महत्त्व, भक्ति का परमधर्मत्व एवं सर्वकामप्रदत्तत्व, भक्ति का अशुभ-नाशकत्व, सर्वान्तराय-निवारकत्व, भयनिवारकत्व, अशेष पापहारीत्व में--अप्रारब्धहारीत्व, पापवासना-हारीत्व, अविद्याहरत्व, समस्त प्रीणन में हेतुरूप, समस्त गुणों में हेतु रूप, सर्वानन्दहेतुत्व, निर्गुणत्व, स्वयं प्रकाशमानत्व, परम सुख-रूप, रतिप्रदत्व, भगवत्प्रीणनत्व, भगवदनुभव में हेतुरूप, भगवत्प्रापकत्व, भगवत्‌वशीकारित्व, परमगति-प्रापकत्व, भक्त्याभास में परम सामर्थत्व, इन सब का प्रतिपादन; पुनः अपराध का विचार, अपराध का कार्य, अधिकारि-विशेष में भक्ति का फल, अनन्या-भक्ति, अनन्या-भक्ति का सर्वशास्त्रसारत्व, अधिकारी का विचार, नित्य-नैमित्तिक कर्म का समाधान, साम्मुख्यत्रय का विचार, सत्संग ही साम्मुख्य-निदान, साधुकृपा, महत्कृपा एवं संग का हेतु, साधु कौन हैं, निर्णय, श्रेष्ठभक्त, मध्यम-

भक्त-कनिष्ठ भक्त का विचार, श्रेष्ठभक्त का लक्षण, उन का भेद, मिश्राभक्तिसाधक कनिष्ठ, अमिश्राभक्तिसाधक मध्यम, शुद्धभक्त-सर्वोत्तम, श्रीगुरुतत्व की आलोचना, निर्विशेष रूप साम्मुख्य, अहंग्रहोपासनारूप सविशेषमय-साम्मुख्य, आरोपसिद्धाभक्ति, संगसिद्धा-भक्ति, स्वरूपसिद्धा-भक्ति, वैधी-भक्ति, शरणापत्ति, गुरुसेवा, साधुसेवा, वैष्णवाराधना, श्रवण, कीर्त्तन, नामापराध, कीर्त्तन-विभाग, स्मरण, पादसेवन, अर्च्चन, श्रीभगवन्नाम एवं मन्त्र पर विचार, अर्चनविवृति, अर्चनपात्र, अर्चनांग, वन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन, रागानुगा-भक्ति, रागानुगाभक्ति में मानसावेश की प्राधान्यता, आवेश का सामर्थ्य, कामरूपा भक्ति का पापराहित्यत्व, भागवतमार्गप्रसंग में कहे हुए वैर एवं द्वेषभाव का निषेधत्व, रागानुगा का विषय, श्रीकृष्ण-भजन–माहात्म्य–भजन-सिद्धि का क्रम, इन समस्त बातों का स्थापन इस भक्तिसन्दर्भ में क्रमतया विस्तार रूप से मौजूद है ।।

अनुच्छेद क्रम से भक्तिसन्दर्भ का विश्लेषण:—

अन्वयमुख से भक्ति की महिमा—

(१) संक्षेप में सम्बन्ध, अभिधेय एवं प्रयोजन-तत्व का विचार; तथा पूर्वसंस्कारवन्त और इसी जन्म में महत्कृपावन्त दो प्रकार जीवों का निर्णय; (२) भक्ति का सुखात्मकरूपत्व; (३) भजनीय-स्वरूप एवं आत्मप्रसन्नता; (३-१७) भक्ति का परमधर्मत्व, ज्ञान-कर्मादि भक्ति का सचिव-मात्रत्व, भक्ति द्वारा ही भगवान् भजनीय, भागवत में (१।२।२७) गुरु-शिष्य-भाव से उपदेश व शिक्षा देने का भक्ति में ही तात्पर्य, श्रीशौनक के प्रति श्री सूतोपदेश का सार-मर्म भक्तिमात्र है इन सब का विचार; (१८–१९) कर्म-ज्ञान एवं वैराग्य में यत्न-परित्याग पूर्वक भक्ति का करणीय, तीन कारणों से मंगल-कामियों का ब्रह्मा एवं शिवजी दोनों विष्णु के समान उपास्य नहीं हैं; (२०)विष्णुपासनामें देवतान्तर की निन्दा नहीं करना चाहिये;(२१-२२)

रजःतम प्रकृति के लोग अन्य देवता का भजन करते हैं इस का विवेचन; (२३) प्रथम स्कन्ध में श्रीनारद-व्याससम्बाद का सार भक्ति ही है इस का निर्णय; (२४-३२) द्वितीय स्कन्ध में—श्रीशुक-परीक्षित् सम्बाद का सार ही भक्ति है, भक्तियोग का प्रादुर्भाव न होने तक कर्म करणीय, सद्यमुक्ति एवं क्रममुक्ति से प्रेम का श्रेष्ठत्व, भक्तियोग का सर्ववेदसिद्धत्व. अकाम-सर्वकाम तथा मोक्षकाम सब के भक्ति अभिधेयत्व, तीव्रा-भक्ति शुद्धा-भक्ति में परिणत होती है परन्तु यादृच्छक भक्ति से कामना की पूर्ति होती है इसका निर्णय, यज्ञादि में खादिर-यूप संयोग की भाँति भागवत जन संगसे प्रेम लाभ होता है इन सब का कथन; (३३) शौनकजी द्वारा व्यतिरेक-मुख से भक्ति अभिधेयत्व का दृढ़ी- करण, समस्त देवतोपासना से श्रेष्ठत्व-प्रवचन के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व; (३४) हरिगुणानुवाद से आयुः का सफलत्व; (३५-४०) हरिकथा-विमुख जन महापशु हैं उन के समस्त अंग निष्फल हैं इस का प्रतिपादन; (४१-४२) ब्रह्म-नारद-सम्बाद का सार विष्णु-भक्ति, श्रीनारायण ही समस्त वेदों के तात्पर्यरूप से एक मात्र उपास्य, परब्रह्म भगवान् की महिमा इन बातों का विवेचन; (४३-४५) विदुर-मैत्रेय सम्बाद से भी भक्तिमार्ग सुखरूप-मार्ग; (४६-४७) श्रीकपिल-देवहूति-सम्बाद से-परतत्वज्ञान के लिये भक्ति ही कल्याणमय-मार्ग है; (४८-४९) श्रीपृथुमहाराज के प्रति कुमारोपदेश में भी भक्ति का मुख्य अभिधेयत्व; (५०) श्रीरुद्रगीत से भी भक्ति का करणीयत्व तथा कर्मादि में आग्रह रख कर पूजा का विच्छेद करना कर्त्तव्य नहीं है इस का विवेचेन; (५१) श्रीनारदप्रचेता-सम्बाद में व्यतिरेकमुख से विष्णु-सेवा के विना समस्म इन्द्रियाँ विफल; (५२) श्रीहरिसेवा से ही समस्त देवता तृप्त होते हैं (५३) श्रीऋषभदेव के द्वारा स्वपुत्र-शिक्षण में प्रीति-भक्ति का कर्त्तव्य, ब्राह्मण-रहूगण सम्बाद में भी श्रीहरिसेवा से उत्थित ज्ञानाग्नि के द्वारा संसारनाश,

महत्सेवा से हरिभक्ति होती है इत्यादि विषय का स्थापन; (५४) श्रीचित्रकेतु के प्रति श्रीसंकर्षणदेव के उपदेश के अन्त में–पुरुष अवशेष में भक्त होता है इस का प्रतिपादन; (५४-५७) श्रीप्रल्हाद के द्वारा असुर-बालक शासन में—कौमारावस्था से ही प्रिय-सुहृद् श्रीहरि का भजन कर्त्तव्य है, (५८) श्रीनारद-युधिष्ठिर सम्बाद से भक्ति के द्वारा ही मनःसुप्रसन्न होता है, भक्ति ही समस्त पुरुषार्थ का हेतु है, भक्ति ही परा विद्या एवं परमाश्रय है इन सब का प्रतिपादन; (५९-६१) श्रीजायन्तेयोपाख्यान में, श्रीकविवाक्य में—ज्ञानादि अमिश्रण भक्ति को श्रवणादि से भजन करने पर साधक क्रम से अभय होता है एवं उस का मन अनायास से निरुद्ध हो जाता है इन बातों का प्रतिपादन; (६२) श्रीआविर्होत्रवाक्य से कर्मादि त्याग-पूर्वक भक्ति का कर्त्तव्य; (६३) वेद के द्वारा कर्म-मोक्ष के लिये ही कर्म-विधान का आदेश; (६४) श्रद्धा एवं विरक्ति के अनुदय तक वेदोक्त-कर्म अनासक्त भाव से ईश्वरार्पण करके करणीय है, शीघ्र ही देह में आत्मबुद्धित्यागेच्छु का वेदोक्त एवं तन्त्रोक्त-विधि से केशव की अर्चना करणीय है;

(६५) श्रीचमस-वाक्य से श्रीहरिभक्त श्रीहरि के द्वारा रक्षित होकर विघ्न को सोपान मान कर उन्नति के साथ हरिसेवा करता है, श्रीकरभाजनवाक्य से श्री हरि नानायुग में नाना-मार्ग से पूजित होते हैं इन बातों का स्थापन;(६६ से ७९)—श्रीभगवदुद्धव सम्बाद में-भक्त श्रीहरि की निर्माल्य आदि बस्तु का सेवन से एवं हरिलीला-स्मरण तथा कीर्त्तनादि द्वारा अनायास में माया को जीत कर श्रीहरि की प्राप्ति करता है, श्रीहरिलीला-रहित वेदवाक्य का भी अभ्यास न करें, भक्ति के द्वारा ही ज्ञान की सिद्धि होती है इस का प्रतिपादन; (८०) श्रवणादि भक्ति के द्वारा जिस परिमाण से चित्तशुद्धि होती है उस परिमाण से भगवान् के स्वरूप–लीला एवं माधुर्य का अनुभव

होता है इन बातों का निणय; (८४) प्रेमभक्तिमार्ग में—समस्त फलों के राजा स्वभक्तिफल में ज्ञान-वैराग्याभ्यास की आवश्यकता नहीं है, भक्ति के द्वारा ही ज्ञानादिलभ्य समस्त बस्तु अनायास में लाभ होती है जैसे—चित्रकेतु की स्वर्गवाञ्छा, शुकदेव की मोक्षवाञ्छा तथा पार्षदत्व इच्छुक भक्तगण की प्रेम-सेवा के द्वारा ही वैकुण्ठेच्छा की प्राप्ति है। (८५) इसी जन्म में नश्वर मनुष्य-देह के द्वारा श्रीहरि की प्राप्ति करना बुद्धिमत्ता की चतुराई का परिचायक है, जैसे कि श्रीहरिश्चन्द्रादि, (८६) श्रीशुकदेव के उपदेश में उपसंहार—श्रवणादि भक्ति का कर्त्तव्य, मरण-शील व्यक्ति का भगवद्ध्यान एवं कीर्त्तन कर्त्तव्य तथा नानाङ्गवान् शुद्धाभक्ति के वीच लीलाकथा-श्रवण परम श्रेयः साधक इन बातों का स्थापन; (८७-९१) श्रीसूतोपदेश के परि-शेष में—भगवत्कीर्त्तनादि में आदर-कर्त्तव्य, श्रीकृष्ण-स्मरण से सत्त्वशुद्धि, ज्ञान, वैराग्य एवं प्रेमभक्ति का लाभ तथा हरिभजन से तपः आदि सम्पत्ति का सार्थकत्व इनका विवेचन; (९२-९८) श्रीमद्-भागवत के समस्त इतिहास वचनों में भक्तिमात्र का तात्पर्य, अपने दूतों के प्रति यमराज के वचनों से वेदादि श्रवण-फल श्रीहरि-स्मृति का परम कर्त्तव्य, वेदार्पणमन्त्र भी श्रीजनार्दन-प्रीति उद्देश्य से है, श्रीव्रजदेवियों के प्रति श्रीउद्धवजी के वचनों से श्रीकृष्ण-भक्ति में ही वर्णाश्रमाचारविहित कर्मों का उद्देश्य, भगवान् के प्रति ब्रह्माजी के वाक्य में-ज्ञान ही भक्ति का अन्तर्गत, श्रीमद्भगवद्गीता के १० म अध्याय में शुद्ध-भक्ति का उपदेश, श्रीदामविप्र-वाक्य से-अन्यान्य पुरुषार्थसाधन भक्तिमूलक है, भक्ति ही समस्त सिद्धि का जीवन-स्वरूप है तथा उन सब सिद्धियों के विना हो भक्ति का साधकत्व इन बातों का प्रतिपादन है।

(४८)समस्त शास्त्र में भक्ति का अभिधेयत्व, अज्ञ लोग कर्मादिक के अंगरूप से विष्णूपासना करते हैं एवं देवतागण उपासकों को अपने

कामना-प्रदान के बाद भक्ति एवं परम फल रूप प्रेम-दान करते हैं इन बातों का निश्चय-करण, (९९) **व्यतिरेकमुख से**—कर्म अनादर के द्वारा भक्ति का विश्वसनीयत्व, नित्य-सुखरूपत्व, स्वल्पायासलब्ध वित्तादिद्वारा साध्य (प्राप्य)भक्ति का परम फलदातृत्व इन बातों का प्रतिपादन; (१००-१०१) भक्ति के विना अन्य कोई हरितोषण-कारण नहीं है, हरिपरायण श्वपच जन भक्तिहीन द्वादश-गुणों से युक्त विप्र से श्रेष्ठ है इस का प्रतिपादन, (१०२) भगवदर्पित कर्म का अनादर, गीता के द्वादश अध्याय में-भक्ति के असामर्थ्य से कर्मार्पण का विधान, (१०३) योग का अनादर, (१०४) ज्ञान का अनादर, भक्तिमार्ग में श्रम नहीं, उस में भगवद्वशीकाररूप अपूर्व फल विद्यमान है, (१०५) भक्ति के विना ज्ञान की सिद्धि नहीं है, (१०६) स्वतन्त्ररूप से दूसरे आश्रय का अनादर:—ब्रह्मा एवं शिवजी को वैष्णव-ज्ञान से भजन करना कर्त्तव्य है, विष्णु के साथ अन्य देवता का समान दर्शन से भक्तिलाभ नहीं है उस से प्रत्यवाय होता है, अभेद दृष्टि तो शान्त-भक्ति एवं ज्ञानादि परा है, वैष्णव-भावना से शिवादि का भजन कर्त्तव्य है, श्रीशिवजी का स्वतन्त्र भजन से भृगुशाप लगता है, अन्य देवताएं भगवान् की विभूति स्वरूप हैं, दूसरे की अवज्ञा व निन्दा दोषावह है, श्रीकपिलदेव ने जब साधारण प्राणिमात्र की अवज्ञा का निषेध किया है तो शिवादि के बारे में कहना ही क्या है। कनिष्ठ भागवत जन श्रीविग्रहादि में शिलाबुद्धि करने के कारण नरकभागी होते हैं। भूतदया के विना अर्चना की सिद्धि नहीं होती है। यथायोग्य यथा-शक्ति दान के द्वारा अभाव में-मान (सम्मान) देकर दया-करना कर्त्तव्य है। एकान्ती भक्त सर्वश्रेष्ठ है। प्रथम उपासक के लिये सर्वभूतों में आदर विधान है, सश्रद्धसाधक का वह स्वाभाविक धर्म है, जातरति भक्त की अहिंसा एवं उपरति निज स्वभाव है। परम सिद्ध का सर्वभूतों में प्रेम करना कर्त्तव्य है, भगवत्सम्बन्ध को लेकर अन्य-

देवता एवं भूतादर करना कर्त्तव्य है, केवल भूतादर नहीं करना चाहिये, जैसे कि भरतजी । अर्चनमार्ग में पत्र-पुष्प चयन रूप किञ्चिद् हिंसा का विधान है इन समस्त बातों का प्रतिपादन है;(१०७) पण्डितगण कृतज्ञ, सुहृद् तथा आत्मद श्रीहरि के भिन्न अन्य का शरण नहीं लेते हैं, (१०८) श्रीहरि में अभक्त का अनादर, (१०९) श्रीहरि के निष्किञ्चन भक्तों को देवतागण गुण के साथ आश्रय करते हैं,(११०) कर्मादिमार्गसिद्ध मुनियों का अनादर, भागवतधर्म में द्वादश प्रसिद्ध महाजनों का नामोद्देश्य;

(१११)भगवद्भक्ति का सर्वोद्ध्व अभिधेयत्व, श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति तो चार वर्ण एवं चार आश्रम का नित्य स्वधर्म रूप है, जीवन्मुक्त का भी श्रीहरि-अवज्ञा से अधः पात है इन सब बातों का प्रतिपादन है; (११२-११४) इस देह में एवं देहान्तर में भक्ति का नित्य सेवनीयत्व, षड्विध तात्पर्य निर्णय-चिन्हों से भक्ति का अभिधेयत्व,(११५-१२०) ब्रह्माजीने नारदजी को एवं नारदजीने वेदव्यास-जी को हरिभक्ति-संकल्प करके ही भागवत-लिखने को कहा है तथा भगवान् ने भी उत्तम हरिभक्ति-लाभ के लिये प्रेरणा दी । भागवद्धर्म ही परमहंस-गणों का एवं भगवान् का परम प्रिय है, उस के उपदेष्टा सर्वोत्कृष्ट हैं इन बातों का प्रतिपादन; (१२१) शुद्धा-भक्ति में लोगों को प्रवर्त्तित करने के लिये कर्मादि मिश्रण भक्ति का उपदेश है, भक्ति का परम-धर्मत्व, सर्वकामप्रदत्व, तथा समस्त अन्तराय का निवारकत्व, भक्तिमार्ग में ज्ञानमार्ग की भाँति असहायता-जनित भय तथा कर्ममार्गवत् मत्सरादि युक्त भय नहीं है, भक्त साधनमार्ग से भ्रष्ट नहीं होता है, जैसे कि वृत्र, गजेन्द्र तथा भरतादि, इन बातों का प्रतिपादन; (१२३-१२४) भक्ति का दुष्टजीवादि-कृत भय-निवारकत्व, (१२५) भक्ति का पापघ्नत्व-अप्रारब्धपाप का नष्टकारित्व, (१२६) केवला भक्ति ही सूर्य-नीहारवत् समस्त पापनाशकारी है, (१२७)

भक्ति ही सर्वोत्तम प्रायश्चित्त प्रदायक है जैसे कि इन्द्र के वृत्रासुर-बध का प्रायश्चित्त है। महदपराध भोग के द्वारा अथवा महत् सन्तोष के द्वारा नाश होता है, (१२८-१३१) भक्ति का प्रारब्ध-पाप-हारित्व तथा जात्यादि-दोष एवं व्याधि प्रभृति का नाशकारित्व, दुर्बासनाहारित्व, अविद्या-हारित्व एवं सर्व प्रीणन के हेतुरूपत्व इन बातों का प्रतिपादन; (१३२) भक्ति ज्ञान-वैराग्यादि समस्त सद्गुणों की हेतु रूपा है, स्वर्ग-अपवर्ग-भगवद्धामादि में भक्ति का सर्वानन्द-हेतुत्व है, भक्ति स्वयं परम सुखद के कारण अन्य-साधन एवं साध्य-बस्तु में हेयत्व उत्पादन कराती है इन सब का प्रतिपादन; (१३३-१३४) भक्ति ही निर्गुण है एवं अर्पित कर्मादि सगुण हैं (१३५) भक्ति सत्वगुण की अपेक्षा नहीं रखती है, महत्संग भी परम निर्गुण है, ब्रह्मज्ञान भगवत्कृपोत्थ है इन बातों का विचार; (१३६-१४०) भगवदाश्रय-कारक निर्गुण है, भगवत् सेवा में श्रद्धा निर्गुण है, भगवत्धर्म भी निर्गुण है, भक्ति स्वयं प्रकाश एवं परम सुखरूप है जो साधक एवं सिद्धदशा में भगवद्विषयक रतिप्रद है इन बातों का प्रतिपादन; (१४१-१४४) भक्तियोग में शैथिल्य रहने पर भगवान् भक्ति नहीं देते हैं वे तो मुक्ति को प्रदान करते हैं, क्यों कि केवला भक्ति से ही भगवान् प्रसन्न होते हैं, भक्ति तो भगवान् की ह्लादिनी शक्ति की बृत्ति स्वरूपा है अतः प्रीतिस्वरूप भगवान् भक्ति के द्वारा ही प्रीणनीय हैं, आत्माराम पूर्णकाम भगवान् क्षुद्रबस्तु से प्रसन्न नहीं होते हैं, भगवत् प्रीति-प्रार्थना करके सहजरूप में जो सेवा करते हैं उन को भगवान् कल्पतरु की भाँति निज प्रीति प्रदान करते हैं, कृपा-प्राबल्य के कारण वे निज भक्ति-शक्ति को जीव में प्रकाश कर बन्धु स्वरूप बन जाते हैं इन बातों का प्रतिपादन है; (१४५-१५०) भगवदनुभव में भक्ति का अनन्यहेतुत्व-भगवत्प्रापकत्व तथा मन के अगोचर फलदातृत्व है, भगवद्वशी-कारित्व साक्षात् भक्ति का परम धर्म रूप है, भगवदर्पित अलौकिक

कर्म का परमधर्मत्व है, हरिभक्त के विना अन्य के ऊपर यमराज का शासन है, सकृद् भजन-द्वारा आयु: सफल होती, भक्ति ही समस्त कर्मध्वंस पूर्वक अल्प आयास में परमा-गति को प्राप्त कराती है, "मैं शरणागत हूँ" इतने ही कहने पर भगवान् जीव को अभय प्रदान करते हैं इन बातों का प्रतिपादन; (१५१) कोई गर्भस्थजीव भगवान् की स्तुति करता है, कोई नहीं करता है परन्तु भगवद्भक्त सर्वावस्थामें भवित करने में समर्थ है जो कि अतीत एवं भविष्यत् के सो कुल का उद्धार करता है इस का प्रतिपादन; (१५२)भक्त्याभास से भी समस्त पापक्षय पूर्वक श्रीविष्णु-पद की प्राप्ति है जैसे कि—दण्डहस्त में नृत्यकारी उन्मत्त का ध्वजारोपणफल, व्याध के द्वारा निहत कुत्ते के मुख से नीत पक्षि का मन्दिर-परिक्रमाफल, पूर्वजन्म में प्रल्हादजी का अज्ञान वश नृसिंह-चतुर्दशी ब्रत का फल इत्यादि शास्त्रीय प्रमाणों का उत्थापन;अपराधरूप से दृश्यमान भक्त्याभास का महाप्रभाव,(१५४) भक्तगण अज्ञजन पर कृपा करते हैं, परन्तु कुटिल-विज्ञ के प्रति नहीं,(१५५) भवित-महिमा देख सुन कर भी विपरीत-भाबना के द्वारा विश्वास का अभाव जैसे कि दुर्योधन का विश्व-रूप दर्शनादि में, शुद्धभक्त की भगवन्महिमा-प्रकाश इच्छा से ही विपदाँसे रक्षा-रूप आनुषङ्गिक फल का कथन, अपनी-रक्षा व महिमा-प्रकाश के लिये नहीं। यथा-प्रल्हादजी, शौनकजी एवं परीक्षित् महाराज हैं, (१५६) महानुभाव-लक्षण वाला आधुनिक भक्त में भी महिमा देखकर अविश्वास नहीं करना चाहिये, (१५७) भगवन्निष्ठाव्यावर्त्तक बस्त्वन्तर में अभिनेवेश प्रत्यवाय रूप है, भरतमहराज का प्राचीन अपराधात्मक आरब्धकर्म ही कारण रूप है, (१५८) कोई कोई तादृश भक्त में साधारण प्रारब्धके प्राबल्य को स्वयं भगवान् ही भक्त की उत्कंठा-बृद्धि के लिये प्रदान करते हैं ऐसा कतते हैं। (१५९)

अपराध हेतु से इस प्रकार अभिनिवेश गजेन्द्रादि में दीखने में आता है इन सब बातों का स्थापन; (१६०-१६२) श्रीभरत एवं अजामिल के हृदय में सर्वदा भगवदाविर्भाव मौजूद था अतएव मृत्यु के समय सकृत् भजन के द्वारा भगवत्प्राप्ति हुई। अन्त में श्रीहरि-स्मृति ही परम लाभ है, अतिशय भगवत्कृपा से ही मरने के समय दैन्योदय होना है इन बातों का विचार;

(१६३) अधिकारी-विशेष में भगवत्कृपा का फलोदय है, जातरुचि जन में अन्य स्पृहा का त्याग यथा-उद्धवजी में क्रोध-लोभ-मात्सर्यादि का अभाव; (१६४) जातप्रेम जन में क्षुधा-तृष्णादि के द्वारा अबाधत्व यथा-परीक्षित् महाराज का; (१६५) अनन्या भक्ति ही अभिधेय-वस्तु है, अन्य उपासना-रहित श्रीकृष्णभजन अनन्यत्व है, भक्ति महादुर्लभ तथा सुदुर्बोध है,अन्य कामना से भक्ति का अभिधेयत्व नहीं रहता है, अतः अन्यवस्तु की कामना न करें, भगवद्भक्तिमात्र-कामना के द्वारा अकिञ्चनत्व एवं अकामत्व सिद्ध होता है; (१६६) भक्ति में राजा एवं सेवक की भाँति प्रभु एवं सेवक की कामना नहीं रहती; (१६७) भगवत्सुख एवं सम्मान से तदेक-जीवन भक्त का सुख एवं मान है; (१६८) सकामभक्ति स्वार्थसाधनमात्र में तात्पर्य के द्वारा भक्ति-अनुकरणमात्र है, ऐहिक एवं पारलौकिक भेद से सकाम द्विविध है, प्रल्हादजी का मुख्य-ऐकान्तित्व एवं मुमुक्षु-पुरुषों का गौण-ऐकान्तित्व है, ऐकान्तिकभक्त अम्बरीष महाराज का यज्ञविधान लोकसंग्रह के लिये है, भक्ति के द्वारा जीविका-प्रतिष्ठादि का उपार्जन न करना ऐहिक निष्कामत्व है; (१६९) नवधा निष्काम-भक्ति समस्त शास्त्रों का सार है, भक्ति का एक अंग साधन के द्वारा साध्य-वस्तुकी प्राप्ति होती है तो भी कहीं कहीं अन्याङ्ग नवधाभक्ति में रुचिके अनुसार श्रद्धा देखी जाती हैं; (१७०) अकिञ्चना-भक्ति-अधिकारी का निर्णय; परतत्व-साम्मुख्यवारे में विचार, परतत्व-साम्मुख्य तीन प्रकार है,

ज्ञान, भक्ति एवं कर्मार्पण से। निर्विशेष परतत्त्वसान्मुख्य ज्ञान है, सविशेष-परतत्त्व सान्मुख्य भक्ति है तथा दोनों के द्वारस्वरूप सान्मुख्य कर्मार्पण है; (१७१) निर्व्विण्ण व्यक्तियों का ज्ञान में, कामियों का कर्म में एवं श्रद्धालुजनों का भक्ति में अधिकार है; (१७२) किसी परम स्वतन्त्र भगवद्भक्त-कृपा के द्वारा उत्पन्न श्रद्धा भक्ति-अधिकार में हेतु है। "यह श्रद्धा ही केवल मात्र परम मंगलकर" इस प्रकार विश्वास का नाम श्रद्धा है। श्रद्धा के विना अनन्या भक्ति प्रवर्त्तित नहीं होती है। यदि कदाचित् किञ्चित् प्रवृत्ता होती है तो वह नष्ट हो जाती है। अतएव निर्व्विण्ण-नातिसक्त होने के बाद भी भगवत्कथादि में श्रद्धा होने पर कर्म-परित्याग का विधान किया गया है। श्रद्धा एवं भक्ति शब्द का अर्थ आदर है। श्रद्धा भक्ति का अंग नहीं है वह अनन्या भक्ति-अधिकारी का विशेषण-मात्र है। लब्ध-भक्ति जनों के पाप में स्वाभाविक अरुचि रहती है, भक्ति—बल से पाप में प्रवृत्ति अपराध—जनक है; (१७३-१७४) जातनिर्वेद व जातश्रद्ध के नैमित्तिक कर्म किये जाने पर आज्ञा-भंग दोष होता है। भक्त्यारम्भ में स्वरूपतः कर्मत्याग कर्त्तव्य है, व्यावहारिक कार्पण्यादि में भाव स्थिति श्रद्धा का चिह्न है, श्रद्धावान् जन के भगवद्सम्बन्धि किसी बस्तु में अविश्वास व अप्रवृत्ति नहीं है। श्रद्धा के उत्पन्न होने पर सिद्ध-असिद्ध दोनों अवस्था में सर्बदा भक्ति की अनुवृत्ति चेष्टा रहती है। सिद्धावस्था में निरन्तर हरि-विस्फूर्त्ति मौजूद के कारण दम्भ-प्रतिष्ठादि नहीं रहती जिस से महदवज्ञारूप अपराध का अभाव रहता है, इन बातों का प्रतिपादन है; (१७५) रुच्यादि से लेकर श्रीगुर्वाश्रयान्त तक उपासना का पूर्वांगरूप साम्मुख्यभेद, अफल-कामी वर्णाश्रमधर्मवाले ज्ञानी के संग ज्ञानी अथवा भक्त के संग में भक्त होते हैं; (१७६) ज्ञान एवं भक्ति का साक्षात् सान्मुख्य, ज्ञान निर्विशेष-सान्मुख्य एवं भक्ति सविशेष सान्मुख्य है। भक्ति-सान्मुख्य द्विविध है—भगवन्निष्ठ एवं

परमात्म-निष्ट। सविशेष उपासनारूप भक्ति में विष्णूपासना, परमात्मोपासना अन्याकारेश्वरोपासना, अहंग्रहोपासनादि का विचार; (१७७) भगवद्माधुर्यानुभव से भक्त का विधि-निषेधकृत गुण-दोष नहीं है; (१७८) अंश-भूत जीव भगवदाश्रयक है, भगवान् ही उस का एक मात्र जीवन है, अतएव अकिञ्चना भक्ति उस का स्वभावोचित है, प्रणव ही वैष्णवों का महावाक्य है; (१७९) सत्संग से ही अकिञ्चना साक्षात्भक्तिरूप सान्मुख्य है; (१८०) भगवदनुग्रह से संसारबन्धन का शेष-समय उपस्थित होने पर जीव को सत्संग प्राप्त होता है, सत्संगप्राप्तमात्र से उस की भगवान् में मति होती है, जैसे कि पिंगला। यदि साक्षात् रूप से सत्संग की उपलब्धि नहीं देखने में आती है तो आधुनिक अथवा प्राक्तन सत्संग का व पारम्पारिक सत्संग का अनुमान करना होगा। निरपराधजन को सत्संग मात्र से ही भगवत्सान्मुख्य एवं अपराधी के प्रति महत् के विशेष कृपादृष्टि होने पर है। जैसे कि—नारदजी के संग से नल-कुवेर का। अन्य देवता का संसर्ग से नहीं। अपराध के रहने पर भी जिस के प्रति महज्जन स्वतन्त्ररूप से कृपा करते हैं उस को भगवान् में मती होती है। जैसे कि उपरिचर वसु की विशेष कृपा से तद्विद्वेषी दैत्यगण भक्त हुए तथा प्रल्हादजी की विशेष कृपा से दैत्यबालकों का मोक्ष हुआ। अज्ञानमय अनादिसिद्ध तद्वैमुख्यवान् जीव का सत्संग के भिन्न अन्य किसी प्रकार से भगवत्सान्मुख्य का असम्भव है अतएव सत्संग ही भक्ति का निदान यह सिद्ध हुआ है। भगवद्विमुख जीव में स्वतन्त्र रूप से भक्ति प्रवर्त्तित न होने के कारण भगवत्सान्मुख्य में भगवद्कृपा भी गौण-कारण मानी जाती है। अतएव सत्संगवाहना व सत्कृपावाहना द्वार से भगवत्कृपा अन्य जीव में संक्रामित होती है स्वतन्त्ररूप से नहीं, इन बातों का विचार; (१८१) महत् का स्वैरचारिता सत्संग का हेतु हैं; (१८२) महज्जन में परमेश्वर

का प्रयोक्तित्व महज्जन की इच्छा से होती है। (१८३) उपासनादि की अपेक्षा न करके ही केवल दुरावस्था-दर्शन कर साधु की कृपा होती है, जैसे कि श्रीनारद जी की कृपा नल-कुबेर के प्रति हुई। (१८४) सत्संगम ही परम संस्कार का हेतु रूप है, (१८४) महत्सेवा के विना भगवत्प्राप्ति नहीं होती है, इन बातों का प्रतिपादन; "सन्त" का अर्थ भगवद्सान्मुख्यपरक है वैदिकाचार परक मात्र नहीं है, जिस प्रकार सत्संग उस प्रकार सान्मुख्यलाभ है। ज्ञानमार्ग में ब्रह्मानुभवी महत् है तथा भक्तिमार्ग में लब्ध-भगवत्प्रेम महत् है। (१८७) भक्ति-सिद्ध त्रिविध है—(१) प्राप्तभगवत्पार्षददेह यथा श्रीनारदजी, (२) निर्धूत-कषाय यथा-श्रीशुकदेव, (३) मूर्च्छित-कषाय यथा-प्राग्जन्म-गत श्रीनारदादि, इन बातों का स्थापन; (१८८-२००) भक्त की श्रेष्ठता का क्रम कायिक-वाचिक एवं मानसिक-लिंग द्वारा जाना जाता है। मानस-लिंग-विशेष द्वारा उत्तम-भागवत का लक्षण—सर्वभूत में प्रेम तथा मध्यम भागवत का लक्षण प्रेम-मैत्री-कृपा एवं अपेक्षा। भक्तिविषय में अज्ञ उदासीन के प्रति कृपा, अपने प्रति द्वेषकारी के द्वेष करने पर भी अक्षुभितचित्त के हेतु औदा-सीन्य, जैसे कि प्रल्हादजी का हिरण्यकशिपु पर, भगवान् व भक्त के द्वेषकारी के प्रति चित्तक्षोभ होते हुए भी उस में अनभिनिवेश, भगवद्द्वेषी जन में निजाभीष्टदेव की परिस्फूर्त्ति रहने के कारण उत्तम-भक्त का उस के प्रति नमस्कारादि आचरण। किञ्चिन्मानस-लिंग के साथ भगवद्धर्माचरण रूप लिंग के द्वारा कनिष्ठ भागवत दो प्रकार हैं। (१) पारस्परिक श्रद्धा युत प्रारब्धभक्ति साधक गौण है (२) अजात प्रेम शास्त्रीय श्रद्धायुत साधक मुख्यकनिष्ठ है। उत्तम-भागवत का लक्षण-मूर्च्छितकषाय, निर्धूतकषाय है। प्रेमी का निर्णय, अर्चनमार्ग में तापादि पंचसंस्कारी नबेज्याकर्मकारक एवं अर्थपञ्चकविद् विप्र महाभागवत है। ईश्वर-बुद्धि के द्वारा विधिमार्ग के भक्त दो

प्रकार हैं अवरमिश्र भक्तिसाधक तथा मध्यममिश्र साक्षात् भक्ति-साधक, इन बातों का प्रतिपादन; (२०१) सदाचारी उन भक्त में सत्-सत्तर-सत्तम; अर्चनमार्ग में त्रिविध भक्त है महत्–मध्यम एवं कनिष्ठ; शुद्ध दास्य-सख्यादिभाव मात्र के द्वारा सर्वोत्तम अनन्य भक्त द्विविध है ऐश्वर्यनिष्ठ तथा माधुर्यनिष्ठ। (२०२) महत् एवं सत् करके निर्दिष्ट वैष्णव–साधु से भिन्न अपनी-अपनी गोष्टी में अपेक्षाकृत उत्तम वैष्णव है। स्कन्दपुराण में कर्मि के बीच में वैष्णव हैं ऐसा कथन है। शैवों में भी भागवतोत्तम है एसा बृहन्नारदीय में भी कहा गया है। वैष्णवों में बहु भेद रहने पर भी उन के प्रभाव-कृपा एवं भक्तिवासना भेद तारतम्य के द्वारा सत्संग से शीघ्र ही स्वरूप वैशिष्ट्य हेतु करके भक्ति का उदय; अजात-रुचि वाले भक्त के पक्ष में विचार-प्रधान मार्ग व साधन-क्रम है एवं प्रीति लक्षण वाले भक्तीच्छु के पक्ष में रुचि-प्रधान मार्ग श्रेय: है, इन बातों का प्रतिपादन; (२०२-२१६) गुरुकरण का विचार, दोनों मार्ग में ही प्राक्तन श्रवणगुरु उस-उस भजनविधि के शिक्षागुरु करके माने जाते हैं। शास्त्र में बहु मन्त्रगुरु का निषेध के कारण मन्त्रगुरु एक ही होता है, उन की कृपा से भगवदाविर्भाव-विशेष एवं भजनविशेष में रुचि होती है। वेदज्ञ, अपरोक्ष भगवदनुभवी, क्रोधादि से अवशीभूत श्रवणगुरु का आश्रय करना चाहिये। प्रायत: श्रवणगुरु एवं भजन-शिक्षागुरु एक प्रकार होते हैं, परन्तु मन्त्रगुरु एक व्यक्ति होता है। श्रवणगुरु के सत्संग से शास्त्रीय भजनोत्पत्ति होती है अन्य प्रकार से नहीं। शिक्षागुरु आवश्यक है, मन्त्रगुरु भी परम आवश्यक है, व्यवहारिक गुरु परित्याग के द्वारा परमार्थगुरु करणीय है, अपने गुरु में कर्मियों के द्वारा भी भगवद्दृष्टि होनी चाहिये। सुतरां परमार्थी के द्वारा गुरु में भगवद्दृष्टि अवश्य करणीय है। प्राकृतदृष्टि से भगवत्तत्त्व का ग्रहण नहीं होता है। एक प्रकार के शुद्धभक्त भगवान् के साथ गुरु की तत्प्रियतमत्व

के कारण अभेददृष्टि करते हैं जैसे कि प्रचेतागण की निजगुरु शिव में थी। साक्षात् उपासना का लक्षण भेद, सान्मुख्य द्विविध है निर्विशेषमय एवं सविशेषमय, सविशेषमय पुनः दो प्रकार है, अहंग्रहोपासनारूप एवं भक्तिरूप। अभेद उपासना ज्ञान है, महत् कृपा-विशेष से दिव्य दृष्टि लाभ होने पर अभेदोपासक की चिन्मात्र वस्तु में भगवत्तादि रूप विशेषोपलब्धि होती है नहीं तो निर्विशेष चिन्मात्र ब्रह्मानुभव में वे लीन हो ताते हैं। "तच्छक्तिविशिष्ट ईश्वर मैं हूँ" इस प्रकार चिन्तन अहंग्रहोपासना है। जिस का फल अपने में तच्छक्त्यादि का आविर्भाव है तथा अन्तिम फल सारूप्य-सार्ष्ट्यादि। भक्ति का अर्थ सेवा है, जिस की कायिक-वाचिक एवं मानसात्मिका तीन प्रकार अनुगति है। अतएव भक्ति में भय-द्वेष एवं अहंग्रहोपासना का निराकरण है, इन सब बातों का निर्णय है; (२१७-२२४) आरोपसिद्धा, संगसिद्धा एवं स्वरूपसिद्धा भेद से भक्ति तीन प्रकार है, पुनः वह त्रिविधा भक्ति अकैतवा एवं सकैतवा भेद से द्विविध है। अपने में भक्तित्वाभाव में भी भगवदर्पणादि के द्वारा भक्तित्वप्राप्ता आरोपसिद्धा है यथा कर्मादि। किसी भी प्रकार से तद्धर्मसिद्धि के लिये काय-मनो-वाक्य के द्वारा किये हुए लौकिक कर्म का भगवान् में अर्पण लौकिककर्मार्पण है। दुष्कर्म को दो प्रकार गति है—ज्ञानेच्छु की अविशेष के द्वारा एवं भक्तीच्छु की दुष्कर्म-अर्पण के द्वारा, कामियों का सर्व प्रकार से सवदुष्कर्मार्पण होता है। किसी भी प्रकार विना क्लेश से भगवान्में कर्मार्पण होने पर कामना-प्राप्त्यन्तर संसार नाश होता है। जैसे कि—नाभिने ऋषभ-भगवान् को पुत्ररूप से प्राप्त किया। भगवान् में कर्मार्पण त्रिताप की चिकित्सा रूप है। संसार-बन्धन हेतु रूप कर्म ही भगवान् में अर्पण होने पर रोगमें औषधि की भाँति संसारबन्धन नाश होता है। भगवदाश्रय वास्तविक कर्मफल है। जैसे कि भरत जी भगवान् वासुदेव में सर्वकर्म अर्पण फल से

समस्त कामना-शून्य हुए। वह कर्मार्पण पुन दो प्रकार है, भगवत्प्रीणनरूप एवं उन में उस का त्यागरूप। कर्मकारण तीन प्रकार है—कामना-नैष्कर्म्य एवं भक्तिमात्र से। उन में से अङ्ग-राज की कामना-प्राप्ति, निमि की नैष्कर्म्यप्राप्ति एवं भरत की भक्ति-प्राप्ति है।

(२२५-२३०)संगसिद्धा मिश्रा-भक्तिः-अपने में भक्ति का अभाव रहने पर भी भक्ति के परिकर रूप में संस्थापित के द्वारा तदन्तः पाती होकर ज्ञान-कर्मादि का भक्तित्व होता है। वह कर्ममिश्रा तीन प्रकार है, सकामा, कैवल्यकामा एवं भक्तिमात्र-कामा है। सकामा प्राय करके कर्ममिश्रा होती है। धर्मः—भगवदर्पण के द्वारा भक्ति-परिकरत्व प्राप्त कर्म को धर्म कहते हैं। मिश्रा सकामा कर्दमऋषि की मानी गई है। कैवल्यकामा कभी कर्म-ज्ञान-मिश्रा होती है कभी वा ज्ञानमिश्रा है। (२२८) भक्ति मात्र कामा कर्ममिश्रा (२२९) कर्मज्ञानमिश्रा (२३०) ज्ञानमिश्रा-(२३१-२३३)स्वरूपसिद्धा-अज्ञानादि के द्वारा भी भक्ति के प्रादुर्भूत होने पर साक्षात् तदनुगतिरूप भक्तित्व-अव्यभिचारिणी तदीय श्रवण-कीर्त्तनादिरूपा; केवल स्वरूपसिद्धा उपासक के संकल्प के हेतु करके उन-उन गुणों से उपचारित है। सकामा तामसी, सकामा राजसी, कैवल्यकामा सात्त्विकी, इन सब बातों का निर्णय है; (२३४-२३५)

वैधी एवं रागानुगाः—अकिञ्चना भक्तिमात्रकामा, निष्कामा, निर्गुणा वा केवला स्वरूपसिद्धा-श्रवणादि मार्गभेद से, दास्यादि भाव भेद से एवं सत्त्वादि गुण भेद के द्वारा भक्तियोग विभाजित होता है। वैधीः—शास्त्रोक्त-विधि के द्वारा प्रवर्तिता है जो कि प्रवृत्ति एवं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य ज्ञान को हेतु करके होती है। वह अर्चन-व्रतादि गत है।(२३६-२४६)वैधीभक्तिभेद परक शरणापत्ति अनन्य-गतित्व को लेकर है। वह आश्रयान्तर अभाव कथन के द्वारा, नातिप्रज्ञा द्वारा,

समस्त कामना-शून्य हुए। वह कर्मार्पण पुन दो प्रकार है, भगवत्प्रीणनरूप एवं उन में उस का त्यागरूप। कर्मकारण तीन प्रकार है—कामना-नैष्कर्म्य एवं भक्तिमात्र से। उन में से अङ्ग-राज की कामना-प्राप्ति, निमि की नैष्कर्म्यप्राप्ति एवं भरत की भक्ति-प्राप्ति है।

(२२५-२३०)संगसिद्धा मिश्रा-भक्तिः-अपने में भक्ति का अभाव रहने पर भी भक्ति के परिकर रूप में संस्थापित के द्वारा तदन्तः पाती होकर ज्ञान-कर्मादि का भक्तित्व होता है। वह कर्ममिश्रा तीन प्रकार है, सकामा, कैवल्यकामा एवं भक्तिमात्र-कामा है। सकामा प्राय करके कर्ममिश्रा होती है। धर्मः—भगवदर्पण के द्वारा भक्ति-परिकरत्व प्राप्त कर्म को धर्म कहते हैं। मिश्रा सकामा कदमऋषि की मानी गई है। कैवल्यकामा कभी कर्म-ज्ञान-मिश्रा होती है कभी वा ज्ञानमिश्रा है। (२२८) भक्ति मात्र कामा कर्ममिश्रा (२२९) कर्मज्ञानमिश्रा (२३०) ज्ञानमिश्रा–(२३१-२३३)स्वरूपसिद्धा–अज्ञानादि के द्वारा भी भक्ति के प्रादुर्भूत होने पर साक्षात् तदनुगतिरूप भक्तित्व-अव्यभिचारिणी तदीय श्रवण-कीर्त्तनादिरूपा; केवल स्वरूपसिद्धा उपासक के संकल्प के हेतु करके उन-उन गुणों से उपचारित है। सकामा तामसी, सकामा राजसी, कैवल्यकामा सात्त्विकी, इन सब बातों का निर्णय है; (२३४-२३५)

वैधी एवं रागानुगाः—अकिञ्चना भक्तिमात्रकामा, निष्कामा, निर्गुणा वा केवला स्वरूपसिद्धा–श्रवणादि मार्गभेद से, दास्यादि भाव भेद से एवं सत्त्वादि गुण भेद के द्वारा भक्तियोग विभाजित होता है। वैधीः—शास्त्रोक्त-विधि के द्वारा प्रवर्तिता है जो कि प्रवृत्ति एवं कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य ज्ञान को हेतु करके होती है। वह अर्चन- व्रतादि गत है।(२३६-२४६)वैधीभक्तिभेद परक शरणापत्ति अनन्य-गतित्व को लेकर है। वह आश्रयान्तर अभाव कथन के द्वारा, नातिप्रज्ञा द्वारा,

में से "गोप्तृत्वे वरण" ही अङ्गी है अन्य समस्त अङ्ग है। सर्वाङ्ग-सम्पन्न-शरणापत्तिवाले भक्त का शीघ्र ही सम्पूर्ण फलोदय होता है। शरणागति जन का नित्य-प्रति विशेष-रूप से गुरुसेवा-का कर्त्तव्य है। अनर्थ-निवृत्ति एव भगवत् सिद्धि के विषय में गुरुप्रसन्नता ही मूल-कारण है, गुरुभक्ति से समस्त अनर्थ नाश हो जाते हैं, गुरुभक्ति अन्य भगवद्भजन की अपेक्षा नहीं करती है, ज्ञानप्रद-गुरु से अधिक सेव्य अन्य कोई नहीं है, गुरुभक्ति से अधिक धर्म अन्य कोई नहीं। श्रीगुरु की आज्ञा से उन की सेवा के अविरोध से अन्य वैष्णवों की सेवा मंगलप्रद है, नहीं तो दोष है। भगवदनुभवी गुरु मत्सरादि-रहित होते हैं, अतएव वे महाभागवतजन के सत्कारादि करने में शिष्य को अनुमति देते हैं। महत्सेवा-विरोधी गुरु को दूर में रह कर आराधना करें। वैष्णवविद्वेषी गुरु का परित्याग उचित है, यथोक्त लक्षणवाले गुरु के अविद्यमान में गुरुवत् समवासना वाले अपने प्रति कृपालु किसी एक महाभागवत की सेवा मंगलकारी है। भागवत-चिह्नधारी मात्र का यथा योग्य सेवा-विधान कर्त्तव्य है। महाभागवतसेवा दो प्रकार है—प्रसंगरूपा एवं परिचर्यारूपा है। सत्प्रसंग के द्वारा सद्-भक्ति रूप अन्तरंग-भक्तिनिष्ठा प्राप्त होती है, परन्त योगादिक नहीं। भगवद्वशीकरण दो प्रकार है-व्रजगोपी आदि जनों में मुख्य है जिस का फल प्रेम-प्राप्ति है। बाणादि में गौण है जिस का फल फलोन्मुखी-कारक है। परिचर्यारूपा:—महाभागवत की सेवा-परिचर्या से प्रेमा भक्ति होती, जिस में प्रसगमात्र से भी प्रेमोत्सव-रूप विशेष फल प्राप्त है इन बातों का निर्णय है।

(२४७) वैष्णवमात्र का यथायोग्य आराधन कर्त्तव्य है, जिस से विष्णु की प्रसन्नता होती है। "अवैष्णव विप्र का श्वपच की भाँति दर्शन न करें" यह वचन आसक्ति पूर्वक निषेध परक है। भक्ति-वैशिष्ट्य के हेतु आराधना का वैशिष्ट्य देखने में आता है। आठ प्रकार भक्ति से युक्त म्लेच्छ भी विप्रश्रेष्ठ, मुनिश्रेष्ठ, ज्ञानी एवं पण्डित करके माना

जाता है। भगवान् एवं उद्धवजी की भाँति वैष्णव के लिये ब्राह्मण-मात्र की वन्दना अवश्य करणीय है नहीं तो भगवद् आदेश का लंघन होता है। वैष्णवपूजक वैष्णवों के सदाचारादि में विचार न करें। भगवद्भक्त जनों के दुर्जातित्व एवं दुराचारित्व में ध्यान न देवें। सुतरां अपने को अपमानित करने वालों को अपमान न करें। श्रवणादि के पहले यह महत्सेवा है जिससे अग्निसेवनकी भाँति कर्मादि-जाड्य,तथा आने बाला संसार मूलक अज्ञान का नाश होता है; (२४८) श्रवण:- नाम-रूप-गुण-लीलामय शब्द का श्रोत्रस्पर्श है। नामश्रवण का विचार,(२४९)रूप-श्रवण;(२५०)अन्वयमुख से गुरुश्रवण है,भगवान् की भाँति महाभागवतों का गुण-श्रवण कर्त्तव्य है। (२५१-२५२) व्यतिरेक-मुख से—(२५३) लीलावर्णन के हेतु श्रीमद्भागवत का आविर्भाव, (२५४-२५५) लीला दो प्रकार की है, सृष्टयादि—रूपा तथा लीलावतारविनोद रूपा। इन बातों का विचार है॥(२५६-२६२) साधना-क्रम:— पहले अन्त:करण शुद्धि के लिये नामश्रवण, उस के बाद रूपश्रवण, तत्पश्चात् गुणस्फुरण एवं परिकरस्फुरण, बाद में लीलास्फुरण है। कीर्त्तन एवं स्मरण का एसा ही क्रम है। महन्मुखरित होने पर श्रवण महान् माहात्म्यजनक होता है। जो जातरुचि-भक्तों के परम सुखद है। महन्मुखरित दो प्रकार है-महदाविर्भावित एवं महत्कीर्त्यमान। श्रीमद्भागवत, श्रीकृष्णकर्णामृतादि महदाविर्भावित एवं श्रीपृथुवाक्य-श्रीनारदवाक्यादि महत कीर्त्यमान है। तादृश प्रभावमय शब्दात्मक के कारण एवं परम रसमय के कारण श्रीमद्भागवत-श्रवण परमश्रेष्ठ है। समान-वासना वाले महानुभावों के मुख से निजाभीष्ट नामादि का श्रवण बार बार कर्त्तव्य है। पूर्ण भगवान् के कारण कृष्ण-नामादि का श्रवण महान भाग्य से होता है। श्रीशुकदेवादि महतजनोंसे कीर्त्तित नामादि कीर्त्तनीय है। विना श्रवण के कीर्त्तनादि का ज्ञान नहीं होता है अतएव सब से पहले श्रवण का विधान है। महत्कृत कीर्त्तन का श्रवण-भाग्य न होने पर स्वयं पृथक् कीर्त्तन करें। वक्ता के रहने पर उस से सुनें एवं श्रोता के रहने पर सुनावें एवं अन्य समय स्वयं गान करें।

कीर्त्तन:—नामकीर्त्तन समस्त पापों का प्रायश्चित्तरूप है। स्वाभाविक भगवदावेश-वश तथा तदीय स्वरूपभूत के हेतु परम भागवत के नाम का एकदेश श्रवण प्रीतिकर है। नामोच्चारण से शीघ्र ही भगवान् में मति होती है॥

(२६३) अपने अभिरुचित प्रिय नाम-कीर्त्तन के द्वारा अनुराग उत्पन्न होता है जिस से चित्त-द्रव एवं भाव-वैचित्री उदय होती है। (२६४) नाम कीर्त्तन ही पापक्षय के बाद भगवदैश्वर्य-सौन्दर्यादि का अनुभव कराता है। (२६५) नाम—कीर्त्तन से सिद्ध-साधक सब का परम श्रेय: होना है। उच्च-स्वर से नामकीर्त्तन प्रशस्त है। परन्तु साधु-निन्दादि दश प्रकार नामापराध से रहित होकर नाम लेना चाहिये। नहीं तो महान प्रत्यवाय है। (२६६) रूप-कीर्त्तन, गुण-कीर्त्तन-लीलाकीर्त्तन के बारे में विचार। बाद में स्मरण, पादसेवन, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य तथा आत्मनिवेदन रूप वैधीभक्ति का विशेष रूप से कथन तथा रागानुगा भक्ति का विचार। राग को लेकर रागानुगा-भक्ति चलती है। विषयी लोग की अतिशय विषयासक्ति की भाँति भक्त के भगवत्रूपादि में स्वाभाविक अतिशय संसर्गेच्छामय प्रेम राग कहा जाता है। शान्त-दास्यादि भेद से राग बहु प्रकार है। दास्यादि-राग करके श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण-पादसेवन-बन्दन तथा आत्मनिवेदन प्राया भक्ति रागात्मिका है। नित्य-परिकर ब्रजवासियों की स्वभावत: श्रीकृष्ण में जो भक्ति है वह रागात्मिका है। उस रागात्मिका भक्ति की अनूगा होकर साधक-शरीर में जो भक्ति है वह रागानुगा है। विधि-सापेक्ष के कारण वैधी भक्ति दुर्बला तथा स्वतन्त्र प्रवर्त्तित के कारण रागानुगा प्रबला है। रागात्मिका भक्ति में मन का ही प्राधान्य है जो कि रुचि को लेकर चलती है। द्वेष एवं भय के द्वारा अघ होने पर भी निरन्तर आवेश से वह नाश हो जाता है। काम को कोई कोई अघ मानते हैं। भगवान् में काम तीन प्रकार है, केवल, पतिभावयुक्त तथा उपपति-भावयुक्त। कुब्जा का भाव केवल-काम को लेकर है, प्रीत्यात्मक के हेतु उस में द्वेष की

भाँति दोष नहीं है, जो प्रेमैकरूप है। कुब्जाने भगवान् की कामना की, अतएव वह परम मनीषी है। इस हेतु कुब्जा के काम में द्वेषादि एवं पापादि का अभाव मानना होगा। कामुकत्वादि आरोपण एवं अधरामृत पानादि व्यवहार से भी मर्यादा का अतिक्रम नहीं हुआ है क्यों कि भगवान् की लीला "लोकवत् लीला-कैवल्य" को लेकर ही प्रवर्त्तित होती है। पतिभावयुक्त काम में भी दोष नहीं है वास्तविक उस में स्तुति रहती है। रुक्मिण्यादि प्रेयसीगण का श्रीकृष्ण में पतिभाव है। व्रज की गोपियों का भाव उपपति-भाव युक्त है। श्रीकृष्ण-स्वरूप में मुख्य रागानुगा है, अन्य किसी अंशी व अंश स्वरूप में नहीं, क्यों कि "गोपियाँ काम को हेतु करके एवं दैत्यगण द्वेषहेतु से भगवान् में आविष्ट होते हैं। गोकुल में शुद्ध-राग विद्यमान के कारण मुख्य रागानुगा रहती है अन्यत्र नहीं। केवल रागानुगा-भक्ति का अनुष्ठान प्रशस्त है। गोकुल में शुद्ध-रागात्मिका भक्ति की विद्यमानता के हेतु गोकुलानुगा रागानुगा भक्ति मुख्य है। गोकुल-लीलात्मक श्रीकृष्ण-भजन की अतिशय महिमा है। व्रजवधूयों के साथ रासादिलीला में श्रीकृष्ण का परम वैशिष्ट्य है। इन समस्त बातों का विशेष रूप से प्रतिपादन है। सिद्धिक्रमः—प्रतिग्रास में तुष्टि, पुष्टि तथा क्षुधा नाश की भाँति प्रतिवार भजन में किञ्चित् प्रेम, भगवद्रूप की स्फूर्त्ति एवं वस्त्वन्तर में वितृष्णा उत्पन्न होती है और अनुवृत्ति द्वारा भजन से वहुग्रासभोजी की परम तुष्ट्यादि भाँति परम प्रेमादि का उत्पन्न होता है। परतत्त्व-वैमुख्य-विरोधी तत्सान्मुख्य ही अभिधेय है अर्थात् परतत्त्व विषयक ज्ञानोत्पादक तदुपासना भक्ति की महती भित्ति है और प्रयोजन तदनुभव है। ज्ञान-साधन एवं योगादिमें आंशिक परतत्त्व-सान्मुख्य है अतएव श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षणावाली साक्षात्-भक्ति ही अभिधेय है इस का निर्णय; इस प्रकार भक्ति-सन्दर्भ में अनुच्छेद क्रम से सुन्दर रूप से विचार किया गया है।

प्रकाशक—कृष्णदास

॥ श्रीकृष्णचैतन्यो जयति ॥

श्री श्रीभागवतसन्दर्भे

पञ्चमः

भक्तिसन्दर्भ

(प्रथम खण्ड)

तौ सन्तोषयता सन्तौ श्रीलरूपसनातनौ,
दक्षिणात्येन भट्टेन पुनरेतद्विविच्यते ।
तस्याद्यं ग्रन्थनालेखं क्रान्तव्युत्क्रान्तखण्डितम् ।
पर्यालोच्याथ पर्य्यायं कृत्वा लिखति जीवकः ॥

परमादरणीय श्रीरूपगोस्वामी एवं श्रीसनातन गोस्वामी को सन्तोष प्रदान करने के लिये दक्षिणदेशीय (श्रीगोपाल) भट्ट गोस्वामी ने इस भक्ति विषय की पुनः विवेचना की थी परन्तु उनका वह पूर्व लिखित ग्रन्थ कहीं पर्याय क्रमयुक्त था तो कहीं पर्याय विपर्यस्त तथा कहीं पर्यायांशहीन । उसी ग्रन्थ की पर्यालोचना करके जीवनामक यह जन पर्यायक्रम से इस ग्रंथ को लिखता है ।

इस (भक्तिसन्दर्भ) ग्रंथ से पूर्व (तत्त्व, भगवत, परमात्म और श्रीकृष्ण नामक) चार सन्दर्भों में सम्बन्ध तत्व की व्याख्या की जा चुकी है । उस सम्बन्ध तत्व के निर्णय प्रसंग में पूर्ण सनातन-परमानन्द लक्षण वाला परतत्व जो सम्बन्धी है वह

अत्र पूर्वं सन्दर्भचतुष्ठयेन सम्बन्धो व्याख्यातः। तत्र पूर्णं सनातन परमानन्दलक्षणपरतत्त्वरूपं सम्बन्धि च ब्रह्म परमात्मा भगवानिति त्रिधाविर्भावितया शब्दितमिति निरूपितम्। तत्र च भगवत्त्वेनैवाविर्भावस्य परमोत्कर्षः प्रतिपादितः। प्रसङ्गेन विष्णवाद्याश्चतुःसनाद्याश्च तदवतारा दर्शिताः। स च भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण एवेति निर्धारितम्। परमात्मवैभवगणने च तटस्थशक्तिरूपाणां चिदेकरसानामपि अनादि परतत्व-

---

साधकों की साधनशक्ति के तारतम्य से ब्रह्म, परमात्मा, भगवान् इन तीन प्रकारों से आविर्भूत होता है ऐसा निरूपण किया है। उन तीनों आविर्भावों में भगवान् रूप से जो आविर्भाव है उसी का परमोत्कर्ष प्रतिपादन किया है। प्रसङ्ग से विष्णु आदि तथा चतुःसनकादि उनके (भगवान् के) अवतारों को दिखाया गया है और वह भगवान् स्वयं श्रीकृष्ण ही हैं ऐसा निर्णय किया है। और परमात्मा की विभूति गणना प्रसङ्ग में जीवसमूह की तटस्थशक्ति में गणना की है। जीव यद्यपि चैतन्यस्वरूप है परन्तु अनादि परतत्व (ब्रह्म परमात्मा भगवान्) के ज्ञान-संसर्ग का अभाव होने से उस (जीव) में उस (परतत्व) से विमुख होने के कारण छिद्र मिल जाने से उस (परतत्व) की माया से जीवों का स्वरूप ज्ञान आवृत हो गया है। उसी माया के द्वारा जीवों का सत्व, रज, तम स्वरूप जड़ (शरीरादि) में आत्मभाव हो गया है तथा यही जड़ात्मभाव जीवों के संसार दुःख का कारण है ऐसा बताया गया है। जैसे कि श्रीमद्

ज्ञानसंसर्गाभावमयतद्वै मुख्यलब्धच्छिद्रया तन्माययावृत-स्वरूपज्ञानानां तथैव सत्वरजस्तमोमये जड़े प्रधाने रचितात्मभावानां जीवानां संसारदुःखं च ज्ञापितम् । यथोक्तमेकादशे श्रीभागवता आत्माधरिज्ञानभयो विवादो, ह्यस्तीति नास्तीति भिदात्मनिष्ठः । व्यर्थोऽपि नैवोपरमते पुंसां, मत्तः परावृत्तिधियां स्वलोकादिति । ततस्तदर्थं परमकारुणिकं शास्त्रमुपदिशति, तत्र च ये जीवाः ये केचिद् जन्मान्तवृत्ततदर्थानुभवसंस्कारवन्तो,

भागवत के एकादश स्कन्ध में स्वयं श्रीभगवान् ने कहा है कि— "देहादि से व्यतिरिक्त, आत्म पदार्थ है तथा देहादि से व्यतिरिक्त कोई आत्मपदार्थ नहीं है इस प्रकार का आत्मा के विषय में भेदार्थनिष्ठ विवाद सर्वथा व्यर्थ है तथापि मेरे से परावृत बुद्धिवाले (बहिर्मुख) पुरुषों का यह विवाद दूर नहीं होता।" तत्पश्चात् जीव के संसार दुःख की हेतुभूत भगवद्विमुखता दूर करने के लिये परमकरुणामय शास्त्र (भगवदुन्मुख करने के लिये) उपदेश करता है। उस शास्त्र को श्रवण करने वाले जीवों में जो पूर्व जन्म के किये गये भगवद्भजन के अनुभवमय संस्कार वाले हैं अथवा जिन्हें महापुरुषों की अतिशय कृपा दृष्टि प्राप्त हो गई है ऐसे ये दोनों प्रकार के जीव समूह पूर्वोक्त परतत्व लक्षण सिद्धवस्तु के उपदेश श्रवण के आरम्भ मात्र से भगवत् सामुख्य तथा भगवदनुभव दोनों ही को एक साथ प्राप्त कर लेते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत में लिखा हैं—"पुण्यात्मा जनों की श्रीमद्भागवत श्रवण की इच्छा मात्र से ईश्वर तत्काल

ततो मुख्येन तात्पर्येण परतत्वे पर्यवसितेऽपि तेषां परतत्वाद्युपदेशस्य किमभिधेयं प्रयोजनं चेत्यपेक्षायां तदवान्तरतात्पर्येण तद्द्वयमुपदेष्टव्यम्। तत्राभिधेयं तद्वै-मुख्यविरोधित्वात्तत्सामुख्यमेव । तच्च तदुपासना-लक्षणं यत एव तज्ज्ञानमाविर्भवति, प्रयोजनं च तदनु-भवः, स चान्तर्बहिःसाक्षात्कारलक्षणः, यत एव स्वयं कृत्स्नदुःखनिवृत्तिर्भवति । तदेतद्द्वयं यद्यपि पूर्वत्र सिद्धोपदेश एव अभिप्रेतमस्ति, यथा तव गृहे निधि-रस्तीति श्रुत्वा कश्चिद्दरिद्रस्तदर्थं प्रयतते लभते च

तत्वादिके उपदेशके लिये अभिधेय तथा प्रयोजन इन दो अवान्तर तात्पर्यों का भी उपदेश किया है। उनमें परतत्व की विमुखता का विरोधी परतत्व सामुख्य ही अभिधेय है और यह परतत्वकी उपासना का लक्षण है, । क्योंकि उसी से परतत्व के ज्ञान का आविर्भाव होता है। द्वितीय प्रयोजन उस परतत्व का अनुभव है। जो अन्तर्बहि साक्षात्कार लक्षण है। जिससे स्वयमेव सम्पूर्ण दुःखों की निवृत्ति हो जाती है। ये अभिधेय तथा प्रयोजन दोनों यद्यपि पूर्वलिखित चारों सन्दर्भों में सिद्धोपदेश के बीच बताए जा चके हैं। तथापि तेरे गृह में धन का भण्डार है ऐसा वाक्य श्रवण कर कोई दरिद्र उसकी प्राप्ति के लिये प्रयत्न करता है और उसको प्राप्त भी कर लेता है यहां पर भी ऐसा समझना चाहिये। तथापि जीवों की शिथिलता को निवारण करने के लिये शास्त्र पुनः पुनः उपदेश करता है। इस प्रकार शास्त्र

तमिति तद्वत्, तथापि तच्छैथिल्यनिरासाय पुनस्तदुपदेशः। तदेवं तान् प्रत्यनादिसिद्धतज्ज्ञानसंसर्गाभावमयतद्वैमुख्यादिकं दुःखहेतुं वदद्व्याधिनिदानवैपरीत्यमयचिकित्सानिभं तत्सामुख्यादिकमुपदिशति—

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्या,
दीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्मायायातो बुध आभजेत्तं
भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा ॥

जीवों के प्रति अनादि सिद्ध भगवान् के ज्ञान संसर्ग के अभाव स्वरूप भगवान् से विमुखता आदि को दुःखों का मूल कारण बताता हुआ व्याधि के निदान के विपरीत चिकित्सा के समान भगवत्सामुख्य आदि का उपदेश करता है। सारांश—जैसे चिकित्सक (डाक्टर) रोग का निदान (कारण) ठण्ड लगना निश्चय करके ठण्ड के विपरीत गर्म वस्तु व्यवहार का उपदेश करता है उसी प्रकार भवरोग चिकित्सक परमकारुणिक शास्त्र जीवों के सम्पूर्ण दुःखों का मूल कारण भगवद्विमुखता निश्चय कर तथा समझाकर भगवद्वैमुख्य रोगकारण के विपरीत भगवत्सामुख्य का उपदेश करता है—

श्रीमद्भागवत के इस ११-२ श्लोक में कविनामक योगेन्द्र निमि महाराज को कहते हैं जिसकी टीका (तात्पर्य) यह है—जिसकी (भगवान् की) माया से भय प्राप्त है बुद्धिमान् उसी (भगवान्) का भजन अर्थात् उपासना करे। (इस पर

टीका च यतो भयं तन्मायया भवेत् ततो बुद्धिमान् तमेवाभजेदुपासीत्। ननु भयं द्वितीयाभिनिवेशतो भवति स च देहाहङ्कारतः, स च स्वरूपास्फुरणात्, किमत्र तस्य माया करोति, अतः आह, ईशादपेतस्येति, ईशविमुखस्य तन्मायया अस्मृतिः स्वरूपास्फूर्तिर्भवति। ततो विपर्ययो देहोऽस्मीति। ततो द्वितीयाभिनिवेशाद् भयं भवति। एवं हि प्रसिद्धं लौकिकीष्वपि मायासु। उक्तं च भगवता 'दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया। मामेव ये प्रपद्यन्ते

तार्किक प्रश्न करता है) अजी! भय का कारण अपने से भिन्न द्वितीय-अभिनिवेश है और द्वितीयाभिनिवेश होता है निज स्वरूप की स्फूर्ति न होने से तब इस भय में माया कारण कैसे हुई? इसी समस्या को समझाते हुए मूल श्लोक में 'ईशादपेतस्य' अर्थात् ईश्वरविमुख जीव के लिए उनकी माया द्वारा 'अस्मृतिः' अर्थात् स्वस्वरूप की स्मृति नष्ट हो जाती है पुनः 'विपर्ययः' अर्थात् देह ही मैं हूं ऐसा विपरीत ज्ञान होने पर द्वितीयाभिनिवेश, पुनः उससे भय होता है। लौकिक इन्द्रजाल आदि माया में भी बड़े-बड़े ज्ञानाभिमानी सद्वस्तु का अभाव तथा असत् वस्तुको देखकर विस्मित हो जाते हैं। लौकिक माया का चक्कर उस माया के कर्ता ऐन्द्रजालिक द्वारा ही दूर होता है। उसी प्रकार इस माया का भगवान् द्वारा। श्रीमद्भगवद्गीता में भी श्रीभगवान् ने कहा है—'मेरी यह गुणमयी दैवी माया पार करने में जीव सर्वथा अशक्त है एक मात्र जो मेरी शरण में आ

मायामेतां तरन्ति ते' इति। एकया अव्यभिचारिण्या भजेत् किं च गुरुदेवतात्मा गुरुरेव देवता ईश्वरः आत्मा प्रेष्ठश्च यस्य तथादृष्टिः सन्नित्यर्थः इत्येषा ॥ ११॥२॥ कविर्विदेहम् ।

किंच——एवं स्वचित्ते स्वत एव सिद्धे,
आत्मा प्रियोऽर्थो भगवाननन्तः ।
तं निर्वृतो नियतार्थो भजेत,
संसारहेतूपरमश्च यत्र ॥

टीका च—— तदानेन किं कर्तव्यम्, हरिस्तु सेव्य इत्याह, एवं विरक्तः सन् तं भजेत। भजनीयत्वे हेतवः

जाते हैं वे इस माया को पार कर लेते हैं।" "एकया" शब्द का अर्थ है अव्यभिचारिणी भक्ति द्वारा ईश्वरका भजन करना। 'गुरुदेवतात्मा' का अर्थ है गुरुको ही देवता अर्थात् ईश्वर एवं आत्मा—परमप्रिय मानने वाला। अर्थात् गुरुदेव को परमाराध्य तथा परम प्रिय मानने वाला ही ईश्वर की अव्यभिचारिणी भक्ति का अधिकारी है। इति

श्रीशुकदेव ने, आगे यह बताया है—'एवं स्वचित्तो स्वत एव सिद्धे ····,जिसका तात्पर्य यह है कि—जीव का कर्तव्य है मायापति श्रीहरि की सेवा करे। 'एवं' अर्थात् विरक्त भावसे उन श्रीहरि का भजन करे। उनका ही भजन क्यों करे ? इस-लिए कहते हैं 'स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः, वे हमारे चित्तमें स्वय-

स्वचित्ते स्वत एव सिद्धः। यत आत्मा, अत एव प्रियः। प्रियस्य च सेवा सुखरूपैव। अर्थः सत्यः, नत्वनात्मवन्मिथ्या। भगवान् भजनीयगुणश्च। अनन्तश्च नित्यः। य एवंभूतस्तं भजेत। नियतार्थश्च निश्चलस्वरूपः। भगवदनुभवानन्देन निर्वृतः सन्निति स्वतः सुखात्मकत्वं दर्शितम्। किं च यत्र यस्मिन् भजने सति संसारहेतो रविद्यायाः उपरमो नाशो भवतीत्येषा। अव चकारात् तत्प्राप्तिर्ज्ञेया। २-६ ॥ श्रीशुक ॥ २ ॥

मेव विराजमान हैं। 'आत्मा' अतएवं 'प्रिय' हैं, प्रिय की सेवा सुखदायक ही होती है। 'अर्थः, सत्य हैं अनात्म पदार्थों की तरह मिथ्या नहीं। 'भगवान्' भजन करने योग्य इनमें गुण विद्यमान हैं। 'अनन्तः' नित्य हैं। इतने गुणों से जो युक्त है उकका भजन करे। श्लोकान्तर्गत यह तो भजनीय भगवान् की विशेषता हुई आगे भक्त किस प्रकार का बन कर भजन करे यह विशेषण दिखाया है) नियतार्थश्च निश्चल स्वरूप (निष्ठावान्) होकर। 'निवृतः' इस शब्द से भक्त का भगवदनुभव के आनन्द से परिपूर्ण मनवाला होना। इससे इस की सुखस्वरूपता स्वाभाविक हैं ऐसा दिखया है। 'संसार हेतुपरमश्च' इस प्रकार भगवद्जन होने पर संसार का मूल अविद्या का नाश, तो हो ही जायगा। अन्त में चकार से भगवत्प्राप्ति भी सुलभ हो जाती है ऐसा समझना चाहिये ॥२॥

तत्र तद्यपि श्रवणमननादिकं ज्ञानसाधनमपि तत्सामुख्यमेव, ब्रह्माकारस्यानुभवहेतुत्वात्, अत एव तत्परम्परोपयोगित्वात् साङ्ख्याष्टाङ्गयोगकर्माण्यपि तत्सामुख्यान्येव, तथा तेषां कथञ्चिद्भक्तिमपि जायते, कर्मणस्तदाज्ञापालनरूपत्वेन तदर्पितत्वादिना च करणात्, ज्ञानादीनां चान्यत्रानासक्तिहेतुत्वादिद्वारा भक्तिसचिवतया विधानात्; तथापि पूर्वं भक्त्या भजेतेत्यनेन कर्मज्ञानादिकं नादृतं, किन्तु साक्षाद्भक्त्या श्रवणकीर्तनादिलक्षणयैव भजेतेत्युक्तम्। तथैव सहेतुकं

भगवान् का भजन करना चाहिये पर उस भजन का प्रकार क्या है उस पर विचार किया जाता है। यद्यपि श्रवण मनन निदिध्यासन प्रभृति ज्ञानसाधन भी निर्विशेष ब्रह्म का अनुभव कराते हैं अतः उनसे भी उस पर-तत्व का सामुख्य होता है तथा परम्परारूप से, सांख्य, अष्टाङ्गयोग तथा कर्मकाण्ड भी परतत्व सामुख्यकारक हैं एवं इन साधनों में भक्ति का अंश भी विद्यमान रहता है, जैसे कर्म में उस ईश्वर की आज्ञा पालनरूप और कार्यों का तदर्पणादि भाव भगवद्भक्ति के आरोपसिद्धा नामक भेद में परिगणित होता है। एवं ज्ञान-आदि साधनों में अपने चित्स्वरूप से भिन्न जड़ पदार्थों में अनासक्तिभाव भी भक्ति के प्रथम सोपान में सहायक होता है परन्तु श्रीभागवतीय पुर्वोक्त श्लोक में 'भक्त्या भजेत् अर्थात् भक्ति के द्वारा ही भजन करे इस आदेश से ज्ञान-कर्म आदिका आदर नहीं किया गया है, अपितु साक्षात् श्रवणकीर्तनादि साक्षात् भक्ति द्वारा ही भगवान्

श्रीसूतोपदेशोपक्रमत एक दृश्यते। यथाह द्वाविंशत्या, स वै इत्यादिनां अतो वै कवय इत्यन्तेन ग्रन्थेन--

स वै पुंसाँ परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे।
अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मा सुप्रसीदति ॥३॥

यत्खलु महापुराणारम्भे पृष्टं सर्वशास्त्रसार-मेकान्तिकं श्रेयो ब्रूहीति तत्रोत्तरं स वै इत्यादि। यतो धर्मादधोक्षजे भक्तिस्तत्कथाश्रवणादिषु रुचिर्भवति; धर्मः स्वनुष्ठित इत्यादौ व्यतिरेकेण दर्शयिष्यमाणत्वात्। स वै स एव। एव-नुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषण-

का भजन करे ऐसा कहा गया है। श्रीमद्भागवत के आदि में श्रीसूतजी का उपदेश क्रम इसी सिद्धान्त को लेकर आरम्भ होता है "स वै पुंसां परोधर्मो" (१-३-६) से लेकर 'अतो वै कवयोनित्यम्,—— (भा० १-३-१७) तक कर्मज्ञानादि की निरपेक्षता तथा साक्षात् भक्ति का उपदेश किया गया है ॥३॥

महापुराण श्रीमद्भागवत के आरम्भ में शौनकादि द्वारा जीवमात्र के लिये सम्पूर्ण शास्त्रों का सारभूत एकान्तिक श्रेय (परमकल्याण विषयक प्रश्न किये जाने पर श्रीसूत ने "स वै पुंसां परोधर्मो" से लेकर अतो वै कवयो नित्यं" तक के श्लोकों में उत्तर दिया है। वहाँ—'यतः' = धर्मात् (जिस धर्म से) अधोक्षजे भक्तिः" भगवान् श्रीहरि में उनकी कथा श्रवण कीर्तनादि में रुचि होती है वही जीव मात्र का परमधर्म है। इससे भिन्न (निषेध परिपाटी द्वारा) 'धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां —' इत्यादि

मिति वक्ष्यमाणरीत्या तत्सन्तोषणार्थमेव कृतो धर्मः परः सर्वतः श्रेष्ठः, न निवृत्तिमात्रलक्षणोपि वैमुख्यविशेषात्। तथा च नारदवाक्यम्——नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितमित्यादौ, कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यद्यप्यकारणमिति। अतो वक्ष्यते अतः पुंभिरित्यादि। ततः स एवैकान्तिकं श्रेयः इत्यर्थः। अनेन भक्तेस्तादृशधर्मतोऽप्यतिरिक्तमुक्तम्। तस्या भक्तेः स्वरूपगुणमाह, स्वतः एव सुखरूपत्वाद हैतुकी फलांत-

---

सूत्र, आगे दिखाया जायगा। उपर्युक्त श्लोक में 'स वै' का अर्थ है वही, अर्थात् इससे भिन्न कोई परम धर्म है ही नहीं। इसके बाद 'अनुष्ठितस्य धर्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्— (भली प्रकार अनुष्ठान किये गये धर्म का फल श्रीहरि का प्रसन्न होना है) इससे आगे कहे जाने वाले श्लोक से सिद्ध है कि 'श्रीहरि को सन्तुष्ट करने के लिए जो धर्मानुष्ठान किया जाता है वही 'परः' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ है। न पुनिः लोकपरलोक वासनाशून्य निवृत्तिमात्र लक्षण वाला (मोक्षकामनात्मक) भी धर्मानुष्ठान। कारण उस में भगवत्सामुख्य नहीं है। देवर्षि नारद ने भी कहा है—'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् — कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्मयदप्यकारणम्।' अर्थात् जब कि भगवद्भक्ति विहीन निरुपाधिज्ञान भी ब्रह्म साक्षात् में पर्याप्त नहीं होता फिर दुःखस्वरूप कर्म भले ही निष्काम भाव से युक्त हों यदि श्रीभगवान् के अर्पित न किये गये हों तो उनकी प्रशंसा कैसे की जा सकती है। अतः आगे कहे जाने वाले, "अतः

रानुसन्धानरहिता। अप्रतिहता तदुपरि सुख दुःख-दपदार्थान्तराभावात् केनापि व्यवधातुमशक्या च। जातायां तस्यां रुचिलक्षणायां भक्त्यां तयैव श्रवणादिलक्षणो भक्तियोगः प्रवर्तितः स्यात्। ततश्च यस्यास्तिभक्तिर्भगवत्यकिंचना सर्वैगुणैस्तत्र सभासते सुराः इत्यनुसारेण भगवत्स्वरूपादिज्ञानं ततोन्यत्र वैराग्यं च तदनुगाम्येवस्यादित्याह--

---

पुंभिः" इत्यादि श्लोक में धर्मानुष्ठान की सफलता एक मात्र श्रीविष्णुभगवान् की सन्तुष्टि तथा उससे हरि कथामें रुचि होना उसी को धर्मानुष्ठान का एकान्तिक श्रेय कहा गया है। इस कथन से भगवान् को अर्पित किये गये धर्म से भी हरि भक्ति की पृथकता (विशेषता) कही गई है। उसी भगवद्भक्ति का स्वरूपभूत गुण कहा गया है—'अहैतुकी' अर्थात् फलान्तर अनुसन्धान राहित्य क्योंकि भक्ति स्वयं में ही सुख रूप है। अतः भक्ति (सुख) से भिन्न दूसरे फल का अनुसन्धान यहाँ व्यर्थ है। (अर्थात् जीव द्वारा किसी भी पदार्थ की कामना सुख के लिये की जाती है भक्ति स्वयं सुख रूपा है ही, फिर अन्य फल की अपेक्षा का अर्थ ही नहीं रहता)।

"अप्रतिहता' भक्ति में किसी बाधा का अवकाश ही नहीं है, कारण कि कोई सुख तथा दुःख इससे बढ़ कर है

वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः ।
जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानं च यदहैतुकम् ॥४॥

अहैतुकं शुष्कतर्काद्यगोचरमुपनिषदं ज्ञानमाशु ईषत् श्रवणमात्रेण जनयतीत्यर्थः । व्यतिरेकेणाह–धर्मः

ही नहीं अर्थात् भगवद्भक्ति से बढ़ कर यदि कोई सुख देखा जाय तो उसकी प्राप्ति की अभिलाषा से इसमें शिथिलता हो सकती है, अथवा उत्तम (भगवद्भक्ति) प्राप्ति के बाद उसके नष्ट होने से दुःख सम्भावमा के कारण उसमें शिथिलतता हो सकती है परन्तु भक्ति से बढ़कर कोई सुखमय पदार्थ नहीं तथा उसके नष्ट होने की सम्भावना नहीं । अतः भक्ति विघ्नबाधा से सर्वथा मुक्त है ! इस प्रकार जब रुचिलक्षणा भक्ति आविर्भूत होती है। तब उसके द्वारा श्रवणादि लक्षणा भक्ति की प्रवृत्ति चल जाती है । तत्पश्चात् जिस जन में वह भगवान् की अकिंचना भक्ति विद्यमान हुई उसमें सम्पूर्ण गुणों के सहित देवता (भगवान् के पार्षदगण) अवस्थान करने लगते हैं। इस प्रकार फिर तो भगवान् का स्वरूप, ऐश्वर्य माधुर्य आदि ज्ञान और विषयों से वैराग्य यह सब तो उसके अनुगामी रूप से सहज में आ ही जाते हैं—'वासुदेवे भगवति —' ॥४॥

भगवान्‌वासुदेव में प्रयोजित भक्तियोग ईषत् (स्वल्प) श्रवण मात्र से अति शीघ्र विषय वैराग्य तथा शुष्कतर्कादि से, अगोचर

स्वनुष्ठितः पुंसां वासुदेवकथासु यः नोत्पादयेत् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥५॥

वासुदेवालम्बनभावेन यदि तत्कथासु तल्लीला-वर्णनेषु रतिं रुचिं नोत्पादयेत् तदा श्रमः स्यान्नतु फलं, कथारुचेः सर्वत्रैवाद्यत्वात् श्रेष्ठत्वाच्च सैवोक्ता । तदु-पलक्षणात्वेन भजनान्तररुचिरप्युपदिष्टा । एव शब्देन प्रवृत्तिलक्षणकर्मफलस्य स्वर्गादेः क्षयिष्णुत्वं, हि शब्देन तत्रैव च, तद् यथेह--

---

उपनिषद् प्रतिपाद्य ज्ञानको उत्पन्न करा देता है । इसके विपरीत 'धर्मः स्वनुष्ठितः ---' भगवान् की कथाओं में रुचिलक्षणा भक्ति का जिनसे, आविर्भाव न हो ऐसे सम्यक् विधि पूर्वक किये हुए कर्म-श्रम स्वरूप (निष्फल) ही हैं ॥५॥ उक्त (श्लोक की व्याख्या करते हैं)

जो कर्म श्री वासूदेव में आलम्बन भाव से यदि उन वासुदेव की कथाओं लीलावर्णन आदि में रति अर्थात् रुचि उत्पन्न न करे वह सुन्दर रूप से अनुष्ठित होने पर भी फलप्रद नहीं अपितु श्रम मात्र ही है। क्योंकि भगवत्कथा रुचि ही सम्पूर्ण साधनों का सर्व प्रथम और सर्वश्रेष्ठ फल है इसके उपलक्षण में भजन सम्बन्धी स्मरण, पाद-सेवन, अर्चन आदि रुचियों का भी उपदेश हो गया है ।

कर्म्मजितो लोकः क्षीयते, इति सोपपत्तिकश्रुतिप्रमाणत्वम्; "निर्णीते केवलम्" इति केवलशब्देन निवृत्तिमात्रलक्षण-धर्म्मफलस्य साध्यत्वं, सिद्धस्यापि नश्वरत्वं, तत्रापि तेनैव हि शब्देन यस्य देवे परा भक्तिरित्या-दिश्रुतिप्रमाणत्वम्, नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितम् इत्यादि श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये इत्यादि आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रय इत्यादि वचनप्रमाणञ्च सूचि-

मूल श्लोक में एव शब्द का प्रयोग है, उसका उद्देश्यप्रवृत्ति-रूप-कर्म्म-फल को देने वाला स्वर्गादि क्षय-शील है यह ज्ञात करना है। "हि" शब्द से सकाम कर्म्म के फलरूप स्वर्गादि अनित्य है यह दिख-लाया गया है। श्रुति—"यथेह कर्म्मजितो लोकः क्षीयते" यह निर्देश करती है–जिस प्रकार लौकिक कृषिकार्य्यादि के द्वारा उत्पन्न शस्यादि तृतीयक्षण में विनाश प्राप्त हो जाते हैं ठीक उसी प्रकार शास्त्रीय-यज्ञादि कर्म फलों के द्वारा उत्पन्न स्वर्गादिलोक विनाश प्राप्त हो जाते हैं। लौकिक-बस्तु की उत्पत्ति, स्थिति तथा विनाश ये तीन अवस्था होती हैं। प्रथमक्षण में उत्पत्ति, द्वितीयक्षण में स्थिति तथा तृतीयक्षण में विनाश ये स्वाभाविक धर्म्म हैं। श्लोक में–केवल शब्द का प्रयोग है, उस से निवृत्ति लक्षण धर्म्म के फल रूप ज्ञान का असाध्यत्व बत-लाया गया है। निष्काम-धर्म्म यदि भगवद्भक्तिशून्य होता है तो उस से ब्रह्मज्ञान लाभ नहीं है। यदि किसी प्रकार लाभ होता है तो उसका स्थायित्व नहीं है। श्लोक में हि शब्द से यह दिखलाया गया है–परमे-श्वर में जिनके पराभक्ति है उन्हीं के हृदय में वस्तुतत्व का अनुभव होता है। व्यासजी के प्रति श्रीनारद के भक्ति-रहित निरुपाधिज्ञान भी अपरोक्षानुभव का प्रकाश नहीं कर सकता है। ब्रह्माजी ने भी श्रीकृष्ण की स्तुति-प्रसङ्ग में कहा है–"हे नाथ ! समस्त मङ्गल-प्रसव-

तम् । श्लोकद्वयेन भक्तिर्निरपेक्षा ज्ञानवैराग्ये तु तत्सापेक्षे इति लभ्यते । तदेवं भक्तिफलत्वेनैव धर्म्मस्य साफल्यमुक्तम् । तत्र यदन्ये मन्यन्ते, धर्म्मस्यार्थः फलं तस्य कामस्तस्य चेन्द्रियप्रीतिस्तत्प्रीतेश्च पुनरपि धर्म्मादिपरम्परेति, तच्चान्यथैवेत्याह, द्वाभ्याम्—

कारिणी तुम्हारी भक्ति का अनादर कर जो केवल ज्ञान-लाभ के लिये शास्त्राभ्यास-तपस्या-वैराग्यादि नाना क्लेश उठाते हैं उनका वह परि श्रममात्र ही है, फल में कुछ नहीं है।" गर्भस्तुति-प्रसङ्ग में भी कहा गया है-"हे भगवन् ! जो तुम्हारे व तुम्हारे भक्तों के चरणों में आदर न कर ज्ञान का अनुष्ठान करते हैं वे शास्त्रादि-ज्ञान सम्पन्न ब्राह्मणादि उच्चवंश में जन्म ग्रहण करके भी नीचे गिरते हैं।" यह समस्त वचन "हि" शब्द से सूचित होते हैं। "वासुदेवे भगवति", तथा "धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसां" इन दोनों श्लोकों का तात्पर्य्य–भक्ति निरपेक्ष है अर्थात् वह ज्ञान-वैराग्यादि किसी की अपेक्षा नहीं करती है, परन्तु ज्ञान-वैराग्यादि भक्तियोग की सम्पूर्ण अपेक्षा रखते हैं। अतः भक्ति सबल तथा ज्ञान-वैराग्यादि दुर्व्वल माने गये हैं। विद्वान् सबला भक्ति का ही आश्रय करे यह ध्वनित होता है। इस प्रकार यहां भक्तिलाभ में ही धर्म्म का साफल्य कहा गया है। बहिर्म्मुख अन्यजन इस प्रकार सिद्धान्त करते हैं कि—धर्म्म का फल अर्थ है, अर्थ का फल विषय-भोग है, विषय-भोग का फल इन्द्रिय-प्रीति तथा इन्द्रिय-प्रीति का फल पुनः धर्म्मानुष्ठानादि हैं इस परम्परा से धर्म ओत प्रोत है। उनकी वह धारणा सम्पूर्ण भूल है। सूतजी "धर्म्मस्य ह्यपवर्गस्य" "कामस्य नेन्द्रियप्रीतिः" इन दोनों श्लोकों से उसका निराकरण करते हैं—दोनों श्लोकों का अर्थ–अपवर्ग प्रतिपादक-धर्म्म का फल अर्थ नहीं है तथा उस प्रकार अर्थ का फल विषय-भोग नहीं है पुनः विषय-भोग का फल इन्द्रियप्रीति नहीं है। तो भी जीवन-रक्षा के लिये उतना ग्रहण कि

"धर्म्मस्य ह्यापवर्ग्यस्य नार्थोऽर्थायोपकल्पते ।
नार्थस्य धर्मैकान्तस्य कामो लाभाय हि स्मृतः ॥
कामस्य नेन्द्रियप्रीतिर्लाभो जीवेत यावता ।
जीवस्य तत्त्वजिज्ञासा नार्थो यश्चेह कर्म्मभिः" ॥६॥

आपवर्ग्यस्य, यथा वर्णविधानमपवर्गश्च भवति योऽसौ भगवति सर्वात्मन्यनात्मेऽनिरुक्तेऽनिलयने परमात्मनि वासुदेवेऽनन्यनिमित्तभक्तियोगलक्षणो नानागतिनिमित्ताविद्या-

---

जाता है जितना आवश्यक है। मनुष्य-जीवन की रक्षा भी परमावश्यक है। तत्ववस्तु को जान लेना ही जीवन की रक्षा है। इस लोक में धर्म्मादि अनुष्ठान के द्वारा अर्थादि लाभ प्रयोजन नहीं है ॥६॥

श्लोक में आपवर्ग शब्द का प्रयोग है, उसका तात्पर्य भक्ति है। पञ्चमस्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय में भारतवर्ष वर्णन प्रसङ्ग में श्रीशुकदेव ने कहा है—इस भारतवर्ष में जो जिस वर्ण में है यदि वह उस वर्ण-विहित धर्म्म का याजन करता है तो उस से उसका अपवर्ग होता है। वह अपवर्ग क्या वस्तु है उसका परिचय देते हैं—अवाङ्मनस-गोचर, राग-द्वेषादि अभिनिवेशशून्य, सर्वाश्रय, सर्वभूतात्मा, भगवान् वासुदेव में अहैतुक भक्तियोग का नाम अपवर्ग है। "अपबृज्यते अनेन इति अपवर्गः" यह व्युत्पत्ति है। छेदनार्थ "वृज्" धातु में करणवाच्य में "अल्" प्रत्यय है। अविद्याजात-ग्रन्थि ही जीव के गमना-गमन में मूल कारण है। इस भक्तियोग से उसका खण्डन हो जाता है। अतः अहैतुक भक्तियोग को अपवर्ग कहते हैं। यथा-विहित वर्ण-धर्म्म के अनुष्ठान में अहैतुक भक्तियोग का आविर्भाव नहीं हो सकता है, परन्तु उसका अनुष्ठान करते करते श्रीकृष्ण के पुरुष अर्थात् श्रीकृष्ण के भक्त-जन महापुरुषों का संसर्ग-प्रसङ्ग होगा, उस समय उसकी सम्भावना है। पवित्र धर्म्मानुष्ठान से महापुरुष-प्रसंग की सम्भावना होती

ग्रन्थिरन्धनद्वारेण यदा हि महापुरुषपुरुषप्रसङ्गः इति पञ्चम-स्कन्धगद्यानुसारेण अपवर्गो भक्तिः । तथाच स्कान्दे रेवा-खण्डे —निश्चला त्वयि भक्तिर्या सैव मुक्तिर्जनार्द्दन । मुक्ता एव हि भक्तास्ते तव विष्णो यतो हरे ॥ इति । ततः उक्त-रीत्या भक्तिसम्पादकस्येत्यर्थः । "टीका च—अर्थाय फलत्वाय । तथार्थस्याप्येवम्भूतधर्म्माव्यभिचारिणः कामो लाभाय फलत्वाय न हि स्मृतस्तत्त्वविद्भिः । कामस्य विषयभोगस्येन्द्रियप्रीति-

है । भगवान् में अहैतुकी-भक्ति ही मुक्ति है इसका प्रमाण देते हैं—स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में कहा है—"हे जनार्द्दन ! तुम में जो निश्चला भक्ति है वह मुक्ति है । हे विष्णो ! हे हरे ! तुम्हारे भक्तगण वास्तविक मुक्त हैं ।" अतः उक्त प्रमाण से आपवर्ग शब्द का अर्थ भक्ति है । भगवान् में अहैतुकी-भक्तिलाभ ही धर्म्मानुष्ठान का मुख्य फल है । इस प्रकार धर्म्म का फल कभी 'अर्थ' नहीं है, अर्थात् अर्थ-लाभ के लिये इस प्रकार धर्म्मानुष्ठान नहीं करना चाहिये । अर्थ का फल भी विषय-भोग नहीं है, विषय-भोग का फल कभी इन्द्रियप्रीति नहीं है, इस प्रकार तत्त्वज्ञगण कहते हैं । परन्तु ऐसा जानना चाहिये कि—जितने परिमाण में विषय-ग्रहण करने पर जीवन की रक्षा होती है उस परिमाण में विषय-भोग करना कर्त्तव्य है । जीवन-धारण का फल धर्म्मानुष्ठान के द्वारा कर्म्मलभ्य राशि राशिस्वर्गादि नहीं है, परन्तु जीवनधारण का मूल उद्देश्य तत्त्व-जिज्ञासा है । अतः तत्त्व-ज्ञान ही भक्ति का अवान्तर फल तथा भक्ति ही मुख्यफल सिद्ध हुई । वह तत्त्व-वस्तु क्या है ? इसको ज्ञात कराने के लिये प्रमाण रूप से एक पद्य का उदाहरण देते हैं—तत्त्वज्ञगण अद्वयज्ञान को ही तत्त्व कहते हैं, वह अद्वयज्ञान तत्त्व-वस्तु उपासना-भेद से ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान् शब्द से शब्दित होता है । अद्वय शब्द से उस तत्त्व का अखण्डत्व निर्द्देश कर अन्य समस्त-वस्तु का उस से अपृथक्त्व समझाने

र्लाभः फलं न भवति किन्तु यावता जीवेत तावानेव कामस्य लाभः तादृशजीवनपर्य्याप्त एव कामः सेव्य इत्यर्थः । जीवस्य जीवनस्य च पुनर्धर्म्मानुष्ठानद्वारा कर्म्मभिर्य इह प्रसिद्धः स्वर्गादिः सोऽर्थो न भवति किन्तु तत्त्वजिज्ञासैवेति" । तदेवं तत्त्वज्ञानं यस्या भक्तेरवान्तरफलमुक्तं सैव परमं फलमितिभावः । किन्तत्तत्त्वमित्यपेक्षायां पद्यमेकं तूदाहृतम्—"वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम् । ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्द्यते ॥" इति । अद्वयमिति तस्या-

के लिये उसका शक्तित्व अंगीकार किया गया है। जिसको जानने पर अवशिष्ट जानने को कुछ नहीं रहता है, जिसमें समस्त मौजूद हैं, जिसको निकाल देने पर कुछ नहीं रहता, उस वस्तु का नाम अद्वय-तत्त्व है। स्वजातीय, विजातीय एवं स्वगत ये तीन प्रकार के भेद हैं। मनुष्य-मनुष्य में, चेतन-चेतन में जो भेद है वह स्वजातीय भेद है, मनुष्य-पशु में, जड-अचेतन में जो भेद है वह विजातीय भेद है। कर एवं चरणों में जो भेद है वह स्वगत-भेद है। जो तत्व-बस्तु उपरोक्त तीनों प्रकार के भेद से रहित है वह अद्वय-तत्व है। वह अद्वय-तत्व बस्तु ज्ञान-स्वरूप है अर्थात् जड-प्रतियोगी स्वप्रकाश-रूप है। उसको छोड़कर स्वतन्त्र रूप से कोई स्वप्रकाश बस्तु नहीं है, अतः वह स्व-जातीय-भेद-रहित है। उसके विरोधी तथा दूसरे से प्रकाशमान कोई जड-बस्तु उस से पृथक् रूप से नहीं है अतः वह विजातीय भेद रहित है। बह तत्व-बस्तु ज्ञानियों के हृदय में ब्रह्म रूप में, योगीजनों के हृदय में परमात्मा रूप में, भक्तगणों के हृदय तथा बाहर में साक्षात् भगवान् रूप में, इस प्रकार त्रिविध स्वरूप में आविर्भूत होती है। उस तत्व-बस्तु का उन तीनों प्रकार के आविर्भाव में शक्ति-समूहरूप एक अविचिन्त्य धर्म मौजूद है यह अवश्य मानना होगा। उस धर्म्म

खण्डत्वं निर्दिश्यान्यस्य तदनन्यत्वविवक्षया तच्छक्तित्वमेवा-ङ्गीकरोति । तत्र शक्तिवर्गलक्षणतद्धर्मातिरिक्तं केवलं ज्ञानं ब्रह्मेति शब्द्यते अन्तर्यामित्वमयमायाशक्तिप्रचुरचिच्छ-क्तांशविशिष्टं परमात्मेति परिपूर्णसर्वशक्तिविशिष्टं भगवा-निति । विवृतञ्चैतत्प्राक्तनसन्दर्भत्रयेण । तच्च त्रिधाविर्भा-वयुक्तमेव तत्त्वं भक्त्यैव साक्षादपि क्रियत इत्याह—"तच्छ्र-द्दधाना मुनयो ज्ञानवैराग्ययुक्तया । पश्यन्तात्मनि चात्मानं भक्त्या श्रुतगृहीतया" ॥७॥

भक्त्या तत्कथारुचेरेव परावस्थारूपया प्रेमलक्षणया। तत् पूर्वमेवोक्तं तत्त्वम् । आत्मनि शुद्धे चेतसि पश्यन्ति च ।

के अतिरिक्त केवल ज्ञान-ब्रह्म शब्द से अभिहित होता है । अन्तर्य्यामित्वमय माया-शक्ति-प्रचुर चिच्छक्ति का अंश-विशिष्ट-ज्ञान परमात्मा है, अर्थात् जो स्वरूप माया-शक्ति, मायाशक्ति के कार्य्य तथा चिच्छक्ति के अंशरूप जीव-समूह का नियामक है वह परमात्मा है। परिपूर्ण समस्त शक्ति विशिष्ट ज्ञान ही भगवान् है, उस अद्वय ज्ञान की इस प्रकार तीन अवस्था है। इनके विशेष विचार पहले अर्थात् तत्व, भगवत् एवं परमात्म-सन्दर्भ में किया जा चुका है अतः यहाँ विशेष विचार नहीं किया जा रहा है। अब तीन प्रकार से आविर्भावित तत्व का भक्ति के द्वारा ही साक्षात्कार होता है यह एक श्लोक में दिखलाया जा रहा है-"श्रद्धावान् मुनिगण ज्ञान-वैराग्य युक्त, श्रुति-गृहीत भक्ति के द्वारा तीन प्रकार से आविर्भूत उस आत्म रूप अद्वय-तत्व का शुद्ध-हृदय में साक्षात्कार करते हैं" ॥७॥

भक्ति के द्वारा अर्थात् उन भगवान् की कथादि-रुचि की परावस्था-रूप प्रेम-लक्षणा के द्वारा, उस पूर्व कथित तत्व का आत्मा में

ज्ञानमात्रस्य का वार्त्ता साक्षादपि कुर्वन्तीत्यर्थः। कीदृशं तदात्मानं स्वरूपाख्यजीवाख्यमायाख्यशक्तीनामाश्रयम्; ज्ञानवैराग्ययुक्तया स्वात्मजाभ्यां ताभ्यां सेवितया अतएव ते मुनयः पृथक् च विशिष्टञ्च स्वेच्छया पश्यन्तीत्यायाति। तदेवं श्रुतगृहीतया मुनयः श्रद्दधाना इति पदत्रयेण तस्या एव भक्तेर्दौलभ्यं दर्शितम्। सद्गुरोः सकाशाद्वेदान्ताद्यखिलशास्त्रार्थविचारश्रवणद्वारा यदि स्वावश्यकपरमकर्त्तव्यत्वेन ज्ञायते, पुनश्च, "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य

अर्थात् शुद्धचित्त में साक्षात्कार करते हैं। यहाँ "पश्यन्ति" क्रिया का उल्लेख है; तात्पर्य्य यह है कि–उस परतत्व-बस्तु का ज्ञान-मात्र करते हैं इस बात को तो कहना ही क्या है, साक्षात्कार पर्य्यन्त करते हैं। वह तत्व-वस्तु कैसी है ? उसका परिचय देते हैं कि वह आत्मा-रूप है, अर्थात् स्वरूपाख्य, जीवाख्य एवं मायाख्य शक्ति-समूह का आश्रयभूत है। ज्ञान-वैराग्ययुक्त का अर्थ है–अपने आत्मा से उत्पन्न ज्ञान-वैराग्य के द्वारा सेवित ज्ञान एवं वैराग्य, भक्ति से आविर्भूत हुए हैं। वे गर्भजात पुत्रों के द्वारा माता की सेवा की भाँति भक्ति की सेवा करते हैं। जिस परिमाण से प्रीतिलक्षण भक्तियोग का आविर्भाव होता है उस परिमाण से भगवदनुभव एवं विषय-वैराग्य स्वय प्रादुर्भूत होता है। तात्पर्य्य यह है कि–ज्ञान-वैराग्य की प्राप्ति के लिये पृथक् चेष्टा नहीं करनी पड़ती है। मुनिगण अपनी इच्छानुसार उस अद्वयतत्व-बस्तु को शक्ति-रहित रूप में अर्थात् चिन्मात्र सत्तारूप से, एवं कहीं शक्ति-विशिष्ट रूप में साक्षात्कार करते हैं। श्लोक में–"श्रुतगृहीतया" "मुनयः" "श्रद्दधाना" इन तीनों पदों का उल्लेख है उस से प्रेम-लक्षणाभक्ति का दुर्लभत्व दिखलाया गया है। यदि कोई सद्गुरु के चरणाश्रय से वेदान्तादि समस्त शास्त्र के तात्पर्य्य-विचार-श्रवण के

मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन्यतो भवेदि"ति वद् यदि विपरीतभावनात्याजकौ मननयोग्यतामननाभिनिवेशौ स्यातां; ततः श्रद्दधानैः सा भक्तिरुपासनाद्वारा लभ्यत इति। अतः श्रुतिरपि तदर्थमागृह्णाति–"आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य" इत्यत्र निदिध्यासनमुपासनं दर्शनं साक्षात्कार उच्यते। सा चैवं दुर्लभा भक्तिः हरितोषणे प्रयुक्तात् स्वाभाविकधर्म्मादपि लभ्यते। तस्माद्धरितोषणमेव तस्य परमफलम् इत्याह–"अतः पुंभिर्द्विजश्रेष्ठा वर्णाश्रमविभागशः। स्वनुष्ठितस्य धर्म्मस्य संसिद्धिर्हरितोषणम्" ॥८॥

द्वारा भगवान् में भक्ति करना परम कर्त्तव्य है" इस प्रकार जान लेता है; पुनः "जिसके अनुष्ठान से आत्म-स्वरूप श्रीहरि में प्रीतिलक्षणा भक्ति का उदय होता है वह ही वेदों के समस्त कर्त्तव्य उपदेश का मुकुटमणि रूप है, इस बात को ब्रह्माजी ने अपने प्रज्ञाबल से समस्त वेदों की तीन बार समालोचना कर तात्पर्य्य रूप से निर्द्धारित किया है" इस प्रकार अर्थ विचार कर, विपरीत-भावना त्याग करके मनन-योग्यता व मननाभिनिवेश के साथ पश्चात् दृढ़ विश्वास कर लेता है इस प्रकार भक्त उपासना द्वारा उस भक्ति का लाभ करता है। अतः श्रुति भी श्रवण-मननादि के लिये आग्रह करती है कि–"वह आत्मा दर्शनीय है, श्रवणीय है, मननीय तथा निदिध्यासन-योग्य है।" अर्थात् उस आत्मा का दर्शन करना होगा, श्रवण करना होगा, मनन करना होगा एवं निदिध्यासन करना होगा। यहाँ दर्शन-शब्द का अर्थ साक्षात्कार है तथा निदिध्यासन का अर्थ उपासना है। वह दुर्ल्लभा भक्ति हरिसन्तोषण में प्रयुक्त स्वाभाविक धर्म्म से प्राप्त होती है। अतः उस

स्वनुष्ठितस्य बहुप्रयत्नेनाच्छिद्रमुपार्जितस्य इति तुच्छे स्वर्गादिफले तत्प्रयोगोऽतीवायुक्त इति भावः । यद्येवं श्रीहरिसन्तोषकस्यापि धर्म्मस्य फलं श्रवणादिरुचिलक्षणा भक्तिरेव तत्प्रवर्त्तिताया भक्तेश्चानुगता ज्ञानवैराग्यादिगुणा इत्यायतं, तदा साक्षात् श्रवणादिरूपा भक्तिरेव कर्त्तव्या, किन्तत्तदाग्रहेणेत्याह—"तस्मादेकेन मनसा भगवान् सात्वतां पतिः । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च ध्येयः पूज्यश्च नित्यदा" ॥६॥

एकेन कर्म्माद्याग्रहशून्येन । श्रवणमत्र नामगुणादीनां तथा कीर्त्तनञ्च । तत्रैवान्तिमभूमिकापर्य्यन्तां सुगमां शैलीं

धर्म का हरिसन्तोष ही परम फल है यह कहते हैं–"हे द्विजश्रेष्ठगण ! अतः वर्ण एवं आश्रम के विभागानुसार पुरुषगण के द्वारा सुन्दर रूप से अनुष्ठित धर्म्म का फल हरिसन्तोष है ॥८॥

"स्वनुष्ठितस्य"–अर्थात् बहु प्रयत्न से निश्छिद्र रूप से उपार्ज्जित धर्म्म का तुच्छ स्वर्गादि फल के उद्देश्य से प्रयोग अत्यन्त अयुक्त है। स्वनुष्ठित पद प्रयोग का यह तात्पर्य है। यदि इस प्रकार श्रवणादिरुचि लक्ष्यणा-भक्ति श्रीहरिसन्तोषार्थक धर्म्म का फल है, अथच ज्ञान–वैराग्यादि गुण समूह उस भक्ति के द्वारा प्रवर्त्तित है अर्थात् संजात प्रीति-लक्षणा भक्तिके अनुगत है ऐसा तात्पर्य्य है तो साक्षात् श्रवणादि–रूपा भक्ति का करना कर्त्तव्य है, वृथा-रूप धर्म्मादि अनुष्ठान में आग्रह का क्या प्रयोजन है ? इस अभिप्राय से श्रीसूतजी कहते हैं–अतः एक तिष्ठ-मन में निरन्तर सात्वतजन के पति भगवान् का श्रवण कीर्त्तन ध्यान एवं पूजा करना कर्त्तव्य है ॥६॥

एकनिष्ठ मन में अर्थात्-कर्म्मादि अनुष्ठान में आग्रह रहित मन के द्वारा। यहाँ पर "श्रोतव्य" शब्द का प्रयोग है, उसका तात्पर्य्य

वक्तुं धर्म्मादिकष्टनिरपेक्षेण युक्तिमात्रेण तत्प्रथमभूमिकां श्रीहरिकथारुचिमुत्पादयन् तस्य गुणं स्मारयति—"यदनुध्यासिना युक्ताः कर्म्म-ग्रन्थिनिबन्धनम् । छिन्दन्ति कोविदास्तस्य को न कुर्य्यात् कथारतिम्" ॥१०॥

कोविदा विवेकिनः युक्ताः संयतचित्ता यस्य हरेः अनुध्या अनुध्यानं चिन्तनमात्रमेवासिस्तेन खड्गेन ग्रन्थिं नानादेहेष्वहङ्कारं निबध्नाति यत्तत् कर्म्म चिछन्दन्ति । तस्यैवंभूतस्य परमदुःखादुद्धर्त्तुः कथायां रतिं को न कुर्य्यात् । नन्वेवमपि

भगवान् के नाम-रूप-गुण-लीला तथा परिकरादि से सम्बन्धित श्रवण है,ज्ञानाङ्ग साधन भूत श्रवण-मननादि नहीं । उसी प्रकार कीर्त्तन-ध्यान पूजादि भी जानना । भक्ति-अनुष्ठान-प्रसंग में–उस की अन्तिम-भूमिका प्रीति-लक्षणा भक्ति की सुगम-शैली को अर्थात् सुख-साध्य एवं सुखभाव को कहने के लिये तथा धर्म्मादि अनुष्ठान के कष्ट का निरपेक्ष से युक्ति-मात्र के द्वारा प्रथम-भूमिका हरिकथा-रुचि का उत्पादन कराने के लिये उस भक्तियोग के एक गुण का एक श्लोक से स्मरण कराते है । संयत चित्त विवेकी जन निरन्तर जिस भगवद् ध्यान रूप खड्ग के द्वारा नाना देहों में अहङ्कार-रूप कर्म्म-ग्रन्थि का छेदन करते रहते हैं उन भगवान् की कथा में कौन जन रुचि नहीं रखना चाहता है अर्थात् सब कोई रुचि रखना चाँहते हैं ॥१०॥

यहाँ सत् असत् विचार में चतुर जन ही कोविद हैं । "युक्ता" शब्द का अर्थ "भक्त्यंग अनुष्ठान में संयत-चित्त" है । "यस्य" शब्द का अर्थ "श्रीहरि का" है । "अनुध्यानासिना" अर्थात् "निरन्तर भगवच्चिन्तन रूप खड्ग के द्वारा, "कर्म्म-ग्रंथि निबन्धन" अर्थात् जो नाना देह में अहंकार उत्पन्न करता है उस कर्म्मराशि का छेदन करते रहते हैं। इस प्रकार कर्म्म-दुःख से उद्धारकारी श्रीहरि की कथा में

तस्य कथारुचिर्मन्दभाग्यानां न जायत इत्याशङ्क्य तत्रोपायं वदन् तामारभ्य नैष्ठिकीपर्य्यन्तां भक्तिमुपदिशति पञ्चभिः—"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थनिषेवणात्" ॥११॥

भुवि पुरुपुण्यतीर्थसदनानृषयो विमदाः इत्याद्यनुसारेण प्रायस्तत्र महत्सङ्गो भवतीति तदीयटीकानुगत्या च पुण्यतीर्थनिषेवणाद्धेतोर्लब्धा यदृच्छया या महत्सेवा तया वासुदेवकथारुचिः स्यात्। कार्य्यान्तरेणापि तीर्थे भ्रमतो महतां प्रायस्तत्र भ्रमतां तिष्ठतां वा दर्शनस्पर्शनसम्भावनादिलक्षणा

कौन व्यक्ति रति नहीं करता है। "अच्छा! यदि ऐसा है तो उन की कथा-रुचि मन्दभाग्यों में नहीं उत्पन्न होती है" इस प्रकार आशंका कर उस रुचिलाभ का उपाय कहते हुए हरिकथारुचि से आरम्भकर पांच श्लोकों से नैष्ठिकी भक्ति तक उपदेश करते हैं—हे विप्रगण! पवित्र-तीर्थ-निषेवण से प्रायः महापुरुषों की सेवा करने का सौभाग्य उपस्थित होता है। उससे हरिकथा में श्रद्धायुक्त श्रवणेच्छुजन की वासुदेब की कथा में रुचि उत्पन्न होती है ॥११॥

"निरभिमानी ऋषिगण भूमण्डल के बहु पवित्रतीर्थों में गमन एवं निवासादि के द्वारा उन तीर्थों को पवित्र करते हैं" इस दशमस्कन्धीय श्लोकानुसार प्रायः उन पवित्र तिर्थों में महापुरुषसंग होता है। टीकाकार श्रीधरस्वामी का ऐसा ही अभिप्राय है कि-पुण्यतीर्थ निषेवण के हेतु यदृच्छाक्रम से महत् सेवा लाभ होती है जिससे वासुदेव-कथा में रुचि होती है। किसी अन्य कार्य्य के उद्देश्य को लेकर पवित्रतीर्थों में भ्रमणकारी जनों को वहाँ अवस्थित महापुरुषों का दर्शन, स्पर्शन, सम्भाषणादि रूप सेवा सहज में प्राप्त होती है, क्यों कि वहिर्म्मुख-

सेवा स्वत एव सम्पद्यते; तत्प्रभावेण तदीयाचरणे श्रद्धा भवति; तदीयस्वाभाविकपरस्परभगवत्कथायां किमेते संकथयन्ति तत्शृणोमीति तदिच्छा जायते; तच्छ्रवणेन च तस्यां रुचिर्जायत इति। तथा च महद्भ्य एव श्रुता झटिति कार्य्यं करोति भावः। तथाच कपिलदेववाक्यम्—"सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथा;" इत्यादि। ततश्च "शृण्वतां स्वकथाः कृष्णः पुण्यश्रवणकीर्त्तनः। हृद्यन्तःस्थो ह्यभद्राणि विधुनोति सुहृत् सताम्" ॥१२॥

कथाद्वारा अन्तःस्थो भावनापदवीं गतः सन् हरिरभद्राणि वासनाः। ततश्च, "नष्टप्रायेष्वभद्रेषु नित्यं भागवतसेवया। भगवत्युत्तमश्लोके भक्तिर्भवति नैष्ठिकी" ॥१३॥

जीव के लिये अन्यत्र इसका अनुसन्धान असम्भव है। उन महापुरुषों के प्रभाव से उन के आचरण में उन जनों की श्रद्धा होती है और उन महापुरुषों के मुखोद्भव स्वभाव-सिद्ध भगवत्-कथा में रुचि होती है। अर्थात् ये सब क्या कहते हैं श्रवण करें इस प्रकार इच्छा होती है। अतः यह हरिकथा महापुरुषों के मुख से श्रबण किये जाने पर अतिसत्वर कार्य्यकारी होती है। इस अभिप्राय को लेकर भगवान् कपिलदेव ने अपनी जननी देवहूति से कहा है—हे मातः! साधुओं के प्रकृष्ट संग से मेरा प्रभावज्ञापक, जीवों के हृत्कर्ण की रसायन कथा का संग होता है। साधुसंग से हरि-कथा में रुचिलाभ के बाद जिन की कथा का श्रवण तथा कीर्त्तन हृदय-शोधन-कारी है वे श्रीकृष्ण, अपने श्रवणकारी भक्तगणों के हृदय में विद्यमान होकर अशुभ वासनाओं को विदूरित करते हैं क्योंकि वे साधुजनों के परमबन्धु हैं ॥१२॥

श्रीहरि, कथाश्रवण के द्वारा भावना-पदवी के पथिक होकर

नष्टप्रायेषु न तु ज्ञानमिव सम्यङ्नष्टेषु इति भक्तेर्निरर्गल-स्वभावत्वमुक्तम् । भागवतानां भागवतशास्त्रस्य वा सेवया भक्तिरनुध्यानरूपा नैष्ठिकी सन्तता एव भवति । यदैव "त्रिभुवनविभवहेतवेऽप्यकुण्टस्मृती" त्याद्युक्तरीवत्या सर्ववासनानाशात् चित्तं शुद्धसत्त्वमग्नं सत् भगवत्तत्त्वसाक्षात्कारयोग्यं भवतीत्याह—"तदा रजस्तमोभावाः कामलोभादयश्च ये । चेत एतैरनाविद्धं स्थितं सत्त्वे प्रसीदति" ॥१४॥

विविध प्रकार से दुर्व्वासना विदूरित करते रहते हैं । अर्थात् जिस परिणाम में श्रीहरिचिन्तन का उदय होता है उसी परिमाण में दुर्व्वासना विदूरित होती है । बाद में समस्त दुर्व्वासना के नष्ट हो जाने पर नित्य भागवत सेबा के द्वारा उत्तम श्लोक भगवान् में नैष्ठिकी भक्ति का आविर्भाव होता है ॥१३॥

जिस प्रकार ज्ञान-साधन में ज्ञानीगणों की अशुभवासना के सम्यक्तया नष्ट न होने पर ध्रुवानुस्मृति का उदत नहीं होता है, उस प्रकार भक्तिमार्ग में सम्यक् वासना निवृत्ति की अपेक्षा नहीं है । अतः भक्ति का निरर्गलस्वभाव उक्त होता है । भागवतसेवा का तात्पर्य्य भगवज्जनों की अथवा भागवतशास्त्र की सेवा है उस से अनु-ध्यान रूपा नैष्ठिकी भक्ति होती है । अर्थात् जाग्रत्, स्वप्न एवं सुषुप्ति इन तीनों अवस्था में अविच्छेद रूप से प्रवृत्त होती है । तब तो "त्रिभुवन विभव प्राप्ति से भी जिसकी मति भगवच्चरणारविन्द से विचलित नहीं है वह वैष्णवचूड़ामणि है" इस रीति के अनुसार समस्त वासनाओं के नाश हो जाने पर चित्त विशुद्ध-सत्त्व में निमज्जित होकर भगवत्तत्त्वसाक्षात्कार की योग्यता प्राप्त करता है । इसी आशय से कहते हैं—तब रजः तथा तमः गुण से उत्पन्न लय-विक्षेप और काम-लोभ आदि एवं भगवच्चिन्तन के बाधक कषाय, रसास्वाद तथा

रजश्च तमश्च ये च तत्प्रभवा भावाः कामादयः एतैरित्य-न्वयः । "एवं प्रसन्नमनसो भगवद्भक्तियोगतः । भगवत्तत्त्व-विज्ञानं मुक्तसङ्गस्य जायते" ॥१५॥

एवं पूर्वोक्तप्रकारेण प्रसन्नमनसः ततो मुक्तसङ्गस्य त्यक्तकामादिवासनस्य भक्तियोगतः पुनरपि क्रियमाणात्त-स्माद्विज्ञानं साक्षात्कारो मनसि वहिभावनां विनैवानुभवो यः स जायते । तस्य च परमानन्दैकरूपत्वेन सतः फलरूपस्य साक्षात्कारस्य आनुषङ्गिकं फलमाह—"भिद्यते हृदयग्रन्थि-श्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः । क्षीयन्ते चास्य कर्म्माणि दृष्ट एवात्म-नीश्वरे" ॥१६॥

अप्रतिपत्ति आदि उस के चित्त का स्पर्श नहीं कर सकते क्यों कि उस का चित्त विशुद्धसत्त्व में अवस्थान करने के कारण सर्वदा प्रसन्न रहता है ॥१४॥

रज एवं तम और उन से समुत्पन्न काम-लोभ प्रभृति भावसमूह, इन से चित्त आकृष्ट नहीं होता है इस प्रकार अन्वय करना होगा। उस के बाद भगवत्तत्त्वज्ञान का आविर्भाव कहते हैं। इस प्रकार प्रसन्न-चित्त, मुक्तसंग भक्त के भगवद्भक्तियोग प्रभाव से हृदय में भगवत्त-त्त्व का अनुभव प्रकाश पाता है ॥१५॥

पूर्वोक्त प्रकार से प्रसन्न-चित्त अतएव मुक्तसंग अर्थात् कामादि-वासना रहित भक्त के पुनर्वार अनुष्ठित भक्तियोग से विज्ञान अर्थात् वहिर्भावना के विना मन में भगवत्तत्त्व-साक्षात्कार (अनुभव) उत्पन्न होता है। परमानन्द स्वरूप के होने के कारण फलरूप उस साक्षा-त्कार का आनुषङ्गिक फल कहते हैं—उस परम आत्मा स्वरूप ईश्वर

हृदयग्रन्थिरूपोऽहङ्कारः । सर्वसंशयाश्छिद्यन्त इति श्रवण-मननादिप्रधानानामपि तस्मिन् दृष्ट एव सर्वे संशयाः समाप्यन्त इत्यर्थः । तत्र श्रवणेन तावज्ज्ञेयगतासम्भावनाश्छिद्यन्त इति मननेन तद्गतविपरीतभावना साक्षात्कारेण त्वात्मयोग्यतागतासम्भावनाविपरीतभावने इति ज्ञेयम् । क्षीयन्ते तदिच्छामात्रेणैव न किञ्चिदेव तेष्ववशिष्यत इत्यर्थः । अत्र प्रकारणार्थे सदाचारं दर्शयन्नुपसंहरति—"अतो वै कवयो नित्यं भक्तिं परमया मुदा । वासुदेवे भगवति कुर्वन्त्यात्मप्रसादनीम्" ॥१७॥

का साक्षात्कार होने पर हृदय ग्रन्थि भेदन होती है, समस्त संशय नाश हो जाते हैं, और उस के समस्त कर्म्म क्षय हो जाते हैं ॥१६॥

देहादि में अहंकार ही हृदय-ग्रन्थि है, "सर्वसंशयाश्छिादद्यन्ते" इसका अर्थ अंगरूप श्रवण-मनन का प्रधानरूप से अनुष्ठान करने वालों का उस परमतत्त्व साक्षात्कार से ही सर्व प्रकार संशय मिट जाता है । उन में श्रवण द्वारा ज्ञेय परतत्त्व गत असम्भावना एवं मनन के द्वारा ज्ञेयगत विपरीत-भावना की निवृत्ति होती है परन्तु आत्म-तत्वसाक्षात्कार के द्वारा निज योग्यता गत असम्भावना तथा विपरीत भावना निवृत्त होती है । "क्षीयन्ते"इस का तात्पर्य्य-भगवदिच्छा मात्र से निखिल कर्म क्षय हो जाता है अर्थात् कृत, क्रियमाण एवं करिष्यमाण समस्त कर्म्म का अवशेष कुछ नहीं रहता है । अव इस प्रकरण बिषय में सदाचार दिखाकर प्रकरण का उपसंहार करते हैं–अतः बुधजन परम आनंद के साथ भगवान् वासुदेव में नित्य चित्तशोधन-कारिणी भक्ति करते हैं ॥१७॥

आत्मप्रसादनीं मनसः शोधनीम् । न केवलमेतावद्गुणत्वं तस्याः किञ्च परमया मुदेति कर्म्मानुष्ठानवन्न साधनकाले साध्यकाले वा भक्त्यनुष्ठानं दुःखरूपं प्रत्युत सुखरूपमेवे-त्यर्थः । अतएव नित्यं साधकदशायां सिद्धदशायाञ्च तावत् कुर्वन्तीत्युक्तम् ॥१।२॥ श्रीसूतः ॥३।१७॥

तदेवं कर्म्मज्ञानवैराग्ययत्नपरित्यागेन भगवद्भक्तिरेव कर्त्तव्येति मतम् । कर्म्मविशेषरूपं देवतान्तरभजनमपि न कर्त्तव्यमित्याह सप्तभिः । तत्रान्येषां का वार्त्ता, सत्यपि श्रीभगवत एव गुणावतारत्वे श्रीविष्णुवत् साक्षात् परब्रह्म-त्वाभावात् सत्त्वमात्रोपकारकत्वाभावाच्च प्रत्युत रज-

---

"आत्म-प्रसादिनी" अर्थात् मनः शोधनकारिणी, केवलमात्र भक्ति का यह गुण नहीं है, परन्तु "परमया मुदा" अर्थात् कर्म्मानुष्ठान की भाँति साधन एवं साध्यकाल में दुःखप्रद नहीं है, परन्तु वह साधन-साध्य दोनों काल में सुख रूप है । इसीलिये साधकदशा में तथा सिद्ध-दशा दोनों अवस्था में भगवान् की भक्ति की जाती है । इस अभिप्राय से नित्य शब्द का उल्लेख है ॥१८॥

अतः कर्म्म, ज्ञान, वैराग्यादि के प्रति प्रयत्न का परित्याग कर श्रीभगवान् में भक्ति का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है, यही इस प्रकरण का अभिमत है । देवतान्तर भजन नहीं करना चाहिये क्योंकि वह तो कर्म विशेष रूप है । सूतजी ने सात श्लोकों के द्वारा इसका निर्द्धारण किया है । देवतान्तर-उपासना में इन्द्रादिदेवता-गण की उपासना वार्त्ता तो दूर रही परन्तु भगवान् के गुणावतार होने पर भी विष्णु के समान साक्षात् परब्रह्मत्व का अभाव होने के कारण, वास्तविक रूप में रजः एवं तमः गुण के द्वारा आवृत्त होने से, कल्याण प्राथियों को

स्तमोपबृंहणत्वाच्च ब्रह्मशिवावपि श्रेयोऽर्थिभिर्नोपास्या-वित्यत्र द्वौ श्लोकौ परमात्मसन्दर्भ एवोदाहृतौ । "सत्त्वं रज-स्तम इति प्रकृतेर्गुणास्तैर्युक्तः परः पुरुष एक इहास्य धत्ते । स्थित्यादये हरिविरिञ्चिहरेति संज्ञाः श्रेयांसि तत्र खलु सत्त्वतनोर्नृणां स्युः । पार्थिवाद्दारुणो धूमस्तस्मादग्निस्त्रयी-मयः । तमसस्तु रजस्तस्मात् सत्त्वं यद्ब्रह्मदर्शनम्" ॥इति॥ सत्त्वतनोः सत्त्वशक्तेः । त्रयीमयस्त्रय्युक्तकर्मप्रचुरः । दारुस्था-नीयं तमः । धूमस्थानीयं रजः । अग्निस्थानीयं सत्त्वम् । त्रय्युक्तकर्मस्थानीयं ब्रह्म । त्रय्युक्तकर्म्म यथाग्नावेव साक्षात्

ब्रह्मा तथा शिवजी की भी उपासना नहीं करनी चाहिये, इस विषय को लेकर परमात्मासन्दर्भ में दो श्लोकों का उल्लेख किया गया है। "प्रकृति के सत्त्व, रजः एवं तमः ये तीन गुण हैं। एक परम पुरुष उन तीन गुणों से युक्त होकर इस विश्व की सृष्टि-स्थिति तथा संहार के लिये त्रिविध संज्ञा धारण करते हैं, अर्थात् सत्त्वगुण में हरि, रजो-गुण में ब्रह्मा एवं तमोगुण से हर संज्ञा प्राप्त होते हैं। उन में से सत्त्व-मूर्ति श्रीविष्णु से ही मनुष्यों का परम कल्याण होता है। जिस प्रकार पृथ्वीके विकारभूत काष्ठ से धूम्र उत्पन्न होता है और उस उत्पन्न अग्नि से यज्ञ कर्म समाधान होता है उसी प्रकार। यहाँ काष्ठस्थानीय रजोगुण,अग्निस्थानीय सत्त्वगुण और वेदोक्त कर्मस्थानीय ब्रह्म है। यहाँ "सत्त्वतनोः" का अर्थ सत्त्वशक्ति है,त्रयीमय का अर्थ वेदोक्त-कर्म-प्रचुर है। जिस प्रकार वेदोक्त कर्म अग्नि के द्वारा साक्षात् प्रवर्त्तित होता है परन्तु काष्ठअवस्था में एवं धूम्र- ावस्था में नहीं इसी प्रकार काष्ठ-स्थानीय तमो गुण से आवृत शिवजी से तथा धूम्रस्थानीय रजो-गुण के द्वारा आवृत ब्रह्मा से मानव का परतत्व साक्षात्कार रूप

प्रवर्त्तते नान्ययोस्तद्वत् परब्रह्मभूतो भगवानपि सत्त्व एवेत्यर्थः । देवतान्तरपरित्यागेनापि भगवद्भक्तौ सदाचारं प्रमाणयति—"भेजिरे मुनयोऽथाग्रे भगवन्तमधोक्षजम् । सत्त्वं विशुद्धं क्षेमाय कल्पन्ते येऽनु तानिह" ॥१८॥

अथ अतो हेतोः । अग्रे पुरा । सत्त्वं विशुद्धं विशुद्ध-सत्त्वात्मकमूर्तिं भगवन्तम् । प्राकृतसत्त्वातीतत्वञ्च तस्य विवृतं भगवत्सन्दर्भे । अतो येताननुवर्त्तन्ते ते इह संसारे क्षेमाय कल्पन्ते । नन्वन्यान् भैरवादीन् देवानपि केचिद्भजन्तो दृश्यन्ते सत्यं यतस्ते सकामाः, किन्तु मुमुक्षवोऽप्यन्यान्न

कल्याण नहीं है परन्तु प्रकाश बहुल सान्निध्यमात्र से सत्त्वगुण के उपकारक श्रीविष्णु से ही है । देवतान्तर का परित्याग कर भगवान् की भक्ति करना कर्त्तव्य है, इस विषय में सदाचार दिखाते हैं—"अतः मुनिगण अनुगत होकर देवतान्तर उपासना का त्याग कर पहले अधोक्षज भगवान् की भक्ति करते हैं । क्यों कि भगवान् विशुद्ध सत्त्वात्मक-मूर्त्ति-स्वरूप हैं । वे मुनिगण भगवत् साक्षात्कार रूप मङ्गल-लाभ में अधिकारी होते हैं" ॥१८॥

इसी लिये पूर्वकाल से जो सब उन मुनियों के अनुगत होकर देवतान्तर उपासना का परित्याग कर भगवान् की भक्ति करते हैं वे । सत्त्व-विशुद्ध का अर्थ विशुद्ध सत्त्वात्मक मूर्त्ति वाले भगवान् हैं । वे प्राकृतसत्त्व से अतीत हैं यह भगवत्सन्दर्भ में विवृत हुआ है । अच्छा ! कोई कोई भैरवादि देवताओं का भजन करते हैं ऐसा देखा जाता है । इस का उत्तर यह है—तुम सत्य कहते हो,परन्तु वे सकामी हैं और जो मुक्ति लाभ की इच्छा रखते हैं वे भैरवादि अन्य देवताओं का भजन नहीं करते हैं । जब ऐसा है तो भगवान् की भक्ति को

भजन्ते किमुत तद्भक्त्येकपुरुषार्था इत्याह—"मुमुक्षवो घोररूपान् हित्वा भूतपतीनथ । नारायणकलाः शान्ता भजन्ति ह्यनसूयवः ॥१९॥

भूतपतीनिति पितृप्रजेशादीनामुपलक्षणम् । अनसूयवो देवतान्तरानिन्दकाः । ननु कामलाभोऽपि लक्ष्मीपतिभजने भवत्येव तर्हि कथमन्यांस्ते भजन्ते तत्राह—"रजस्तमः प्रकृतयः समशीला भजन्ति वै । पितृभूतप्रजेशादीन् श्रियैश्वर्य्यप्रजेप्सवः" ॥२०॥

रजस्तमः प्रकृतित्वेनैव पित्रादिभिः समं शीलं येषाम् ।

पुरुषार्थ मानने वालों को कहना ही क्या है इस बात को एक श्लोक के द्वारा कहते हैं—मुमुक्षुगण घोरमूर्त्ति वाले भूतपति भैरवादिओं का परित्याग कर तथा देवतान्तर अनिन्दक होकर प्रशान्तचित्त से नारायण की मुर्तियों का भजन करते हैं ॥१९॥

"भूतपतीन्" इस श्लोक में कथित भैरवादि-पद पितृपुरुष तथा प्रजापति आदि का उपलक्षक अर्थात् ग्राहक है । "अनसूयव" का अर्थ देवतान्तर अनिन्दक हैं । अच्छा ! यहाँ इस प्रकार प्रश्न हो सकता है कि—कामना-लाभादि लक्ष्मीपति-भजन से भी हो सकता है तो वे क्यों अन्य देवताओं का भजन करते हैं इसका उत्तर एक श्लोक में कहते हैं—जो सकामी हैं वे प्रायः राजस-तामस प्रकृति सम्पन्न होते हैं । अतः रजः तमः प्रकृतिक भैरव प्रमुख पितृ-प्रजापति आदि के स्वभाव के साथ उनका साम्य है । इसीलिये वे सम्पत्ति, ऐश्वर्य एवं पुत्रादि कामना कर पितृपुरुष, भूतपति एवं प्रजापति आदि का भजन करते हैं यह श्लोकार्थ है ॥२०॥

रजस्तमः स्वभाव होने के कारण पितर, भूत, प्रजेशादि के साथ

समशीलत्वादेव तद्भजने प्रवृत्तिरित्यर्थः। ततो वासुदेव एव भजनीय इत्युक्तम्। सर्वशास्त्रतात्पर्यञ्च तत्रैवेत्याह द्वाभ्याम्-

"वासुदेवपरा वेदा वासुदेवपरा मखाः। वासुदेवपरो योगो वासुदेवपराः क्रियाः। वासुदेवपरं ज्ञानं वासुदेवपरं तपः। वासुदेवपरो धर्मो वासुदेवपरा गतिः" ॥२१॥

टीका च—वासुदेवः परस्तात्पर्यगोचरो येषां ते। ननु वेदा मखपरा दृश्यन्ते इत्याशङ्क्य तेऽपि तदाराधनार्थत्वात्तत्परा एवेत्युक्तम्। योगा योगशास्त्राणि। तेषामप्यासनप्राणायामादिक्रियापरत्वमाशङ्क्य तासामपि तत्प्राप्त्यु-

---

सकामी पुरुषों का स्वभाव से ऐक्य है, इस समशील स्वभाव के कारण उन की भजन में प्रवृत्ति होती है। अतएव वासुदेव ही भजनीय हैं यह कहा गया। श्रीवासुदेव-भजन में सर्व शास्त्रों का तात्पर्य है उसे दो श्लोकों से बतलाते हैं—वेद समूह वासुदेव-आराधन-परक है, यज्ञ समूह वासुदेव-आराधन परक है, योग भी वासुदेव-परक है, क्रिया समूह वासुदेव-परक है, ज्ञान भी वासुदेव-परक है, तपस्या-समूह वासुदेव-परक है, धर्म-समूह वासुदेव परक है तथा गतियाँ भी वासुदेव-परक हैं ॥२१॥

टीका की व्याख्या—वासुदेव हैं पर अर्थात् तात्पर्य-गोचर जिन के वैसे हैं। अर्थात् समस्त वेद कहीं गौणीवृत्ति से कहीं मुख्य-वृत्ति से, कहीं अन्वय-मुख से, कहीं बा व्यतिरेकमुख से वसुदेवनन्दन श्रीकृष्ण का प्रतिपादन करते हैं। अच्छा! वेद-समूह मख-परक दिखते हैं इस प्रकार आशंका कर कहते हैं कि वे भी वासुदेव-आराधना को उद्देश्य कर अनुष्ठित होते हैं क्यों कि समस्त यज्ञ के ईश्वर श्रीहरि हैं। "सर्वयज्ञेश्वरो हरिः" इत्यादि नाना वचन मौजूद हैं। योग-शब्द का अर्थ योगशास्त्र समूह है। उनके आसन-प्राणायाम

पायत्वात्तत्परत्वमुक्तम् । ज्ञानं ज्ञानशास्त्रम् । ननु तज्ज्ञान-परमेवेत्याशङ्क्य ज्ञानस्यापि तत्परत्वमुक्तम् । तपोऽत्र ज्ञानम् । धर्मो धर्म्मशास्त्रं दानव्रतादिविषयम् । ननु तत् स्वर्गादिपरमित्याशङ्क्य गम्यते इति गतिः स्वर्गादिफलं सापि तदानन्दांशरूपत्वात्तत्परैवेत्युक्तम् । यद्वा वेदा इत्यनेनैव तन्मूलत्वात् सर्वाणि अपि वासुदेवपराणीत्युक्तम् । ननु तेषां मखयोगक्रियादिनानार्थपरत्वान्न तदेकपरत्वमित्याशङ्क्य मखा-

---

आदि क्रियापरत्व की शंका कर उन्हें भी वासुदेव-प्राप्ति-उपाय होने के कारण वासुदेव-परक कहते हैं। ज्ञान-शब्द का अर्थ ज्ञान-शास्त्र है वे भो वासुदेव-प्रतिपादक हैं। अच्छा ! जीव एवं ईश्वर में चित्स्वरूप की साम्यता-रूप अभेदानुसन्धान ही शास्त्रों का तात्पर्य है, तुम वासुदेव-परत्व किस प्रकार कहते हो ? इस का उत्तर यह है कि- ज्ञान-साधन का तात्पर्य वासुदेवानुभव है। "बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते। वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः" इस गीता के श्लोक में ज्ञान का मुख्य-तात्पर्य वासुदेवानुभूति है। तप-शब्द का अर्थ ज्ञान है अर्थात् ज्ञान-साधनभूत वस्तु है। सम शब्द का अर्थ दान-व्रतादि-विषयक है। वे भी वासुदेब-परक हैं। अच्छा ! वे भी स्वर्ग-परक दिखनेमें आते हैं इस प्रकार आशंकाकर कहते हैं-"वासुदेवपरा गतिः" "गम्यते इति गतिः" अर्थात् जो वस्तु प्राप्त होती है उसका नाम गति है। प्राप्त्यर्थ में गम् धातु का प्रयोग भी है। बह सकामभूत स्वर्गादि फल-रूप है। वह भी वासुदेवानन्दांशरूप होने के कारण वासुदेव-परक है। आनन्दांश रूप का तात्पर्य्य आनन्दा-भास मात्र है। वैषयिकसुख तो भगवत् सुख की प्रतिच्छाया-मात्र है। अथवा "वेदाः" इस शब्द से वासुदेवमूलत्व होने के कारण समस्त वेदों का वासुदेव परत्व कहा गया है। अच्छा ! उनके मख-योग-क्रियादि नानार्थपरत्व दिखा जाता

दीनामपि तत्परत्वमुक्तमिति द्रष्टव्यमित्येषा। अत्र योगादीनां कथञ्चिद्भक्तिसाचिवत्वेनैव तत्परत्वं मुख्यं द्रष्टव्यम्। तदेवं द्वाविंशत्या तद्भजनस्यैवाभिधेयत्वं दर्शयित्वा पूर्वोक्तं सर्वशास्त्रसमन्वयमेव स्थापयति–"स एवेदं ससर्जाग्रे भगवानात्ममायया। सदसद्रूपया चासौ गुणमय्यागुणो विभुरि"त्यादि ॥२२॥

टीका च—ननु जगत्सर्गप्रवेशनियमनादिलीलायुक्ते वस्तुनि सर्वशास्त्रसमन्वयो दृश्यते कथं वासुदेवपरत्वं सर्वस्य

है। अत: वे वासुदेव-परक नहीं हैं इस प्रकार आशंका कर कहते हैं– मखादिकों का भी तत्परत्व है। श्रीधरस्वामी ने टीका में ऐसा ही कहा है। अर्थात् यहाँ तक उनकी व्याख्या है। यहाँ योगादिकों के किसी भी प्रकार से भगवद्भक्ति-साधन में साहाय्यकारित्व होने के कारण वासुदेव ही उन शास्त्रों का व साधनों का मुख्य तात्पर्य हैं यह दिखलाया गया है। इस प्रकार श्रीसूतजी वत्तिस (३२) श्लोकों से वासुदेव भजन का अभिधेयत्व दिखलाकर अब एक श्लोक से पूर्वोक्त-सर्वशास्त्र समन्वयत्व का स्थापन करते हैं–आगे उन भगवान् वासुदेवने निजाधीन कार्य कारण रूप गुणमयी माया के द्वारा महत्तत्व से आरम्भ कर विरञ्चि पर्य्यन्त सब की सृष्टि की। परन्तु माया के द्वारा समस्त सृष्ट करके भी वे मायागुण से अलिप्त हैं क्यों कि वे व्यापक हैं। परिच्छिन्न माया अपरिच्छन्न वस्तु स्वरूप वासुदेव को आवरित नहीं कर सकती है यह श्लोकार्थ है ॥२२॥

टीका–जगत की सृष्टि, पालन एवं संहारादि लीला से युक्त जो वस्तु है उसमें समस्त शास्त्र का समन्वय दिखा जाता है तो वासुदेव-परत्व की सम्भावना कैसे हो सकती है। उसके उत्तर में कहते हैं–उन

तत्राह स एवेति चतुर्भिरित्येषा। इदं महदादिविरिञ्चिपर्य्यन्तम्। एवं प्रवेशादिकापि उत्तरश्लोकेषु द्रष्टव्या। १॥२॥ श्रीसूतः श्रीशौनकम् ॥१८-२२॥

श्रीभागवताविर्भावकारणे श्रीनारदव्याससंवादेऽपि— "नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म्म यदप्यकारणम्" ॥इत्युदाहृतम्। टीका च—निष्कर्म ब्रह्म तदेकाकारत्वान्निष्कर्मतारूपम् अज्यते अनेनेत्यञ्जनमुपाधिस्तन्निवर्त्तकं निरञ्जनमेवम्भूतमपि ज्ञानं अच्युते भावो भक्तिस्त-

---

वासुदेव ने ही पहले इस विश्व की सृष्टि की है। यह विषय चार श्लोकों से कहा गया है। यहाँ तक श्रीधरस्वामी की व्याख्या है॥ इदं शब्द का अर्थ महत्तत्व से आरम्भ कर विरञ्ची तक है। इस प्रकार परवर्त्ती तीन श्लोकों से वासुदेव की प्रवेशादि लीला दिखलाई जावेगी। प्रथमस्कन्ध के द्वितिय अध्याय अष्टादश श्लोक से ले कर द्वाविंश श्लोक पर्य्यन्त-शौनक के प्रति सूतवाक्य हैं॥

श्रीमद्भागवत के आविर्भाव के कारणरूप श्रीनारद-व्यास सम्बाद से भी भक्ति का अभिधेयत्व का उल्लेख है। प्रथमस्कन्ध के पंचमाध्याय में-"हे मुनिवर। नैष्कर्म्म्य एवं निरंजन ज्ञान भी यदि भगवान् में भक्तिरहित है तब वह अतिशय शोभा प्राप्त नहीं होता है। जब ऐसा है तब तो सर्वदा अमङ्गल स्वरूप निष्काम कर्म यदि भगवदर्पित नहीं है तब वह अत्यन्त रूप में शोभित नहीं होगा इस बिषयमें कहना ही क्या है। इसकी टीका में भी-"निष्कर्म्य ब्रह्म है। उस ब्रह्म के साथ एकाकारता-प्राप्त नैष्कर्म्म्यतारूप निष्कर्म्म्य है। "लिप्त होता है इसके द्वारा" इस व्युत्पत्ति सिद्ध अञ्जन शब्द का अर्थ "उपाधि है,"

द्वर्जितं चेदलमत्यर्थं न शोभते सम्यगपरोक्षाय न कल्पते इत्यर्थः । तदा शश्वत् साधनकाले फलकाले च अभद्रं दुःखरूपं यत् काम्यं कर्म यदप्यकारणमकाम्यं तच्चेति चकारस्यान्वयः । तदपि कर्म ईश्वरे नार्पितश्चेत् कुतः पुनः शोभते वहिर्मुखत्वेन सत्त्वशोधकत्वाभावादित्येषा । तदेवं ज्ञानस्य

उस उपाधि से रहित निरञ्जन हैं । इस प्रकार ज्ञान प्रच्युत भाव-भक्ति वर्ज्जित यदि है तब वह अतिशय-रूप से शोभित नहीं है अर्थात् सम्यक्तया अपरोक्ष साक्षात्कार की योग्यता-प्राप्त नहीं है । भक्ति-रहित ज्ञान की यदि यह दुरवस्था है तब साधनकाल में एवं फलकाल में दुःखमय काम्यकर्म यदि भगवान् में समर्पित नहीं है तब वह किस प्रकार शोभित हो सकता है ? क्यों कि वह तो वहिर्म्मुखता के कारण सत्वशोधन में असमर्थ है" । इत्यादि इस प्रकार ज्ञान का भक्तिसंसर्ग के बिना तथा कर्म का भक्तिपादकत्व के बिना व्यर्थत्व व्यक्त होता है। प्रथमस्कन्ध के पंचम अध्यायस्थ पंचदश श्लोक में–श्रीनारदजी ने श्रीकृष्ण-द्वैपायन के प्रति कहा है--हे मुनिवर ! हरिगुण-कीर्त्तन के विना तुमने महाभारतादि में जो धर्मादि वर्णन किया है वह अकिञ्चित्कर है । वस्तुतः अत्यन्त विरुद्ध है । क्योंकि स्वभावतः काम्यकर्म में अनुरक्त जन के सम्वन्धमें निन्दनीय काम्य कर्मादिका उपदेश तुम जैसे धर्मोपदेष्टा के लिये अन्याय है । इस प्रकार कह कर प्रथमस्कन्ध के पंचम अध्याय सप्तदश श्लोक में पुनः कह रहे हैं—

स्वधर्म परित्याग करके श्रीहरिचरण का भजन करते करते अपक्वावस्था में यदि उस भजन से पतित हो जाता है और वह भजनकारी यदि किसी नीच-योनि में गमन करता है तो उसका कोई अमङ्गल हो सकता है क्या ? और अभजनकारी स्वधर्म्मानुष्ठान करके भी क्या कोई फल लाभ कर सकता है ? यह श्लोकार्थ है ॥

भक्तिसंसर्गं विना कर्मणश्च तदुपपादकत्वं विना व्यर्थत्वं व्यक्तम् । किञ्च "जुगुप्सितं धर्मकृतेऽनुशासतः स्वभावरक्तस्य महान् व्यतिक्रमः" । इत्यादिकमुक्ताह—"त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्कोऽथ पतेत्ततो यदि । यत्र क्व वाभद्रमभूदमुष्य किं को वार्थ आप्तोऽभजतां स्वधर्म्मतः" ॥२३॥

टीका च—इदानीन्तु नित्यनैमित्तिकस्वधर्मनिष्ठामप्यनादृत्य केवलं हरिभक्तिरेवोपदेष्टव्या इत्याशयेनाह त्यक्त्वेति । ननु स्व र्मत्यागेन भजन् भक्तिपरिपाकेन यदि कृतार्थो भवेत्तदा न काचिच्चिन्ता । यदि पुनरपक्क एव म्रियेत भ्रश्येद्वा

श्रीस्वामीपादकृत इसकी व्याख्या—

अब नित्य-नैमित्तिक स्वधर्म निष्ठा का अनादर करके एक मात्र हरिभक्ति का उपदेश करना तुम्हारा कर्त्तव्य है इस आशय से "त्यक्त्वा स्वधर्म्मं" इत्यादि श्लोकों के द्वारा कहते हैं । यदि कहो कि—स्वधर्म्मत्याग कर भजन करते करते भक्तिपरिपाक में अर्थात् प्रेमभक्ति लाभ में यदि कृतार्थ होता है तो कोई चिन्ता की बात नहीं है । परन्तु यदि स्वधर्म्म त्याग करके श्रीहरिचरण में भक्ति करते करते अपक्व-दशा में अर्थात् प्रेम प्राप्ति के पहले मर जाता है अथवा भक्तिमार्ग से किसी प्रकार भ्रष्ट हो जाता है तब स्वधर्म परित्याग से अधर्म अवश्य होता है इस आशंका का उत्तर है—भजन से यदि पतित होता है अर्थात् किसी प्रकार से भ्रष्ट हो जाता है अथवा मर जाता है तो उस भक्ति रसिक के कर्म-अनधिकार जात किसी प्रकार अनर्थ की आशंका नहीं हो सकती । अपक्वावस्था में पतन को अङ्गीकार कर "वा" शब्द प्रयुक्त कटाक्ष भङ्गी पूर्वक कहते हैं—वह भक्ति-रसिक पतित होकर यदि किसी नीच-योनि में गमन करता है तो भी उसका कोई

तदा तु स्वधर्मत्यागनिमित्तोऽनर्थः स्यादित्याशङ्क्याह, ततो भजनात् पतेत् कथञ्चिद्भ्रश्येन्म्रियेत वा यदि तदापि भक्तिरसिकस्य कर्म्मानधिकारान्नानर्थशङ्का । अङ्गीकृत्याप्याह वा-शब्दः कटाक्षे, यत्र क्क वा नीचयोनावपि अमुष्य भक्तिरसिकस्य अभद्रमभूत् किं नाभूदेवेत्यर्थः भक्तिवासनासद्भावादितिभावः । अभजद्भिस्तु केवलस्वधर्मतः को वार्थ आप्तः । अभजतामिति षष्ठी सम्बन्धमात्रविवक्षया इत्येषा ॥१॥५॥ श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥२३॥

तदेवं भक्तिरेवाभिधेयं वस्त्वित्युक्तम् । तथैव श्रीशुकपरीक्षित्संवादोपक्रमेऽपि—"श्रोतव्यादीनि राजेन्द्र नृणां सन्ति सहस्रशः । अपश्यतामात्मतत्त्वं गृहेषु गृहमेधिनाम्" इत्यादि ॥२४॥

अमङ्गल नहीं होता है । काकु बचनसे उसका कोई अमङ्गल नहीं होता है यह सूचित किया गया है । क्यों कि उसकी भक्तिवासना की सद्-भावना नष्ट नहीं होती है ।

भक्त के लिये नीचयोनि अथवा उच्चयोनि दोनों ही समान हैं। भक्तिमार्ग में उत्तम वा अधम देहादि की कोई अपेक्षा नहीं है । जैसे कि- किसी ब्राह्मण के द्वारा विक्रीत सुवर्ण-खण्ड तथा शूद्र-कर्त्तृक विक्रीत सुवर्ण-खण्ड का एक ही मूल्य होता है । अभजनकारी को केवल स्वधर्म याजन से कौन अर्थ प्राप्त हो सकता है ? अर्थात् कोई नहीं । "अभजताम्" यहाँ षष्ठी-सम्बन्ध मात्र विवक्षा से है ॥२३॥

इस प्रकार से भक्ति ही एक मात्र अभिधेय बस्तु है अर्थात् कर्त्तव्य है यह कहा गया । जिस प्रकार व्यास-नारद सम्बाद में भक्ति का

गृहेष्वित्यादिकमुपलक्षणं वहिर्मुखानाम् । आत्मतत्त्वं भगवत्तत्त्वं तथा निगमयिष्यमाणत्वात् । निगमयति— "तस्माद् भारत ! सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यश्चेच्छताभयम्" ॥२५॥

एकमात्र अभिधेयत्व कहा गया है उसी प्रकार श्रीशुक-परीक्षित् सम्बाद के प्रारम्भ में भी भक्ति का अभिधेयत्व प्रकाश किया गया है—हे राजेन्द्र ! आत्मतत्त्व में दृष्टि रहित गृहासक्त मनुष्यों के हजार हजार श्रोतव्यादि कर्त्तव्यता का विधान मौजूद है यह श्लोकार्थ है ॥२४॥

श्लोक में "गृहेषु" इत्यादि पद उपलक्षण मात्र है जो बहिर्मुख जीवों का ग्राहक है । अर्थात् जब तक भगवद्बहिर्मुखता दोष रहेगा तब तक बहुत सुनने का, बोलने का, करने का, किम्बा भाबना का विषय रहेगा ही । यहाँ आत्मतत्त्व भगवत्तत्त्व है, इस प्रकार व्याख्या करने का उद्देश्य आगे भगवच्चरणारबिन्द में उन्मुखता का प्रतिपादन किया जावेगा । प्रतिपादन यह है—"हे भारत ! अतएव सर्वात्मा भगवान् ईश्वर श्रीहरि अभय-प्रार्थीजनों के श्रोतव्य हैं, कीर्त्तनीय हैं और स्मरणीय हैं" । यह श्लोकार्थ है ।

स्वामिपादकृत टीका की व्याख्या—

"सर्वात्मा" इस शब्द से भगवान् का प्रेष्ठत्व अर्थात् प्रियतमत्व कहा गया है । "भगवान्" इस शब्द से सौन्दर्य का उल्लेख है । "ईश्वर" शब्द से भजन की अवश्य कर्त्तव्यता बतलाई गई है । "हरि" शब्द से बन्धहारित्व का उल्लेख है । "अभय" शब्द का अर्थ मोक्ष है । उस की इच्छा करने वालों के यह टीका की व्याख्या है । टीका में मोक्ष-शब्द का उल्लेख है । यहाँ मोक्ष-शब्द का अर्थ समस्त क्लेश निवृत्ति पूर्वक भगवत्प्राप्ति जानना ।

टीका च—सर्वात्मेति प्रेष्ठत्वमाह-भगवानिति सौन्दर्य्यं ईश्वर इत्यावश्यकत्वं हरिरिति बन्धहारित्वम् अभयं मोक्ष-मिच्छता इत्येषां मोक्षस्तु सर्वक्लेशशान्तिपूर्वकभगवत्प्राप्ति-रेवेति ज्ञेयम्। एतदनन्तरविरा-ड्‌धारणामुक्त्वा तदपवादेनापि भक्ति तामाह—"स सर्वधीवृत्त्यनुभूतसर्व आत्मा यथा स्वप्नजनेक्षितैकः। तं सत्यमानन्दनिधिं भजेत नान्यत्र सज्जेद् यत आत्मपातः" ॥२६॥

इस प्रकार उपदेश के बाद विराट्-धारणा का उल्लेख कर उस विराट् धारणा में चित्तावेश होना दोषावह दिखाकर उस को भग-द्भक्ति रूप में प्रतिपादित किया जाता है।—

स्वप्नद्रष्टा जीव जिस प्रकार स्वप्न में उपस्थित व्याघ्र, सर्प, मनुष्य आदि बस्तु को अकेला देखता है उस प्रकार पूर्व-वर्णित विराट् धारणा में सिद्ध योगी-पुरुष बुद्धिवृत्ति-समूह के द्वारा विराट्गत समस्त अनुभव कर सत्य स्वरूप, आनन्दनिधि, विराटान्तर्यामी उन भगवान् नारायण का भजन करेंगे तथा विराट्गत किसी बस्तु में आसक्त नहीं होंगे। क्यों कि उस से आत्मा का अधः पात अर्थात् संसारदशा प्राप्त होती है। टीकाव्याख्या—

जो सब की धीवृत्ति के द्वारा समस्त बस्तु का अनुभव किया करते हैं उन एकमात्र सर्वात्मरात्मा अर्थात् सर्वान्तिर्यामी सत्य स्वरूप भगवान् का भजन करें। अन्य किसी उपाधि में आशक्त न हों। क्योंकि आत्मभिन्न अन्य किसी जड़ बस्तु में आसक्त होने पर आत्मा का अधः पतन हो जाता है अर्थात् संसारदशा आ जाती है। एक ही परमात्मा किस प्रकार सब के उन उन ज्ञानेन्द्रिय समूह के द्वारा सब के सर्व विषय का अनुभव करता है इस पर दृष्टान्त यह है—

टीका च—सर्वेषां धीवृत्तिभिरनुभूतं सर्वं येन स एक एव सर्वान्तरात्मा । तमेव सत्यं भजेत । अन्यत्रोपलक्षणे न सज्जेत । यत आसङ्गादात्मनः पातः संसारो भवति । एकस्य तत्तदिन्द्रियैः सर्वानुभूतौ दृष्टान्तः स्वप्नजनानामीक्षिता यथेति । स्वप्नेऽपि कदाचिद्बहून् देहान् प्रकल्प्य जीवस्तत्त-दिन्द्रियैः सर्वं पश्यति तद्वदीश्वरस्य तु विद्याशक्तित्वान्न बन्ध इत्येषा । अत्र स्वधीवृत्तिभिः पश्यन्नेव सर्वेषां धीवृत्तिभिरपि सर्वं पश्यतीत्येव तथोक्तम् । स ऐक्षतेत्यत्र सर्वधीवृत्तिसृष्टेः पूर्वमपि तच्छ्रवणात् । तथा स्वप्नदेहानामीश्वरकर्तृकत्वेऽपि

जीव जिस प्रकार स्वप्न में नाना-शरीर कल्पना करके उन उन देहों के इन्द्रियों से समस्त देखता है, उस प्रकार ईश्वर भी सबकी बुद्धिवृत्ति के द्वारा समस्त देखते हैं। जीव का ज्ञान अविद्या से आवृत होने के कारण बन्धन रूप माना जाता है और ईश्वर-ज्ञान विद्यामय होने के हेतु मुक्त-स्वरूप माना जाबेगा। अर्थात् जीव संसारी है और भगवान् मुक्त हैं। दोनों में येही भेद है। यह टीका की व्याख्या है।

यहाँ टीका में "अपनी धीवृत्तियों से देखते हुए भी सब की धीवृत्तियों से समस्त देखते हैं" ऐसा कहा गया है। स्वामिपाद का अभिप्राय यह है—ईश्वर निजबुद्धि के द्वारा समस्त देखते हुए भी सब की बुद्धिवृत्ति के द्वारा समस्त देखते हैं। यहाँ यह प्रश्न नहीं उठ सकता है कि—सर्वान्तर्य्यामी पुरुष की अपनी बुद्धिवृत्ति की सत्ता किस प्रकार हो सकती है। क्यों कि सब की बुद्धिवृत्ति अर्थात् ज्ञानेन्द्रियसृष्टि के पहले "स ऐक्षत" अर्थात् "उन्होंने देखा" इस श्रुति में सर्व्वदर्शन करने की क्षमता बतलाई जा चुकी है। श्लोक में जिन्होंने सब की बुद्धिबृत्ति के द्वारा समस्त देखा ऐसा उल्लेख नहीं है। "सत्यं भजेत"

जीवकर्तृकप्रकल्पनकथनं तत्सङ्कल्पद्वारैवेश्वरः करोतीत्यपेक्षायामुक्तम् । यः सर्वधीत्यनुक्तत्वात् । सत्यं भजेतेति योजयितव्यस्य कर्त्तुर्विद्यमानत्वादयमेवार्थः । स तथाभूतविराड्धारणासिद्धो योगी विराड्गतसर्वाभिर्धीवृत्तिभिर्ज्ञानेन्द्रियैरनुभूतं सर्वं विराड्गतं येन तथाभूतोऽपि सन् तं सत्यमानन्दनिधिं विराडन्तर्यामिणं श्रीनारायणमेव भजेत अन्यत्र विराड्गते कुत्रापि न सज्जेत यतः सज्जनादात्मपातः संसार एव स्यात् । तस्य सर्वानुभूतौ दृष्टान्तः, आत्मा

अर्थात् सत्य स्वरूप भगवान् का भजन करें इस कर्त्तृपद की योजना करने के लिये निम्नलिखित अर्थ करना होगा। श्लोक स्थित "सः" अर्थात् पूर्व वर्णित योग-धारणा-सिद्ध योगीपुरुष विराट् गत सब की बुद्धिवृत्ति के द्वारा विराट् गत-समस्त अनुभव करके भी उन में आसक्त न होकर श्रीनारायण का भजन करें। उन में आसक्ति करने पर संसार-दशा उपस्थित होती है अतः अनासक्त होकर भजन करें।
नारायण के सर्वानुभव विषय में दृष्टान्त—
"आत्मा" अर्थात् स्वप्नद्रष्टा जीव जिस प्रकार स्वप्नगत समस्त व्यक्ति का एवं तदुपलक्षित समस्त वस्तु का एक ही भाव से द्रष्टा होता है उसी प्रकार से जानना। इस श्लोक में-"तं" अर्थात् "उन को" इस प्रकार उल्लेख के द्वारा "स ऐक्षत" अर्थात् उन परम पुरुष ने प्रकृति का ईक्षण किया, और "परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान-बल-क्रिया च" अर्थात् उन परम पुरुष की अन्य निरपेक्षा विविध शक्तियाँ हैं जो स्वाभाविकी अर्थात् स्वरूप से अभिन्ना हैं। जो प्रधानतः ज्ञान, बल एवं क्रिया-भेद से तीन प्रकार हैं इस प्रकार श्रुति वचन हैं। अतः परमेश्वर की अन्य-निरपेक्ष ज्ञानादि शक्ति की सत्ता प्रसिद्ध है। "सन्ध्ये सृष्टिराह" "मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूप-

स्वप्नद्रष्टा जीवो यथा स्वप्नगतानां सर्वेषां जनानां तदुपलक्षितानां वस्तूनाञ्च य एक एव ईक्षिता भवतीति तद्वत् । अत्र तमित्यनेन स ऐक्षतेति स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया चेति श्रुतिप्रसिद्धपरानपेक्षज्ञानादिसिद्धेस्तथा सान्ध्ये सृष्टिराह हि मायामात्रं तु कार्त्स्न्येनानभिव्यक्तस्वरूपत्वादिति न्यायप्राप्तेन स्वप्नस्यापि कर्त्तृत्वेन जाग्रदादिमयजगत्कर्त्तृत्वस्य पूर्णत्वप्राप्तेर्वैलक्षण्यं दर्शितम् । सत्यादिद्वयेन परमपुरुषार्थत्वञ्चेति ज्ञेयम् ॥२॥१॥ श्रीशुकः ॥२४-२६॥

त्वात्" इत्यादि वेदान्त सूत्रों में स्वाप्निक पदार्थ के निर्माता भगवान् हैं जीव नहीं है ऐसा बतलाया गया है। सारार्थ यह है कि—स्वप्न-कल्पित देहादि के ईश्वर-कर्त्तृकत्व में भी जीव-कर्त्तृक प्रकल्पन कथन, जीव-संकल्प द्वारों से ईश्वर ही करते हैं इस अपेक्षा को लेकर कहा गया है। जो सब की बुद्धिवृत्ति को प्रेरित करते हैं यह भी कहा गया है।

उपरोक्त दोनों सूत्रों का भावार्थ—

जागरण एवं सुषुप्ति इन दोनों अवस्था के मध्यवर्त्ती सान्ध्य-अवस्था है। "सन्धि-भव इति सान्ध्य" इस व्युत्पत्ति बल से सान्ध्य शब्द स्वप्नवाचक है। उस स्वप्नावस्था में रथादिक जो सृष्टि है उसे परमेश्वर ही करते हैं। क्यों कि श्रुतियाँ परमेश्वर को स्वप्नरथादि-सृष्टि के कारण रूप में घोषित करती हैं।

दूसरे सूत्र का अर्थ—स्वाप्निक पदार्थ समूह के निर्माण-कर्त्ता परमेश्वर हैं। वे अतर्क्या मायाशक्ति के प्रभाव से जीव के अल्प अल्प कर्मानुयायी-फलभोग के लिये स्वप्नद्रष्टा पुरुष मात्र का अल्प-मात्र समय रथादिसृष्टि करा कर भोग-सम्पादन करा देते हैं। इस में जीव का कोई कर्त्तृत्व नहीं है ॥२४-२६॥

एतदनन्तराध्यायेऽपि तथैवाह—"यावन्न जायेत परावरेऽस्मिन् विश्वेश्वरे द्रष्टरि भक्तियोग:। तावत् स्थवीयः पुरुषस्य रूपं क्रियावसाने प्रयत: स्मरेत" ॥२७॥

इसके अतन्तर-अध्याय में भी उसी प्रकार कहा गया है। जब तक ब्रह्मादि के अध्यक्ष, विश्वेश्वर, सर्वद्रष्टा इन भगवान् में भक्तियोग का आविर्भाब नहीं होता है तब तक आवश्यक कर्म्मानुष्ठान के बाद संयत-चित्त से भगवान् के विराट्-रूप का स्मरण करें। यह श्लोकार्थ हैं।—

परावर-शब्द का अर्थ-ब्रह्मादि जो परतत्व हैं वे अवर अर्थात् कनिष्ठ हैं जिनसे। विश्वेश्वर-सबके आराध्य,द्रष्टा-चैतन्यघन विग्रह के होने के हेतु सबके द्रष्टा हैं परन्तु दृश्य नहीं हैं। भक्तियोग का अर्थ-पूर्ववर्णित कोई कोई अपने हृदयाभ्यन्तर-निवासी, प्रादेशमात्रक, चतुर्भुज-शंख-चक्र-गदा-पद्मधारी नारायण स्वरूप पुरुष का धारणादि के द्वारा स्मरण करते रहते हैं इत्यादि इस प्रकार साधन में अभिनिवेश। क्रियावसान में-अर्थात् आवश्यक कर्मानुष्ठान के बाद। इस प्रकार उल्लेख कर जब तक भक्तियोग लाभ नहीं होता है तबतक कर्म करना होगा, तथा भक्तिलाभ के बाद कर्म करने का प्रयोजन नहीं है ऐसा कहा गया है। अनन्तर—२।२।१५श्लोक में—

"हे राजन्! उक्त लक्षण योगी जब इहलोक का तथा शरीर का त्याग करने की इच्छा करता है तब पुण्यक्षेत्र वा उत्तरायणादि की अपेक्षा न कर स्थिरभाव से सुख पूर्वक उपवेश कर मन के द्वारा प्राण-वायु को संयत कर प्राणत्याग करता है।" पन्द्रह से लेकर बाईसवें श्लोक में—वह योगी पुरुष, यदि पारमेष्ठ्य पद प्राप्त करने की इच्छा करता है, अथवा खेचर सिद्धगण की क्रिड़ास्थली प्राप्त करने की इच्छा रखता है किम्बा अणिमादि अष्ट ऐश्वर्य्य की इच्छा रखता है अथवा सत्त्व-रज-तम: गुण के मिश्रण ब्रह्माण्डों में जाने की इच्छा रखता है

परे ब्रह्मादयोऽवरे यस्मात् । विश्वेश्वरे द्रष्टरि न तु दृश्ये चैतन्यघनत्वात् । भक्तियोगः, "केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम् । चतुर्भुजं" इत्यादिनोक्तसाधनलक्षणाभिनिवेशः ? क्रियावसाने आवश्यककर्मानुष्ठानानन्तरम् । अनेन कर्मापि भक्तियोगपर्य्यन्तम् इत्युक्तम् । अनन्तरञ्च, स्थिरं सुखञ्चासनमास्थितो यतिर्यदा जिहासुरित्यादिना,यदि प्रयास्यन्नृप पारमेष्ठ्यां वैहाय सानामुत यद्विहारमित्यादिना च, क्रमेण सद्योमुक्तिक्रममुक्त्युपायौ ज्ञानयोगावुक्त्वा ततोऽपि श्रेष्ठत्वं भक्तियोगहेतुभगवदर्पितकर्म्मण एवोक्त्वा साक्षाद् भक्तियोगस्य कैमुत्यमेवानीतम् । यथा—न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था विशतः संसृताविह । वासुदेवे भगवति भक्तियोगो यतो भवेत् ॥२८॥

तब देह-त्याग के समय मन तथा इन्द्रियों का त्याग न कर उन मन-इन्द्रियों के साथ उन उन लोकों में भोग के लिये गमन करें ॥ इत्यादि श्लोकों से सद्यमुक्ति तथा क्रममुक्ति प्राप्ति के उपाय-भूत ज्ञान तथा अष्टाङ्गयोग का उल्लेख कर पूर्वोक्त ज्ञान एवं अष्टांगयोग से परम्परा रूप से भक्तियोग के हेतु-स्वरूप भगवान् में अर्पित कर्म को ही श्रेष्ठ रूप में वर्णन कर कैमुत्यन्याय से साक्षात् भक्तियोग का श्रेष्ठत्व-प्रकाश किया गया है । उस साक्षात् भक्तियोग के श्रेष्टत्व के प्रमाण स्वरूप एक श्लोक का उल्लेख करते हैं—संसार में भ्रमणशील मानव की मुक्तिप्राप्ति के उपाय स्वरूप तपःयोगादि बहु साधन रहते हुए भी अति समीचीन उपायभूत यह भक्तियोग है,जिसके अनुष्ठान से भगवान् वासुदेव में रुचि उत्पन्न होती है, जिसके बिना सुखरूप अन्य कोई निर्विघ्न पथ नहीं है । यह श्लोकार्थ है ॥२८॥

टीका च—सन्ति संसरतः पुंसो वहवो मोक्षमार्गा-स्तपोयोगादयः। समीचीनस्त्वयमेवेत्याह नहीति। यतोऽनु-ष्ठिताद्भक्तियोगो भवेत् अतोऽन्यः शिवः सुखरूपो निर्विघ्नश्च नास्त्येवेत्येषा। यच्छब्देनात्र भगवत् सन्तोषार्थकं कर्मो-च्यते। स वै पुंसां परो धर्म इत्युक्तेः। स च भक्तियोगः सर्ववेदसिद्ध इत्याह—भगवान् ब्रह्म कार्त्स्नेन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषया। तदध्यवस्यत् कूटस्थो रतिरात्मन् यतो भवेत्॥२६॥

भगवान् ब्रह्मा। कूटस्थः निर्विकार एकाग्रचित्तः सन्नि-

इस की टीका में भी ऐसा ही कहा गया है। श्लोक में "यतो भवेत्" ऐसा प्रयोग है। यहाँ यत् शब्द से भगवत् सन्तोषार्थ कर्म ही कहा गया है। क्योंकि पहले "स वै पुंसां परो धर्म्मः" इस श्लोक में भगवदर्पित कर्म से ही भगवद्भक्ति में रुचि का आबिर्भाव होता है इस प्रकार की व्याख्या की गई है। वह भक्तियोग सर्ववेद-सिद्ध है इस का कथन करते हैं—भगवान् ब्रह्मा ने निर्विकार-चित्तसे अपनी विचार शक्तिके द्वारा समस्त वेदों का तीन बार अनुशीलन कर निश्चय किया कि– जिससे आत्मा रूप श्रीहरि में प्रीति का आविर्भाव होता है वही जीव का मुख्य कर्त्तव्य है। यह श्लोकार्थ है।

यहाँ उपसंहार के अनुरोध से आत्म-शब्द श्रीहरिवाचक है। निरुक्तमत से अर्थात् अक्षरसाम्य में अर्थ करना होता है इस मत का अबलम्बन कर कहते हैं। आत्म-शब्द से "आततत्वात्" अर्थात् व्यापक होने के कारण "मातृत्वात्" अर्थात् धारण-पोषण के हेतु श्रीहरि को ही ज्ञात कराता है। अथवा सर्वज्ञता प्रभृति गुणसम्पन्न भगवान् परमेश्वर ने समस्त वेदों का अभिधेय अर्थात् कर्त्तव्योपदेश का सारार्थ आकर्षण-रूप लीलार्थ देख कर अर्थात् उन वेदों में शास्त्रज्ञ मुनियों की शास्त्रविचारण-दृष्टी का अनुकरण कर निश्चय किया है

त्यर्थः, त्रिस्त्रीन् वारान्, कार्त्स्नेचन साकल्येन, ब्रह्म वेदमन्वीक्ष्य विचार्य्य, यत आत्मनि हरौ रतिर्भवेत्तदेव भक्तियोगाख्यं बस्तु मनीषया अध्यवस्यत् निश्चितवान् । अत्राप्युपसंहारानुरोधेन आत्मशब्दस्य हरिवाचकता निरुक्तश्च आततत्वाच्च मातृत्वादात्मा हि परमो हरिरिति । अथवा भगवान् स्वप्रकाशसार्वज्ञ्यादिगुणः परमेश्वरोऽपि सर्ववेदाभिधेयसाराकर्षणलीलार्थमन्वीक्ष्य तत्र शास्त्रविदन्तराणामीक्षणमनुकृत्य । अनन्तवैकुण्ठवैभवादिमयानामनन्तविरिञ्चपाठ्यभेदानां वेदानां तथेक्षणञ्च तेनैव सम्भवतीत्याह, कुटस्थ एकरूपतयैव कालव्यापीति । अतएवोक्तं स्वयमेव—किं विधत्ते किमाचष्टे किमनूद्य विकल्पयेत् । इत्यस्य हृदयं लोके नान्यो मद्वेद कश्चनेति । तथैव यच्छ्रोतव्य इत्यादिना प्रश्न-

---

कि-भक्तियोग से ही आत्मस्वरूप अपने में रति का उदय होता है। अनन्त वैकुण्ठ-वैभवादि-मय अनन्त ब्रह्मा के पाठ्यभेद स्वरूप वेदों की समालोचना उन परमेश्वर के द्वारा ही सम्भावित है अन्य से नहीं इस अभिप्राय से भगवान् शब्द का प्रयोग है। क्यों कि वे कूटस्थ हैं अर्थात् एक रूप से सर्वकालव्यापी हैं । अत एव एकादश-स्कन्ध में स्वयं श्रीकृष्ण ने उद्धवजी के प्रति कहा है—हे उद्धव ! कर्मकाण्ड ने विधिवाक्य समूह के द्वारा जो विधान किया है, देवताकाण्ड ने मन्त्रवाक्य के द्वारा जो प्रकाश किया है एवं ज्ञान-काण्ड ने अनुवाद कर जो निरोध किया है श्रुतियों के उन तात्पर्य्यों को मैं ही जानता हूँ अन्य कोई नहीं। उस प्रकार जो श्रोतव्य है जो कीर्त्तनीय है जो स्मरणीय है उस का उपदेश कीजिये इस परीक्षित् के प्रश्न के उत्तररूप में

स्योत्तरत्वेनोपसंहरति—तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम् ॥३०॥

चकारात् पादसेवादयोऽपि गृह्यन्ते । अनन्तरञ्च श्रवणादिफलं यद्दर्शितं तत्तूदाहृतम्—पिबन्ति ये भगवत आत्मनः सतां कथामृतं श्रवणपुटेषु संभृतम् । पुनन्ति ते विषयविदूषिताशयं व्रजन्ति तच्चरणसरोरुहान्तिकमिति । अत्र पुनन्तीत्यनेन पूर्वोक्तः स्थूलधारणामार्गः परिहृतः । भक्तियोगस्यैव स्वतः पावनत्वादलं तत्प्रयासेनेति ॥ २ ॥ २ ॥ श्रीशुकः ॥ २७–३० ॥

उपसंहार करते हैं—हे राजन् ! जब निखिल कर्त्तव्यता का सार भगवच्चरण की भक्ति है तब समस्त इन्द्रिय के द्वारा सर्वदा एवं सर्वत्र भगवान् श्रीहरि मनुष्य-मात्र के अवश्य श्रोतव्य, किर्त्तितव्य एवं स्मर्त्तव्य हैं । यह श्लोकार्थ है ॥३०॥

चकार शब्द से पादसेवादि भी ग्रहणीय हैं । अनन्तर श्रवणादि का फल जो दिखलाया गया है उसको उदाहरण रूप से उल्लेख करते हैं । जो साधुओं के मुख से क्षरित, श्रवण-रूप पात्र में धृत, साधुगण के अति अन्तरंग आत्मीयरूप में प्रकाशमान भगवान् के कथामृत का पान करते हैं वे विषय-कामना से मलिन चित्त का शोधन कर भगवान् के चरणकमल के समीप गमन करते हैं । यहाँ "पुनन्ति" अर्थात् विषय-वासना से मलिन चित्त का शोधन करते हैं इस प्रकार उल्लेख से पूर्व कथित स्थूल धारणामार्ग अर्थात् विराटधारणामार्ग परिहृत हो रहा है । क्योंकि भक्तियोग स्वतः ही परम पावन है । अतएव चित्त-शुद्धि के

एवं प्राक्तनाध्यायाभ्यां कर्मयोगज्ञानेभ्यः श्रेष्ठत्वमुक्त्वा तदुत्तराध्यायेऽपि सर्वदेवतोपासनेभ्यः श्रेष्ठत्वप्रवचनेन भगवद्भक्तियोगस्यैवाभिधेयत्वमाह — ब्रह्मवर्च्चसकामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिमित्याद्यनन्तरम्, अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः । तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥३१॥

लिये स्वतन्त्र प्रयास वृथा ही माना जाता है ॥ द्वितीय-अध्याय में शुकमुनि ने परीक्षित् महाराज के प्रति यह कहा है ॥२७–३०॥

इस प्रकार पूर्व दोनों अध्याय में कर्म, योग एवं ज्ञान से भक्ति का श्रेष्ठत्व वर्णन कर उसके बाद के अध्याय में अर्थात् तृतीय-अध्याय में समस्त देवता-उपासना से भक्ति का श्रेष्टत्व कह कर भगवद्-भक्ति-योग अभिधेय है अर्थात् अवश्य कर्त्तव्य है यह दिखलाया जा रहा है। अकाम हो, सर्वकामना करने वाला हो अथवा मोक्षकामी हो उदार-चित्त व्यक्ति तीव्र भक्तियोग से परमपुरुष श्रीहरि की उपासना करें॥ यह श्लोकार्थ है।

टीका—"अकाम एकान्त भक्त है, उक्त-अनुक्त समस्त काम-वाला सकाम है। पुरुष-शब्द का अर्थ पूर्ण निरूपाधि है।"

तीव्र अर्थात् दृढ़ भक्तियोग से जो कि विघ्न के द्वारा प्रतिहत नहीं है उस भक्तियोग से परमपुरुष का याजन करें। भक्तियोग में विघ्न का अवकाश नहीं है। वासना-पूर्त्ति तो अननुसन्धान से हो जाती है। महाभारत में कहा है—भक्त का जो समय है वह श्रीकृष्ण का भी समय है। अपने गृह में विष्णु-स्मरण ही भक्त की सेवा है। अपने भोग्य पदार्थ का विष्णु को समर्पण ही दान है। अथच इन से इन्द्रादि दुर्ल्लभ-फल प्राप्ति स्वतः ही आ जाती है। भागवत के ३।२१।२५ श्लोक में भगवान् ने कर्द्दम ऋषि के प्रति कहा है—हे प्रजाध्यक्ष ! हम में एकाग्र चित्त वालों की हमारी पूजा कभी विफल नहीं होती है। इस

टीका च—अकाम एकान्तभक्तः। उक्तानुक्तसर्वकामो वा। पुरुषं पूर्णं निरुपाधिमित्येषा। तीव्रेण दृढ़ेण स्वभावत एवानुपघात्येन इति विघ्नानवकाशतोक्ता। कामना तु याद्दच्छिकेनापि स्यात्। यथोक्तं भारते—भक्तक्षणः क्षणो विष्णोः स्मृतिः सेवा स्ववेश्मनि। स्वभोग्यस्यार्पणं दानं फलमिन्द्रादिदुर्लभम्। तदुक्तं श्रीकर्द्दमं प्रति–न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणमिति। यथा वा—यत्तत्-कामस्तीव्रेण यजेत। ततश्च शुद्धभक्तिसम्पादनायैवान्ते पर्य्यवसिष्यत्यसावित्यभिप्रायेण सविशेषणमुपदिष्टम्। तदनेनैकान्तभक्तेषु मुमुक्षौ वा तद्भक्तियोगस्यैवाभिधेयत्वं किं वक्तव्यमपि तु सर्वकामेष्वपीति तदेव सर्वथापि निर्णीतम्।

श्लोक में-वह कामना विशिष्ट क्यों नहीं हों परन्तु तीव्र भक्तियोग से परम पुरुष की उपासना करें। बाद में वह कामना विशुद्ध-भक्ति में पर्य्यवसित हो जावेगी इस अभिप्राय से तीव्र यह विशेषण दिया गया है। अतः एकान्त भक्त-जनों के अथवा मुमुक्षुजनों के लिये भक्ति अभिधेय है इस विषय में क्या कहना है? अपिच सर्वकामिजन के भगवद्भक्ति सर्वथा करणीय है ऐसा निर्णय किया जा रहा है। इस अध्याय में और भी कहा है—पूर्ववर्णित नाना देवता-उपासनाकारी का भगवद्भक्तसंगसे श्रीभगवान् में अचला-भक्ति-लाभ ही परम पुरुषार्थप्राप्ति है ॥३२॥

स्वामीकृत टीकार्थ–पूर्ववर्णित नाना देवता-उपासना की "संयोग-पृथक्त्व" न्याय से भक्तियोग प्राप्त ही परमफल है उसका "एतावान्" इत्यादि श्लोक से वर्णन करते हैं।

किञ्च–एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः । भगवत्य-
चलो भावो यद्भागवतसङ्गतः ॥३२॥

टीका च—पूर्वोक्तनानादेवतायजनस्यापि संयोगपृथक्-
त्वेन भक्ति-योगफलत्वमाह एतावानिति । इन्द्रादीनपि
यजतामिह तत्तद्यजने भागवतानां सङ्गतो भगवत्यचलो
भावो भक्तिर्भवतीति यदेतावानेन निःश्रेयसस्य परमपुरुषार्थ-
स्य उदयो लाभः । अन्यत्तु सर्वं तुच्छमित्यर्थ इत्येषा । अत्र
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु इत्याद्युक्तम् इन्द्रियपाटवादिकं पृथक्त्वेन
फलम् । भागवतेन संयोगे तु भावः फलम् । खादिरयूपसंयोगे
यागस्य फलवैशिष्ट्यवदिति ज्ञेयम् ॥ २ ॥ ३ ॥ श्रीशुकः ॥
३१–३२॥

इन्द्रादि नानादेवताओं के उपासकों की भगद्भक्तसंग से भगवान् में अचल भाव रूप भक्ति होती है उसे ही परम पुरुषार्थ की प्राप्ति-स्वरूप जानना। और समस्त फल तुच्छ हैं यह श्लोक का मुख्य-तात्पर्य्य है।

स्वामीपादकृत व्याख्या में–"संयोग-पृथक्त्व" न्याय का जो उल्लेख है, उसका विवेचन यह है–इन्द्रियकामी इन्द्र की उपासना करें ऐसा जो उल्लेख है उसका तात्पर्य्य-पृथक् रूप से उपासना करने पर फल रूप इन्द्रिय-पटुतादि प्राप्त होती है परन्तु भगवद्भक्तसंग में उपासना करने पर भगवान् में भक्तिलाभ होता है। जैसा कि अन्य काष्ठ के द्वारा निर्म्मित यूप में जो फल लाभ होता है उससे खदिरकाष्ठ के द्वारा निर्म्मित यूप संयोग से फल का वैशिष्ट्य लाभ है उसी प्रकार ॥३१–३२॥

अनन्तरं श्रीशौनकेनापि व्यतिरेकोक्त्या तस्यैवाभिधेयत्वं दृढ़ीकृतं यथाह—आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ। तस्यर्त्ते यत्क्षणो नीत उत्तमःश्लोकवार्त्तया ॥३३॥

असौ सूर्य्य उद्यन्नुदगच्छन् अस्तञ्च यन् गच्छन् हरति वृथागामित्वात् बलादाच्छिनत्तीव यद्येन क्षणोऽपि नीत उत्तमःश्लोकवार्त्तया तस्यायुर्ऋते वर्जयित्वा। तावतैव सर्व-साफल्यादिति भावः। ननु जीवनादिकमेव तेषामायुषः फल-मस्तु तत्राह—तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामे पशवोऽपरे ॥३४॥

न मेहन्ति न मैथुनं कुर्वन्ति। तमपि नराकारं पशुं

अनन्तर शौनक जी व्यतिरेकमुख से उस भक्तियोग के अभिधेयत्व को दृढ़ करके कहते हैं—जैसा कि कहा है-यह सूर्य उदय एवं अस्त होता हुआ जीव-मात्र का आयुः हरण करता है। केवल जो उत्तम-श्लोक श्रीहरि की कथा में क्षणकाल भी अतिवाहित कर रहा है उस को छोड़ कर। मुहूर्त्तकाल हरिभजन से परम साफल्य विधान कर रहा है यह अभिप्राय है। यदि कहो कि जीवित रहना परमायुः फल क्यों नहीं है तो कहते हैं-क्या बृक्षगण नहीं जीते हैं? यदि कहो कि जीते तो हैं परन्तु वे श्वास-प्रश्वास त्याग नहीं करते हैं तो उस पर उत्तर देते हैं-क्या कर्मकार का भस्त्रा वायु-ग्रहण व त्याग नहीं करता है? यदि कहोकि करता तो है परन्तु वह भोजन-मैथुन नहीं करता है। उस का उत्तर में-ग्राम्य में अन्य पशु समस्त क्या भोजन-मैथुन नहीं करते हैं? ॥३४॥

"न मेहन्ति" का अर्थ क्या मैथुन नहीं करते हैं? अतः भक्तिरहित उस जन को नराकृति पशु मान कर अन्य एक श्लोक से कहते हैं—

मत्वाह अपर इति । तदेवाह—स्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः । न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः ॥३५॥

श्वादितुल्यैस्तत्परिकरैः सम्यक्स्तुतोऽप्यसौ पुरुषः पशुस्तेषामेव मध्ये श्रेष्ठश्चेत्तर्हि महापशुरेवेत्यर्थः । तस्याङ्गानि निष्फलानीत्याह पञ्चभिः—विले वतोरुक्रमविक्रमान् ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य । जिह्वासती दार्दुरिकेव सूत न योपगायत्युरुगायगाथाः ॥३६॥

न शृण्वतोऽशृण्वतो नरस्य ये कर्णपुटे ते विले वृथारन्ध्रे इत्यर्थः । असती दुष्टा । भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्त-

---

जिनके कर्णमार्ग में कभी गदाग्रज भगवान् का नाम प्रवेश नहीं हुआ है उन पुरुषों को कुत्ते, विष्ठाभोजी, वराह एवं कंटकभोजी ऊँट के समान पुरुषों से संस्तुत होकर भी पशु के समान जानना ॥३५॥

कुत्ते के समान उनके परिकरगणों से सम्यक् स्तुत होकर भी वह पुरुष पशु है । जो भगवद्बहिर्मुख जन का स्तवन करता है वह तो पशु है अधिकंतु जिस का स्तवन किया जाता है वह महापशु है । उसके समस्त अंग निष्फल हैं उसे पांच श्लोकों से वर्णन करते हैं—जिस मनुष्य का कर्णरूप पात्र उरु पराक्रम वाले भगवान् की गुणगाथा श्रवण नहीं करता है वे दो कर्णपात्र वृथा गर्त्त रूप जानना । हे सूत ! जो जिह्वा भगवान् की गुणगाथा-कीर्त्तन नहीं करती उस जिह्वा को मेंढक की जिह्वा समझना । असती शब्द का अर्थ दुष्टा व्यभिचारिणी है ॥३६॥

जिस मनुष्य का मस्तक मुकुन्द का प्रणाम नहीं करता है वह मस्तक यदि पट्टवस्त्र एवं स्वर्णयुक्त-मणि-माणिक्यखचित किरीट से

माङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा ॥३७॥

पट्टवस्त्रोष्णीषेण किरीटेन वा जुष्टमपि। अप्यर्थे वा शब्दः। वर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ ॥३८॥

द्रूमवज्जन्म भजेते इति तथा वृक्षमूलतुल्यावित्यर्थः। जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम् ॥३९॥

शोभित है तो वह केबल भारवाही है और समुज्ज्वल काञ्चन-कङ्कण शोभित दोनों हस्त यदि श्रीहरि की सेवा नहीं करते हैं वे तो मृत-व्यक्ति के हस्त के समान हैं। यहाँ अप्यर्थ में वा शब्द है। पट्टवस्त्र रचित उष्णीष से विभूषित अथवा किरीट द्वारा सुशोभित होने पर भी यह भाव है ॥३७-३८॥

मनुष्यों के जो दोनों नेत्र श्रीविष्णु के विग्रह का दर्शन नहीं करते हैं वे दोनों नेत्र मयूरपुच्छस्थ नेत्र के समान हैं। अर्थात् मयूरपुच्छ में नेत्र की आकृति है परन्तु उसमें दर्शन-योग्यता नहीं है। दर्शनयोग्य भगवान् के विग्रह का दर्शन नहीं करते हैं वे तद्वत् अर्थात् मयूर-पुच्छस्थ नेत्रवत् जड है। और जिनके दोनों चरण हरिक्षेत्र में गमन नहीं करते हैं वे द्रुमजन्म विशिष्ट हैं अर्थात् वृक्ष के मूल (जड़) के समान है।

मरणधर्म्म तुल्य जो मनुष्य भगवद्भक्तों की चरणरेणु-लाभ नहीं करता है वह जीवन्मृत समान है। और जो मनुष्य श्रीविष्णुचरण-

श्रीविष्णुपद्यास्तत्पदलग्नायाः । तदश्मसारं हृदयं वतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः । न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः ॥४०॥

अश्मवत् सारो बलं काठिन्यं यस्य । विक्रियालक्षणमप्येतदिति यदा तद्विकारो भवेत्तदा नेत्रादौ जलादिकं भवतीत्यर्थः । इदमेवान्वयेन श्रीमता राज्ञा दृढ़ीकरिष्यते, सा वाग् यया तस्य गुणान् गृणीत इत्यादिभ्याम् । तदेवं श्रीशुकवाक्यारम्भाध्यायत्रयाभिधेयत्वेन श्रीभक्तिरेव लब्धा । टीका च—

लग्न तुलसी की सुगन्धि नहीं लेता है वह मृततुल्य है । अर्थात् मर तो गया है परन्तु श्वास चल रहा है ॥३६॥

जो हृदय श्रीहरिनाम-कीर्त्तन ग्रहण कर विकार प्राप्त नहीं कर लेता है अर्थात् भाव-विगलित नहीं होता है वह हृदय पाषाण समान जानना । भाव-विगलित का तात्पर्य्य–नेत्रों में जल बहना तथा अंगों में पुलकोद्गम होने का है । यह श्लोकार्थ है ।

वह हृदय अश्मसार है अर्थात् अश्मवत् सार है । तात्पर्य्य–पाषाण समान कठिन है । चित्त-विकार का लक्षण यह है कि—जब चित्त विकार-ग्रस्त होता है तब नेत्रों से जल गिरता है एवं अंगों में पुलकोद्गम हो जाता है । यह सब परीक्षित् महाराज "सा वाग् यया तस्य गुणान् गृह्णीत" "अर्थात् वह ही वाक् इन्द्रिय है जिस से हरि-गुणगाथा का कीर्त्तन होता है, वही दोनों हस्त हैं जो हरि की सेवा करते हैं, उसी मन का साफल्य है जो हरिस्मरण करता है, वह कर्ण धन्य है जो जग-शोधनी हरि कथा का श्रवण करता है, वह मस्तक धन्य है जो भगवद्विग्रह व भगवद्भक्त को नमस्कार करता है, वह नेत्र धन्य है जो दोनों का दर्शन करता है और नाभि के ऊद्धवस्थित समस्त अंग

तत्र तु प्रथमेऽध्याये कीर्त्तनश्रवणादिभिः । स्थविष्ठे भगवद्रूपे मनसो धारणोच्यते । द्वितीये तु ततः स्थूलधारणातो जितं मनः । सर्वसाक्षिणि सर्वेशे विष्णौ धार्य्यमितीर्य्यते । तृतीये विष्णुभक्तेस्तु वैशिष्ट्यं शृण्वतो मुनेः । भक्त्युद्रेकेण तत्-कर्म्मश्रवणादर ईर्य्यत इत्येषा ॥ २ ॥ ३ ॥ श्रीशौनकः ॥ ३३—४०॥

श्रीब्रह्मनारदसंवादेऽपि—सम्यक् कारुणिकस्येदं वत्स ते विचिकित्सितम् । यदहं चोदितः सौम्य ! भगवद्वीर्य्यदर्शने ॥४१॥

धन्य हैं जो विष्णु तथा उनके भक्तों का चरणामृत नित्य प्रति धारण करते हैं" इत्यादि दो श्लोकों के द्वारा अन्वयमुख से आगे उल्लेख कर दृढ़ता सम्पादन करेंगे । इस प्रकार श्रीशुक-वचन का प्रारम्भकर तीन अध्याय में भगवद्भक्ति का अभिधेय रूप से उल्लेख है ।

टीका—प्रथम-अध्याय में कीर्त्तन—श्रवणादि के द्वारा भगवान् के विराट्-स्वरूप में मनः की धारणा कही गई है । द्वितीय अध्याय में उस विराट् धारणा से संयत मनः का सर्वसाक्षी, सर्वेश्वर श्रीविष्णु में धारण वर्णित हुआ है । तृतीय अध्याय में--विष्णुभक्ति के वैशिष्ट्य श्रवणकारी शौनक-मुनि के भक्ति उद्रेक वश हरिलीला-श्रवण में अतिशय आदर का वर्णन है ॥ ४० ॥

भागवत् के (२।५।६) श्रीब्रह्मा-नारद सम्बाद में भी भगवद्भक्ति का अभिधेयत्व दिखलाया गया है । श्लोकार्थ--हे वत्स ! तुम्हारा सन्देहयुक्त यह प्रश्न अति उत्तम है । मेरे प्रति करुणावश तुमने इस प्रकार प्रश्न किया है । क्यों कि उस से भगवान्के प्रभावमय

अग्रे च सर्वशास्त्रसमन्वयेन— नारायणपरा वेदा इत्यादि ॥४२॥

श्रीनारायण एवोपास्यत्वेन परः तात्पर्यविषयो येषां ते वेदाः । नन्वन्येऽपि देवास्तत्रोपास्यत्वेनाभिधीयन्ते सत्यं तेऽपि नारायणाङ्गप्रभवत्वेनैव तथा वर्ण्यन्त इत्यर्थः । येऽपि तदाश्रया लोकास्तत्प्राप्तिहेतवोऽन्ये मखाश्च ते तत्परा एव तदानन्दांशाभासरूपत्वात्तत्साधनत्वाच्चेति भावः । तथा योगोऽष्टाङ्गः सांख्यञ्च तत्साध्यं तपश्चित्तैकाग्र्यं तत्साध्यं

चरित्र वर्णन में मैं प्रवर्त्तित हो रहा हूँ । हरिकथा-वर्णन से ही आत्मा की कृतार्थता होती है ।। ४१ ।।

आगे भी "नारायणपराः वेदाः" इत्यादि श्लोकों से सर्वशास्त्र समन्वय के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व प्रकाश किया गया है। श्लोकार्थ यह है—निखिल वेदों ने श्रीनारायण को परम उपास्य रूप में प्रतिपादित किया है वही उनका तात्पर्य विषय है । यदि कहो कि वेदों में अन्य देवता भी उपास्यरूप में वर्णित हैं तो कहते हैं—वे सब देवता नारायण के अंग से उत्पन्न हुए हैं अतः उनका उस प्रकार वर्णन है । स्वर्गादि लोक भी नारायण के आनन्दांश के आभास होने के कारण फलरूप में वर्णित किये गये हैं क्योंकि वे सब लोक नारायण के आश्रित हैं । यज्ञ समूह नारायण परक है,यज्ञों से यज्ञेश्वर नारायण की उपासना होती है, इस अभिप्राय से यज्ञ-समूह का साधन रूप में उल्लेख है । उस प्रकार अष्टांगयोग एवं उस का साध्य सांख्यतत्व और चित्तैकाग्र्य रूप तपस्या एवं उसका साध्य ब्रह्मज्ञान भी तत्परक है । क्यों कि वे सब उन के सामान्यकार के प्रकाशक हैं । ज्ञान तो सामान्याकार का प्रकाशक है, योग एवं तपस्या उनके सामान्य साधन को प्रकाश करते हैं परन्तु भक्ति जिस प्रकार विशेषाकार को व्यक्त

ब्रह्मज्ञानञ्च तत्परं तदीयसामान्याकारप्रकाशत्वात्तज्ज्ञानस्य योगतपसोस्तत्साधनत्वाच्चेतिभावः । किं बहुना गतिस्तत्-प्राप्यं ब्रह्मापि तत्परा तत्सामान्याकारप्रकाशत्वेन तदधीना-विर्भावत्वात् । तदुक्तं मत्स्यदेवेन सत्यव्रतं प्रति—मदीयं महिमानञ्च परब्रह्मेत्ति शब्दितम् । वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदीति ।।२।।५।। श्रीब्रह्मा नारदम् ।।४१।।४२।।

श्रीविदुरमैत्रेयसंबादेऽपि । तत्र प्रश्नो यथा— तत् साधु-वर्य्यादिश वर्त्म शं नः संराधितो भगवान् येन पुंसाम् । हृदिस्थितो यच्छति भक्तिपूते ज्ञानं सतत्त्वाधिगमं पुराणम् ।।४३।।

करती है उस प्रकार नहीं । अधिक क्या कहेंगे उन सब साधनों की गति अर्थात् प्राप्य बस्तु ब्रह्म भी नारायण-परक है । क्यों कि वह उनके सामान्याकार प्रकाश स्वरूप एवं उनके अधीन आविर्भाविक है। मत्स्यदेव ने सत्यव्रत के प्रति कहा है—हे राजन् ! मेरी जो महिमा अर्थात् महत्व है वह परब्रह्म शब्द से शब्दित है । तुम हमसे अनुगृहीत होकर उस ब्रह्मतत्व का हृदय में साक्षात्कार करोगे । मैं तुम्हारे प्रश्नों से प्रसन्न हूँ अतः तुम्हारे हृदय में उस परब्रह्म तत्व का प्रकाशन करूँगा ।। ४१-४२ ।।

विदुर-मैत्रेय-सम्बाद में भी भक्तियोग का अभिधेयत्व वतलाया गया है । विदुर जी का प्रश्न यथा—हे साधुवर्य्य ! मङ्गलमूर्ति भगवान् के भक्तगण वहिर्म्मुख जीवों के अनुग्रहार्थ इस मृत्यु लोक में विचरण करते रहते हैं । आप हमारे लिये उस सुखमय-मार्ग को कहिये जिस मार्ग में भगवान् प्रसन्न होकर भक्तिपूत हृदय में परमात्मतत्व-साक्षात्कार के साथ तत्वज्ञान प्रदान करते हैं ।

अत्र शं सुखरूपं वर्त्मेति टीका च । भक्तिपूते प्रेमविमले । सतत्त्वं तत्त्वम् । तच्च ब्रह्म भगवत्परमात्मेत्याद्याविर्भावम् ॥ ३ ॥ ५ ॥ श्रीविदुरः ॥४३ ॥

तत्राजानजदेवस्तुतिद्वारैवोत्तरम्—पानेन ते देव कथा-सुधायाः प्रवृद्धभक्त्या विशदाशया ये । वैराग्यसारं प्रतिलभ्य बोधं यथाञ्जसान्वीयुरकुण्ठधिष्ण्यम् । तथा परे चात्मसमाधि-योगबलेन जित्वा प्रकृतिं बलिष्ठाम् । त्वामेव धीराः पुरुषं विशन्ति तेषां श्रमः स्यान्न तु सेवया ते ॥४४॥

यहाँ "शं" शब्द का अर्थ सुखरूपवर्त्म है ऐसा टीकाकार ने कहा है । भक्तिपूत-हृदय में अर्थात् प्रेमविमल-हृदय में । सतत्त्वं-अर्थात् ब्रह्म, भगवान् एवं परमात्मा इन त्रिविध प्रकार आविर्भाव के साथ जो ज्ञान है वह ।। ४३ ।।

उस विदुर-मैत्रेय-सम्बादमें—अज-अनज देवगणकृत-विण्णुस्तुति के द्वारा मैत्रेयजी उत्तर देते हैं—

वे समस्त देवगण महदादि-तत्वाभिमानी हैं, विष्णुअंश होने के कारण अज हैं । उनमें विकृति, विक्षेप, चेतना ये तीनों रहते हैं । अतः अजानज करके देवगण प्रसिद्ध हैं । वे विष्णु का स्तवन कर रहे हैं ।

हे देव ! तुम्हारी कथा-सुधा का पान करते करते वृद्धि प्राप्त भक्ति-प्रभाव से जिनका चित्त विशुद्ध हो रहा है वे विषय-वैराग्य से पुष्ट ज्ञान प्राप्त कर जिस प्रकार सुख से वैकुण्ठलोक में गमन करते हैं उस प्रकार अन्य धीरजन आत्म-समाधि-योगबल से बलवती प्रकृति को विजय करके भी नहीं प्राप्त करते हैं । उनके उस ज्ञान से तथा योग-साधना से बहु परिश्रम के बाद मोक्ष लाभ होता है परन्तु भगवद्भक्त-संग से तुम्हारे कथा-श्रवण-कीर्त्तन प्रसंग के द्वारा अनायास में ही वह मोक्ष होता है ।। यह श्लोकार्थ है ।।

अकुण्ठधिष्ण्यं वैकुण्ठलोकमिति टीका । विशदाशया प्रोज्झितकैतवाः सेवैकपुरुषार्थाः अपरे मोक्षमात्रकामाः । तन्मात्रपुरुषार्थेऽपि तेषां श्रमः स्यात् । ये तु सेवैकपुरुषार्थास्तेषां सेवया श्रमो न स्यात् । सदैव सेवया परमानन्दमनुभवतामानुषङ्गिकतया मोक्षश्च स्यादित्यर्थः ॥ ३ ॥ ५ ॥ अजानजदेवाः श्रीमहत्स्रष्टृपुरुषम् ॥४४॥

अतएव स्वयं तत् श्लाघते—सतसेवनीयो बत पूरुवंशो यल्लोकपालो भगवत्प्रधानः । बभूविथेहाजितकीर्त्तिमालां पदे पदे नूतनयस्यभीक्ष्णम् ॥४५॥

तस्मात् कथोपलक्षिता भक्तिरेव परमश्रेय इति भावः ॥ ३ ॥ ८ ॥ श्रीमैत्रेयः ॥४५॥

अकुण्ठधिष्ण्य—वैकुण्ठलोक है ऐसा टीकाकार ने कहा है । विशदाशय—कैतवरहित, एकमात्र सेवा ही परमपुरुषार्थ है जिनका । अपर शब्द का अर्थ मोक्षमात्र कामना करने वाले । जो केवल मोक्षपुरुषार्थी हैं उन का मुक्तिलाभ में परिश्रम रहता है, परन्तु केवल भगवत्सेवा पुरुषार्थी का मोक्षलाभ आनुषङ्गिक हो जाता है वे तो केवल सेवानन्द में मत्त रहते हैं । अजानज देवगण ने महत्तत्त्वसृष्टिकर्त्ता महापुरुष कारणार्णवशायी महाविष्णु का इस प्रकार स्तवन किया है ॥

अतएव स्वयं मैत्रेयजी भगवद्भक्ति की प्रशंसा श्रोता-विदुरजी की प्रशंसा के द्वारा करते हैं । अहो ! आश्चर्य्य है, यह पुरुवंश साधुगण के सेवनीय है । क्यों कि जिसके लोकपाल आप जैसे भगवत्प्रधान हैं । अर्थात् भगवान् ही सर्वस्व जिन के हैं ऐसे आप उस वंश के राजा हैं । जिस वंश में भगवद्भक्त उत्पन्न होते हैं उस वंश की साधुगण सेवा करते हैं । आपने तो भगवान् की कीर्त्तिमाला को पद पद में प्रतिक्षण

श्रीकापिलेयेऽपि यथाह—न युज्यमानया भक्त्या भगवत्यखिलात्मनि । सदृशोऽस्ति शिवः पन्था योगिनां ब्रह्मसिद्धये ॥४६॥

ब्रह्मसिद्धिः परतत्त्वाविर्भावः । तथा—एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः । तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम् ॥४७॥

नूतन किया है । प्रतिक्षण नव नवायमान भक्ति का स्वरूप जाना है । अतः यहाँ हरिकथोपलक्षिता भक्ति ही परम श्रेयः पदार्थ है यह दिखलाया गया है । कपिलयोग में भी भगवान् ने अपनी जननी देवहूति के प्रति जिस प्रकार कहा है उससे भी भगवद्भक्ति का श्रेष्ठत्व प्रतिपादन किया गया है । यथा—हे जननि ! मन शुद्धि विषयमें भक्ति ही अन्तरंग साधन है । भगवान् में प्रयोज्यमान-भक्ति के समान योगियों की ब्रह्मसिद्धि के लाभ में मङ्गल एवं सुखमय मार्ग और कोई नहीं है ॥४६॥

ब्रह्मसिद्धि का अर्थ परतत्वाविर्भाव है । इस लोक में तीव्र-भक्तियोग से मुझ में अर्पित मन सुस्थिर हो जाता है अर्थात् लय-विक्षेपादि से रहित होता है। यह जीव की परममङ्गल प्राप्ति है । यह कपिलदेव का वाक्य है ॥

पृथु-महाराज के प्रति श्रीसनत्कुमार के उपदेश प्रसंग में भी बहुल ज्ञानोपदेश के बाद कहा गया है । हे राजन् ! भगवान् के चरण-कमलों की कान्तिच्छटा का स्मरण-प्रभाव से राशि-राशि कर्म के द्वारा ग्रथित अहङ्कार रूप हृदय ग्रन्थि को भक्तजन जिस प्रकार छेदन कर लेते हैं अथच उस प्रकार भगवान् में भक्तिहीन संयतेन्द्रियवर्ग योगीगण छेदन नहीं कर पाते हैं अतः शरणागत-पालक उन वासुदेव का भजन करो ॥

भक्तियोगेन श्रवणादिना मय्यर्पितं सत् मनः स्थिरं भवतीति यदेवावानेव ॥३॥२५॥ श्रीकपिलदेवः ॥४७॥

श्रीकुमारोपदेशेऽपि ज्ञानोपदेशानन्तरम्——यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः। तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम् ॥ कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां षड् वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षन्ति। तत्त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुप व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम् ॥४८॥

टीका च——तमवेहीति ज्ञानमुपदिष्टम्। तस्यदुष्करत्वेन भक्तिमुपदिशति द्वाभ्यां यत्पादेत्यादिकमारभ्य। ननु ब्रह्म-

---

हे राजन्! जिन्होंने भवसागर पार करने में भगवान् को नावरूप नहीं माना है वे मानों काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य्य इन छै कुम्हीर (मगर) युक्त संसार सागर का दुःख से पार होना चाँहते हैं। अर्थात् वे उस साधन-मार्ग में अत्यन्न दुःख ही उठाते हैं। अतः तुम श्रीहरि के भजनीय-गुण-समन्वित चरण को तरणी मान कर इस दुस्तर-दुःखमय संसार से पार हो जाओ यह श्लोकार्थ है।

इसकी टीका—पूर्वश्लोक में नित्यमुक्त विशुद्धतत्व को जानने के लिये ज्ञानोपदेश किया गया है। परन्तु वह ज्ञान अति दुःखद होने के कारण अब दो श्लोकों से सुखमय भक्तिमार्ग का उपदेश करते हैं। जिन के चरण-युगल की अंगुलियों की कान्तिछटा से इत्यादि। अच्छा? "ब्रह्मविदाप्नोति परं" इत्यादि श्रुतियाँ विदद्यमान हैं। तब यतिगण क्यों नहीं संसार-ग्रन्थि-छेदन करेंगे तो कहते हैं-उनको छेदन में महान् क्लेश होता है। क्योंकि वे इश्वर को भवसिन्धु-तरण में हेतु रूप नहीं मानना चाहते हैं। वे तो इन्द्रियवर्ग रूप ग्रहों से युक्त

न्विदाप्नोति परमिति श्रुतिः कथं यतयो नोद्ग्रथयन्तीत्युच्यते तत्राह कृच्छ्र इति। अप्लवेशां न प्लवस्तरणहेतुरीट् इशो येषां तेषामिह तरणे महान् कृच्छ्रः क्लेशस्ते हि असुखेनेन्द्रिय-षड्वर्गग्राहं भवार्णवं तितीर्षन्ति तस्मादुडुपं प्लवं दुस्तरार्णं दुस्तरार्णमित्येषा" समानप्राप्ययोरपि पथोरेकस्य दुर्गमत्व-कथनेनान्यस्याभिधेयत्वं स्वत एव सिध्यति। अत्र तितीर्षन्ति-मात्रं न तु तरन्तीत्यर्थोऽपि ज्ञेयः ॥ ४ ॥२२ ॥ सनत्कुमारः श्रीपृथुम् ॥४८॥

अतो यच्च ज्ञानमुपदिष्टं तदपि तदुपदेशाव्यर्थतासम्पा-दनेच्छामात्रेणानुष्ठीयमानन्तेन भक्तिसादेव कृतमित्याह—सनत्कुमारो भगवान् यदाहाध्यात्मिकं परम्। योगं तेनैव

भवसागर को दुःख पूर्वक पार करने की इच्छा करते हैं। अतः तुम भगवान् को पार होने में साधन रूप तरणी मान कर दुस्तर भवसागर को सुख से पार हो जाओ॥ यहाँ तक टीका की व्याख्या है।

यदयपि दोनों मार्गों में समान प्राप्य बतलाया गया है तो भी एक के दुर्गमत्व कथन से अन्य का स्वतः ही अभिधेयत्व आ जाता है। अर्थात् यहाँ ज्ञान-मार्ग के दुरूहत्व कथन से भक्ति का स्वतः ही अभि-धेयत्व सिद्ध होता है। यहाँ पार होने की इच्छा मात्र करते हैं परन्तु पार नहीं होते हैं यह अर्थ भी जानना ॥४८॥

अतः पर भगवान् सनत्कुमार ने जो ज्ञानोपदेश किया है वह उप-देश ज्ञान सत्यता-सम्पादन की इच्छामात्र से अनुष्ठित होने पर भी पृथु महाराज ने उस ज्ञानोपदेश को भक्तिमय कर के साधन किया था। यथा-भगवद्धर्म्मशील पृथुमहाराज ने निरन्तर श्रद्धायुक्त हृदय से भजन

पुरुषमयजत् पुरुषर्षभः । भगवद्धर्म्मिणः साधोः श्रद्धया यतत-स्तदा । भक्तिर्भगवति ब्रह्मण्यनन्यविषयाऽभवत् ॥४६॥

स्पष्टम् ॥ ४ ॥ १२ ॥ श्रीमैत्रेयः ॥४६॥

श्रीरुद्रगीतेऽपि—इदं जपत भद्रं वो विशुद्धा नृपनन्दनाः। स्वधर्म्ममनुतिष्ठन्तो भगवत्यर्पिताशयाः ॥ इत्युक्त्वाह—तमेवात्मानमात्मस्थं सर्वभूतेष्ववस्थितम् । पूजयध्वं गृणन्तश्च ध्यायन्तश्चासकृद्धरिम् ॥५०।

अथ तमेव पूजयध्वं न तु स्वधर्मानुष्ठानाग्रहादिकमपि कुरुध्वमित्येवकारार्थः । आत्मस्थ स्वान्तर्यामित्वेन स्थितं तद्वदपरेष्वपि भूतेष्ववस्थितमात्मानं गृणन्तः कीर्त्तयन्तो ध्यायन्तश्चेत्यन्यत्र मनोवचोव्यापारोऽपि निषिद्धः । असकृ-

---

करते-करते विभुचैतन्य भगवान्में अनन्य विषया अर्थात् अहैतुकी भक्ति प्राप्त की । व्याख्या स्पष्ट है अतः इस पर गोस्वामीचरण ने सिद्धान्त नहीं किया है ॥४६॥

श्रीरुद्रगीता में भी-श्रीरुद्रजी प्रचेतागण से कहने लगे—हे नृपनन्दनगण ! तुम सब विशुद्ध चित्त से भगवान् में अर्पित आशय के द्वारा स्वधर्मानुष्ठान करते हुए इसका जप करो, तुम सब का मंगल होगा।

इतना कह कर पुनः कहते हैं—सर्वभूत में अवस्थित परमात्मा उन श्रीहरि को हृदय में धारण कर पुनः पुनः पूजा करो, कीर्त्तन करो एवं ध्यान करो ॥ यह श्लोकार्थ है ।

उन्हीं की ही पूजा करो परन्तु स्वधर्म्मानुष्ठान में आग्रह मत करो यह "एव" शब्द का तात्पर्यार्थ है । आत्मस्थ शब्द का अर्थ—वे श्रीहरि जिस प्रकार तुम्हारे हृदयमें अवस्थित हैं उस प्रकार अपरभूतों

दित्येकस्यां पूजायां समाप्यमानायामेवान्यारब्धव्या न तु कर्माद्याग्रहेण विच्छेदः कर्त्तव्य इत्यर्थः ॥ ४ ॥ २४ ॥ श्रीरुद्रः प्रचेतसः ॥५०॥

एतदेव श्रीनारदेनापि स्फुटीकरिष्यते अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यथाह—तज्जन्म तानि कर्माणि तदायुस्तन्मनो वचः। नृणां येन हि विश्वात्मा सेव्यते हरिरीश्वरः॥ किं जन्मभिस्त्रिभिर्वेह शौक्रसावित्रयाज्ञिकैः। कर्मभिर्वा त्रयीप्रोक्तैः पुंसोऽपि

में भी अन्तर्यामीरूप में अबस्थित हैं। उन का कीर्त्तन करो, ध्यान करो, अन्य विषय में मनः एवं वाणी-व्यापार से रहित हो जाओ। असकृद् शब्द का तात्पर्य्य–एक पूजा के समाप्त होते होते अन्य पूजा आरम्भ कर दो परन्तु कर्मादि अनुष्ठान में आग्रह कर विच्छेदित मत करो ॥५०॥

इसी बात को श्रीनारदसी ने अन्वय-व्यतिरेक मुख से स्फुट किया है—यथा–हे प्रचेतागण ! वही जन्म है, वे ही सब कर्म हैं, वही परमायु है, वही मन है, वही बचन है कि जिनसे मनुष्य विश्वात्मा ईश्वर श्रीहरिकी सेवा करें। जन्मादि का मुख्यफल श्रीहरि-सेवाही जानना। शौक्र, सावित्र एवं याज्ञिक तीनों प्रकार के जन्म से क्या लाभ हो सकता है जब हरि-सेवा न हुई। वेदोक्त कर्मो से कोई लाभ नहीं है, देवता के समान दीर्घायुः प्राप्त कर क्या होगा ? सांगवेदाध्यन से कोई लाभ नहीं, दुःखमय तपस्या से कोई फल नहीं है, वचन-शक्ति (वाक्-शक्ति)की यथेष्ट प्रयोग से क्या होगा ? चिन्ताशील चित्तवृत्तिसे कोई लाभ नहीं है, सदसत् विचार निपुण बुद्धिवृत्ति से क्या होगा ? इन्द्रिय-नैपुण्य, शारीरिक बल से कोई लाभ नहीं है, प्राणायामादि योगांग-अनुष्टान से क्या होगा ? देहादिव्यतिरिक्त आत्म-ज्ञान अनु-

विबुधायुषा । श्रुतेन तपसा वा किं वचोभिश्चित्तवृत्तिभिः ।
बुद्ध्या वा किं निपुणया बलेनेन्द्रियराधसा । किं वा योगेन
सांख्येन न्यासस्वाध्याययोरपि । किं वा श्रेयोभिरन्यैश्च न
यत्रात्मप्रदो हरिः ॥ श्रेयसामपि सर्वेषामात्मा ह्यवधिरर्थतः ।
सर्वेषामपि भूतानां हरिरात्मात्मदः प्रियः ॥५१॥

शीलन से क्या मिलेगा ? संन्यास एवं वेदाभ्याससे क्या फल है ? व्रत-वैराग्यादि मंगलजनक राशि-राशि साधनाओं से क्या लाभ है ? ज कि आत्मप्रद श्रीहरि की सेवा-सातत्य नहीं है । समस्त साधनों की फल-पराकाष्ठा आत्मा ही है । अन्दर एवं बाहर में श्रीहरि-स्फूर्त्ति निखिल साधनों का मुख्य फल है । क्यों कि सर्वभूतों की आत्मा एवं प्रिय श्रीहरि ही है । विशुद्ध माता-पिता से उत्पत्ति शुक्र सम्बन्धित जन्म है, सावित्र उपनयन है, याज्ञिक-कर्म दीक्षा है,इन्द्रिय राधासा का अर्थ इन्द्रियपटुता है । सांख्य दहादिव्यतिरिक्त आत्मज्ञान है ऐसा टीका में है ॥

टीका—यदि कहो कि इन नाना फल वाले साधनों की हरिसेवा-भाव से क्यों व्यर्थता है ? तो उस पर कहते हैं—आत्मा ही समस्त कल्याणतम फलों को अवधि अर्थात् पराकाष्ठा स्वरूप है । परमार्थतः आत्मा ही अर्थत्व होनेके कारण सबके प्रिय है । अच्छा? श्रीहरि आत्मा कि अवधि हैं उससे क्या होगा ? तो कहते हैं—सबके वे आत्मद हैं अर्थात् अविद्या-निरासन पूर्वक निजस्वरूप के प्रकाशक हैं । ऐवर्श्य-रूप से बलिप्रभृति को जिस प्रकार आत्मदान दिया है अर्थात् स्वरूप-प्रकाश कर दिखलाया है उस प्रकार सब के सम्बन्ध में आत्मद हैं अथात् आत्मदान करने वाले हैं । अथच परमानन्द होने के कारण वे सबके प्रिय हैं । यहाँ तक टीका की व्याख्या है ।

शुक्रसम्बन्धिजन्म विशुद्धमातापित्राभ्यामुत्पत्तिः । सावित्रमुपनयनेन । याज्ञिकं दीक्षया । इन्द्रियराधसा तत्पाटवेन । अत्र सांख्येन देहादिव्यतिरिक्तात्मज्ञानमात्रेणेति टीका । अथ श्रेयसामित्यादि टीका च—नन्वेषां नानाफलसाधनानां हरिसेवनाभावमात्रेण कुतो वैयर्थ्यं तत्राह । श्रेयसां फलानामात्मैवावधिः पराकाष्ठा । अर्थतः परमार्थतः आत्मार्थत्वेनैवान्येषां प्रियत्वादित्यर्थः । भवत्वात्मावधिर्हरेः किमायातं तत्राह सर्वेषामपीति । आत्मदश्च अविद्यानिरासेन स्वरूपा-

---

यहाँ समस्त भूतों के आत्मा का तात्पर्य्य-देहाभिमानी एवं शुद्ध-जीव के श्रीहरि ही आत्मा अर्थात् परमात्मा हैं। जीवन-तत्त्व तो रश्मिस्थानीय है तथा परमात्मा सूर्यस्थानीय है। इस अभिप्राय से दशम-स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में श्रीशुकजी ने परीक्षित् के प्रति कहा है—हे राजन् ! समस्त देहाभिमानी जीवकी अपनी अपनी आत्मा प्रियतम होती है। आत्म-सुख के लिये ही देह-अपत्यादि चर बस्तु में तथा गृहादि अचर बस्तु में अथच चराचरात्मक जगत् में जो भी कुछ है सबमें सब कोइ प्रेम करते हैं। वे सब आत्म-सम्बन्धसे ही प्रिय रूप में प्रतिभात होते हैं। सुख-स्वरूप आत्मा के सम्बन्ध से ही यह दुःखात्मक जगत् सुखात्मक रूप से अनूभूत होता है। अब सर्वाकर्षक, जगहितार्थ-अवतीर्ण, परमानन्द-स्वरूप कृष्णनाम से अभिहित श्रीयशोदा-नन्दन को अखिल आत्मा के भी आत्मा अर्थात् परमात्मा करके जानो। श्लोक में "आत्मदः" इस शब्द से श्रीधरस्वामी का अभिप्राय यह है—जीव स्वरूप के साथ तादात्म्यापन्न ब्रह्म एवं इश्वर (परमात्मा)नामक स्वरूप के दाता अर्थात् ज्ञानियोंके हृदयमें जो जीब स्वरूप के साथ भेदसहिष्णु अभेद भावापन्न निर्विशेष ब्रह्म स्वरूप का

भिव्यञ्जकः। ऐश्वर्य्येणापि रूपेण बलिप्रभृतिभ्य इव आत्मदः प्रियश्च परमानन्दरूपत्वादित्येषा। अत्र सर्वेषां भूतानां शुद्धजीवानामपि आत्मा परमात्मेति ज्ञेयम्। रश्मिस्थानीयानां जीवानां सूर्य्यस्थानीयत्वात्तस्य। तदुक्तम्—तस्मात् प्रियतमः स्वात्मा सर्वेषामेव देहिनाम्। तदर्थमेव सकलं जगच्चैतच्चराचरम्। कृष्णमेनमवेहि त्वमात्मानमखिलात्मनाम्। जगद्धितायेत्यादि। आत्मानौ जीवतादात्म्यापन्न-ब्रह्मेश्वराख्यौ ददाति यथायथं स्फोरयति वशीकारयति च यः स आत्मद इति स्वाम्यभिप्रायः। किञ्च, यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः। प्राणोपऽहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या ॥५२॥

दान करते हैं और जो योगियों के हृदय में जीवात्मा-स्वरूप के साथ भेद-सहिष्णु अभेदाभावापन्न परमात्मा-स्वरूप के आविर्भाव-दाता हैं। तात्पर्य्य वे ही यथायथ रूप में ब्रह्म एवं परमात्म स्वरूप को उनके हृदय में स्फूर्त्त कराते हैं। और भी कहते है—

जिस प्रकार वृक्ष के मूल में जल-सींचने से उस की शाखा, प्रशाखा एवं उपशाखायें समस्त आप ही आप तृप्तिलाभ करती हैं, अथवा प्राण में उपहार देने से अर्थात् पाकस्थली में आहार्य्य बस्तु के अर्पण से समस्त इन्द्रियाँ परितृप्त होती हैं उसी प्रकार एक मात्र अच्युत नामक श्रीकृष्ण की आराधना से समस्त देवताओं की आराधना होती है ॥ यह श्लोकार्थ है ॥५२॥

कर्मादि से आराधित नाना-प्रकार उन उन देवताओ के सन्तोष से उत्पन्न जो फल राशियाँ है वे हरि की प्रीति से आप ही आप होती हैं, परन्तु विष्णु की प्रसन्नता को छोड़ कर फल-राशियाँ कभी कार्य-

टीका च—किञ्च नानाकर्मभिस्तत्तद्देवताप्रीतिनिमित्तान्यपि फलानि हरिप्रीत्या भवन्ति । केवलतत्तद्देवताराधनेन तु न किञ्चिदिति सदृष्टान्तमाह यथेत्यादिका ॥ ४ ॥ ३१ ॥ श्रीनारदः प्रचेतसः ॥ ५१—५२ ॥

श्रीऋषभदेवकृतस्वपुत्रशिक्षणेऽपि—ये वा मयीशे इत्यादिकं मत्तोऽप्यनन्तादित्यादिकञ्चाग्रे दर्शनीयम् । ब्राह्मणरहूगणसंवादान्तेऽपीदमस्ति—रहूगण त्वमपि ह्यध्वनोऽस्य सन्न्यस्तदण्डः कृतभूतमैत्रः । असज्जितात्मा हरिसेवया शितं ज्ञानासिमादाय तरातिपारम् ॥५३॥

कारिणी नहीं होती हैं इन बातों को दो दृष्टान्त के द्वारा सुदृढ़ कर कहते हैं "यथा तरोर्मूल" इत्यादि श्लोक के द्वारा । चतुर्थस्कन्ध के ३१ अध्याय १४वें श्लोक में प्रचेतागण के प्रति देवर्षि नारदजी का यह वचन है ॥५१-५२॥

भगवान् श्रीऋषभदेव के द्वारा निजपुत्रों के प्रति जो शिक्षा प्रदान है उस प्रसंगमें भी दिखलाया गया है । "ये वा मयीशे कृतसौहृदार्था" इस श्लोक में "मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात्" इस श्लोक में भी आगे भगवद्भक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता दिखलाई गई है । इन दोनों श्लोक का अर्थ स्पष्ट है । ब्राह्मण एवं रहूगण-सम्बाद में भी भक्ति का अधिधेयत्व स्पष्ट ही व्यक्त हो रहा है । यथा--हे रहूगण ! तुम भी सबके प्रति दण्डधारण त्यागकर अर्थात् हम तो सबके शासक हैं, ये सब हमारे शास्य हैं" इस प्रकार बुद्धि को छोड़कर, समस्तभूतों में बन्धुभाव प्राप्त कर, सर्वत्र अनासक्त हो कर, तथा ज्ञानरूप खड्गके द्वारा आसक्ति-पाशों का छेदन कर श्रीहरि की सेवा के द्वारा इस संसार मार्ग के पार हो जाओ ॥५३॥

ज्ञानमत्र भक्त्याश्रयमेव । यथोक्तमेतदनन्तरं श्रीरहूगणेनैव—अहो नृजन्माखिलजन्मशोभनं किं जन्मभिरपरैरप्यमुष्मिन् । न यद्धृषीकेशयशः कृतात्मनां महात्मनां वः प्रचुरः समागमः । न ह्यद्भुतं त्वच्चरणाब्जरेणुभिर्हतांहसो भक्तिरधोक्षजेऽमला । मौहूर्त्तिकाद् यस्य समागमाच्च मे दुस्तर्कमूलो-

इस श्लोक में ज्ञानशब्द से भक्ति-आश्रय ज्ञान को समझना चाहिये अर्थात् भक्ति-साधन करते करते जो ज्ञान-लाभ होता है वह । इस के अनन्तर रहूगण ने भी जड़भरत के प्रति कहा है—अहो ! अखिल जन्म में मनुष्य-जन्म ही अति सुन्दर है, देवादि अन्य जन्मों से क्या लाभ होगा ? क्योंकि उन जन्मों में हृषीकेश श्रीकृष्ण की यशो-राशि-श्रवण से शोधित चित्त वाले महानुभाव भगवद्भक्तों का प्रचुर समागम-सौभाग्य नहीं है। निरन्तर प्रभु की चरण-कमल-स्थित रेणु-समूह की उपासना से जिन के सर्व प्रकार पाप एवं अपराध विनष्ट हो गये हैं उन महापुरुषों के लिये अधोक्षज श्रीकृष्ण के चरण-कमलों में अहैतुकी भक्ति का उदय होना कोई आश्चर्य्य नहीं है। क्यों कि आपके मूहुर्त्त-कालमात्र समागम प्रभाव से मेरा दुष्ट-तर्काश्रित अविवेक नष्ट हो गया है ॥५३॥

"दृष्टश्रुताभिर्मात्राभिः" इस श्लोक से चित्रकेतु महाराज के प्रति श्रीसंकर्षणदेव के उपदेश में भी ऐसा ही कहा गया है अर्थात्—भक्ति का अभिधेयत्व बतलाया गया है। श्लोकार्थ यह है—"पुरुष (लोग) दृष्ट-श्रुत, ऐहिक-पारलौकिक विषय से निम्मुक्त होकर अपने विवेक-बल से परोक्ष-ज्ञान तथा अपरोक्ष-अनुभव से तृप्त होकर हम में भक्ति-सम्पन्न होते हैं।"

असुर-बालकों के प्रति प्रह्लादजी के अनुशासन-उपदेश में भी भक्ति का अभिधेयत्व व्यक्त हो रहा है। यथा—विज्ञजन कौमार

पहतो विवेकः इति ।।५।।१३।। श्रीब्राह्मणो रहूगणम् ।।५३।।

तथा चित्रकेतुं प्रति श्रीसङ्कर्षणोपदेशान्तेऽपि दृष्टश्रुताभिरित्यादौ मद्भक्तः पुरुषो भवेदित्यग्रत उदाहार्य्यम् । असुरबालकानुशासनेऽपि—कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह । दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम् ।। यथाहि पुरुषस्येह विष्णोः पादोपसर्पणम् । यदेष सर्वभूतानां प्रिय आत्मेश्वरः सुहृत् (भा० ७।६।१-२) ।।५४।।

वयस से ही प्रारम्भ कर भागवत धर्म-समूह का आचरण करें, क्यों कि मनुष्य जन्म अत्यन्त दुर्ल्लभ तथा क्षणभंगुर है । इस मनुष्य जन्म में ही परमार्थ साधन हो सकता अन्य जन्म में नहीं । वह परमार्थ साधन तो परम पुरुष श्रीविष्णु की शरणागति ही जानना क्यों कि विष्णु ही समस्त भूतों के आत्म-स्वरूप हैं अतएव सब के प्रिय हैं अथच सब के हितकारी सुहृत् हैं और सर्व समर्थ ईश्वर हैं । यह श्लोकार्थ है ।।५४।।

इस मनुष्य जन्म में ही भागवतधर्म-समूह का आचरण करें । "आचरेत्" इस विधि-लिङ् प्रयोग के द्वारा भागवतधर्म की अवश्य कर्त्तव्यता सूचित हो रही है । क्यों कि यह मनुष्य जन्म अर्थद है अर्थात् परमार्थ फल का दाता है । मनुष्य-जन्म ही भगवद्भजन करने में उपयोगी है । देवादि-योनि में महाविषय से आविष्ट होने के हेतु एवं पश्वादि-योनि में कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य विचार क्षमता के अभाव के हेतु भागवत–धर्माचरण की उपयोगिता नहीं है । अतः मनुष्य-जन्म प्राप्त कर भगवद्भजन का विलम्ब नहीं करना चाहिये इस हेतु से कहते हैं–कौमार से ही लेकर । यहाँ आरम्भ अर्थ में सप्तमी विभक्ति है । वह मनुष्य-जन्म अध्रुव अर्थात् क्षणभङ्गुर है । अथच परमदुर्ल्लभ है । यद्यपि अन्य-योनि में भगवद्भक्ति का अनुष्ठान देखने में

इहैव मानुषजन्मनि भागवतान् धर्मान् आचरेत् । यतः अर्थदमेतज्जन्म । देवादिजन्मनि महाविषयावेशात् पश्वादि-जन्मनि विवेकाभावाच्च । मानुषजन्म प्राप्य च न विलम्बेतेत्याह कौमारे कौमारमारभ्येत्यर्थः । यतस्तदपि जन्माध्रुवं पुनर्दुर्लभञ्च । शास्त्रस्य च प्राधान्येन मनुष्यमधिकृत्य प्रवृत्तत्वात्तदनुवादेनोक्तिरियं तद्बुद्धयादिसाम्येन मानुषत्वमारोप्यैवेति ज्ञेयम् । तत्र भागवतधर्माचरणस्यैव युक्तत्वं दर्शयति

आता है जैसाकि-हनुमानजी एवं गरुडादिक में, तो भी मनुष्य-योनि में सर्वप्रकार से भगवद्भजन करने की योग्यता रहती है इस हेतु समस्त शास्त्र प्रधानरूप से मनुष्य-जन्म को अधिकार कर उपदेश में प्रवृत्त होते हैं । पश्वादियोनि में जो भगवद्भजन की बृत्ति दिखी जाती है वह अनुवाद मात्र से जानना अर्थात् उनमें मनुष्य के समान बुद्धिबृत्ति तथा त्याग की क्षमता रहने के कारण मनुष्य-धर्म का आरोप कर कहा गया है । मनुष्यजन्म में ही भागवत-धर्माचरण की उपयोगिता है इस पर कहते हैं—इस उपासना-मार्ग में मनुष्य का विष्णुचरण-उपसर्पण अर्थात् विष्णुचरण में शरणागति जिस प्रकार अनुरूप अर्थात् सहज सुलभ है वह अन्यत्र नहीं । क्यों कि मनुष्य जन्म सर्व प्रकारसे श्रेष्ठ है । श्रीविष्णु ही सर्वश्रेष्ठ हैं वे समस्त प्राणियों के स्वभावतः प्रिय अर्थात् प्रीति के विषय हैं । आनन्द ही निरुपाधि प्रीति का विषय होता है । श्रीविष्णु अखण्ड-आनन्द-स्वरूप हैं अतः सर्व जीव के प्रीतियोग्य विषय हैं । पुनः वे सब की आत्मा हैं अर्थात् परमात्मा हैं । वे ही शरणागति के विषय हैं । इस का एक दूसरा हेतु यह है कि—वे ईश्वर हैं अर्थात् करने, नहीं करने, और अन्यथा करने में समर्थ हैं एवं वे सब के सुहृत् हैं अर्थात् सब के हित-साधन करने वाले हैं ।

यथा हीत्यादि । इह पुरुषस्य विष्णोः पादोपसर्पणमेव यथा अनुरूपं योग्यमित्यर्थः । यद्यस्मादेव भूतानां स्वभावत एव प्रियः प्रीतिविषयः प्रेमकर्त्ता च आत्मा परमात्मा । पादोपसर्पणे हेत्वन्तरं यस्माच्चैष ईश्वरः कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तु समर्थः सुहृत् सर्वेषां हितं चिकीर्षुश्चेति । तदेतदुपक्रम्य उपसंहरति—धर्मार्थकाम इति योऽभिहितस्त्रिवर्ग ईक्षा त्रयी नयदमौ विविधा च वार्त्ता । मन्ये तदेतदखिलं निगमस्य सत्यं स्वात्मार्पणं स्वसुहृदः परमस्य पुंसः ॥५५॥

ईक्षा आत्मविद्या । तदेतत् सर्वं निगमस्यार्थजातं स्वसुहृदः स्वान्तर्यामिणः परमस्य पुंसस्तस्मै स्वात्मार्पणसाधनञ्चेत्तर्हि सत्यं मन्ये सत्यफलत्वात् (भा० ७।६।२६) श्रीप्रह्लादोऽसुरबालकान् ॥५४–५५॥

इस प्रकार उपक्रम कर अब उपसंहार "धर्मार्थकाम" इत्यादि श्लोक से करते हैं कि—

हे बालकगण ! सुनो, धर्म-अर्थ तथा काम यह त्रिवर्ग, ईक्षा (आत्मविद्या), त्रयी (कर्मविद्या), नय (तर्क-नीति) एवं विविध जीविकायें समस्त वेदोक्त अवश्य हैं, परन्तु समस्त उपदेश की यथार्थ में पारमार्थिक-सत्यता तब मानी जावेगी जब कि—परम पुरुष, निरुपाधि हितकारी श्रीभगवान् में आत्म-समर्पण कर दिया जावे । यह श्लोकार्थ है । ईक्षा आत्मविद्या है, वह पूर्वोक्त समस्त वेद के उपदेश समूह द्वारा निज हितकारी-बन्धु अन्तर्यामी परम पुरुष श्रीहरि में आत्म-समर्पण रूप फल साधन स्वरूप हो तभी वह सत्य मानी जावेगी । अर्थात् भगवान् में आत्म-समर्पण ही निखिल साधनों का फल-भूत पारमार्थिक सत्य है अन्य कुछ नहीं ॥५४-५५॥

अग्रे च—तत्रोपायसहस्राणामयं भगवतोदितः । यदीश्वरे भगवति यथा यैरञ्जसा रतिः ॥५६॥

तत्र पूर्वोक्ते त्रिगुणात्मकर्मणां वीजनिर्हरणेऽपि उपाय-सहस्राणां मध्ये अयमेव उपायः भगवता श्रीनारदेन मां प्रत्युपदिष्टः । यैरुपायसहस्रैः सिद्धाद् यद् यस्मादुपायात् यथा यथावत् ईश्वरे भगवति अञ्जसा व्यवधानान्तरं विनैव रतिः प्रीतिर्भवति । अतः कर्मवीजनिर्हरणमपि तस्यानु-

---

आगे (७।७।२९) श्लोक में प्रह्लादजी का वचन भी है—हे बालक-गण ! देवर्षि नारदजी ने पूर्व वर्णित सहस्र उपायों में से यह उपाय मुझे बतलाया है कि—जिन समस्त भजनों से भगवान् में बिना क्लेश यथा योग्य रति का उदय होता है वे समस्त भजन कर्म-वीज परिहार के लिये मुख्य उपाय हैं ॥५६॥

सत्व-रज एवं तमो गुणात्मक कर्म समूह के बीज नाश विषय में जो हजारों उपाय वर्णित हैं उन में से यह उपाय भगवान् नारदजी ने मेरे लिये उपदेश किया है । उन सहस्र उपायों से सिद्ध उपाय वही है जिससे कि यथा योग्य ईश्वर भगवान् में अहैतुकी अर्थात् व्यवधान-रहित प्रीति का उदय होवे । कर्मबीज नाश तो भक्ति का आनुषङ्गिक फल है । तात्पर्य—कर्म-बीज-नाश भक्ति का अवान्तर फल है तथा प्रीति ही मुख्य फल है। आगे "गुरुशुश्रूषया भक्त्या" इत्यादि श्लोकों से भक्ति के अङ्गों का कथन कर पुनः कहते हैं—हे भ्रातृगण ! पूर्व वर्णित भक्ति के अङ्गों का अनुष्टान पूर्वक काम, क्रोध, लोभ, मोह, मद, मात्सर्य्य-विजयी भक्तगण ईश्वर में भक्ति करते रहते हैं कि जिस भक्ति के द्वारा भगवान् वासुदेव में सम्यक् रूप से प्रीति-लाभ होता है ।

षड्गिकमेव फलमिति भावः । अग्रे च गुरुशुश्रूषया भक्त्या इत्यादिभिस्तस्यैवोपायस्याङ्गान्युक्त्वाह—एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे । वासुदेवे भगवति यथा संलभते रतिम् ॥५७॥

एवं पूर्वोक्तगुरुशुश्रूषादिप्रकारेणैव न तु तदर्थंपृथक्प्रयत्नेन निर्जितकर्मवीजलक्षणकामक्रोधलोभमोहमदमात्सर्यैर्जनैः पुनरपि भक्तिः क्रियत एव ॥ ७ ॥ ७ ॥ श्रीप्रह्लादस्तान् ॥५६–५७॥

वर्णाश्रमाचारकथनारम्भे नरमात्रधर्मकथनेऽपि—धर्ममूलं हि भगवान् सर्ववेदमयो हरिः । स्मृतञ्च तद्विदां राजन् येन चात्मा प्रसीदति ॥५८॥

इस प्रकार पूर्ववर्णित गुरुशुश्रुषादि प्रकारों से नतु उस के लिये पृथक् प्रयत्न से, कर्मवासना के परिचायक कामादि षड् वर्ग को जय करके भक्तगण पुनः भगवान् में भक्ति करते हैं ॥५६-५७ ॥

वर्णाश्रमाचार कथनारम्भ में मनुष्यमात्र के धर्मकथन में भी-युधिष्टिर महाराज के प्रति नारदजी का वचन है कि—हे राजन् ! सर्ववेदमय भगवान् श्रीहरि ही धर्म समूह के मूलभूत हैं ऐसा भगवत्तत्वाभिज्ञ जनों का मत है जिससे आत्मा प्रसन्न होती है । यह श्लोकार्थ है ।

व्याख्या—धर्म का मूल प्रमाण भगवान् हैं क्यों कि वे सर्ववेदमय हैं । समस्त वेद एवं स्मृतियाँ वेदमय भगवद्वेत्ताओं के प्रमाणभूत हैं । इन सब श्रुति एवं स्मृतियों से भगवद्बहिर्मुख-धर्म का अपार्थत्व एवं भगवद्धर्म का आवश्यकत्व कहा गया है । अतः मनुने "समस्त

धर्मस्य मूलं प्रमाणं भगवान् । यतः सर्ववेदमयः । स्मृतं स्मृतिश्च तद्विदां वेदमयभगवद्विदां तस्य प्रमाणम् । आभ्यां तद्बहिर्मुखधर्मस्यापार्थत्वं भगवद्धर्मस्यैवावश्यकत्वञ्चोक्तम् । अतएव "वेदोऽखिलो धर्ममूलं स्मृतिशीले च तद्विदाम् । आचारश्चैव साधूनामात्मनस्तुष्टिरेव चे"ति मनुस्मृतिवाक्यादप्यत्र विशिष्टतयोपदिष्टम् । तच्च युक्तम्-धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतां, वेद्यं वास्तवमत्र वस्तु शिवदं तापत्रयोन्मूलनमित्युक्तत्वात् । येनैव धर्मेण मनः प्रसीदतीत्यनेन ययात्मा सुप्रसीदतीतिवत् सुशब्दविशिष्टतया-

---

धर्ममूल वेद, वेदवेत्ताओं के स्मृति एवं सौशील्य,और साधुओं के आचरण ये सब आत्म-प्रसाद हेतु होते हैं"। इस प्रकार विशेष करके उपदेश किया है। यहाँ वह उपदेश युक्ति-युक्त हो रहा है। भागवत के "धर्म्मः प्रोज्भितकैतवोऽत्र" इस श्लोक में निर्म्मत्सर साधुगण के धर्म-अर्थ-काम एवं मोक्षवाञ्छारूप कापटच रहित परम धर्म इस में वर्णित हुआ है इस प्रकार उल्लेख होने से; एवं "येन चात्मा प्रसीदति" अर्थात् जिस धर्म के द्वारा मन प्रसन्न होता है इस श्लोक के उपदेश से; "ययात्मा सुप्रसीदति" अर्थात् जिसके द्वारा आत्मा प्रसन्न होती है इस शौनक प्रश्न में सूत मुनि के उपदेश की भाँति भक्ति का अभिधेयत्व सुस्पष्ट है। "सुप्रसीदति" यहाँ "प्रसीदति" क्रिया के पहले "सु" शब्द है। अतः भगवच्छ्रवणादि लक्षणभूत साक्षात् भक्ति का प्रशस्तत्व बोध हो रहा है। अनन्तर उनउन वर्ण एवं आश्रम-धर्मोंके आचरणादि का उल्लेख करके अपने तृतीय गन्धर्वजाति में जन्म के समय आनुषङ्गिक रूप से भगवद् गान मात्र सत्कथा का उल्लेख कर,पुनः द्वितीय वार शूद्रजाति में जन्म ग्रहण काल में मुनिगण के साथ श्रवणादि

नुक्तत्वात् तच्छ्रवणादिलक्षणसाक्षाद्भक्तेरेव प्रशस्तत्वञ्च बोधितम् । तत्तत्सर्वधर्मकथनान्ते तु स्वयमेव स्वस्य तृतीये गन्धर्वजातौ जन्मन्यानुषङ्गिकं भगवद्गानमात्रं सत्कर्मोक्त्वा द्वितीये च शूद्रजातौ जन्मनि सत्सङ्गजश्रवणादिमात्रं तदुक्त्वा स्वस्य तादृशभगवत्पार्षदत्वपर्यन्तफलप्राप्तौ तथाविधमपि स्वधर्मलक्षणं कारणान्तरं नादृतवान् । तथाहि तत्रैव यथाहि यूयमित्यस्य टीका च—"एतच्च सर्वसाधारणमुक्तं भक्तस्य तु भक्तिरेव सर्वपुरुषार्थहेतुरिति पाण्डवानेव लक्ष्यीकृत्याह यथा

मात्रक सत्कर्म कथा का उल्लेख कर, बाद में अर्थात् देवर्षि जन्म में अपने भगवद्भक्तिभावित भगवत्पार्षदत्व फल-प्राप्ति में स्वधर्म-लक्षणाचरण में भक्ति का ग्रहण किया गया, परन्तु कारणान्तर का आदर नहीं किया गया है ।

अर्थात्–उन्होंने तृतीय गन्धर्व जन्ममें आनुषङ्गिक रूपसे हरिकथा-गान का उल्लेख किया है, द्वितीयवार शूद्र जन्म में भी मुनिगण के प्रसंग से हरिकथा-श्रवण का उल्लेख किया, परन्तु किसी जन्म में वर्ण एवं आश्रमोचित आचार-अनुष्ठान करने का उल्लेख नहीं किया । अतः स्पष्ट ज्ञात होता है कि नारद जी की तृतीय जन्म के भक्ति-आभास से एवं द्वितीय जन्म के भक्ति-अनुष्ठान फल से ही भगवद् सेवोपयोगी सच्चिदानन्दमय पार्षद-शरीर की प्राप्ति हुई है । इस से जीवमात्र की भगवद्भक्ति,अवश्य अनुष्ठेया है तथा वर्णाश्रमादि सत्कर्म अनुष्ठान अनावश्यक है यह नारदजी का हार्दिक उद्देश्य है । विशेष करके "यथाहि यूयं" इस श्लोक की टीका में पाण्डवों के प्रति लक्ष्य करके कहा गया है कि—"जैसे ये समस्त-वर्ण एवं आश्रम-धर्म सर्व साधारण है परन्तु भक्त की भक्ति ही सर्वपुरुषार्थलाभ के हेतु रूप है इस प्रकार" । अतएव यहाँ भी साक्षाद् भक्ति का तात्पर्यत्व बतलया जाता है । अन-

हीत्येषा ।" तस्मादत्रापि साक्षाद्भक्तावेव तात्पर्य्यम् । अथात्र त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदीत्यादौ भक्तेर्धर्मातिरिक्तत्वेऽपि श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेरित्यादिनोत्तरग्रन्थे धर्मत्वविधानं सर्वेष्वपि प्राणिष्वावश्यकत्वापेक्षया परमश्रेयोरूपत्वाद्यपेक्षया च लाक्षणिकमेव । वस्तुतस्तु पञ्चमे तत्रापीत्यादिगद्ये भगवतः कर्म्मविध्वंसनश्रवणस्मरणेत्यादिना श्रीजड़भरतस्य या भक्ति-निष्ठोक्ता तस्याः पितर्य्युपरत इत्यादिगद्ये त्रय्यां विद्याया-मेव पर्य्यवसितमतयो न परविद्यायामित्यादिना तदवज्ञातृणां

न्तर ग्रन्थकृत्पाद एक सिद्धान्त का उत्थापन करते हैं—भागवत के १।५।१७ वें श्लोक में श्रीनारदजी ने कृष्णद्वैपायन से कहा है—स्वधर्म अर्थात् वर्णाश्रम धर्म का त्याग करके श्रीहरि-चरण कमल का भजन करते करते यदि अपक्व-अबस्था में पतित होता है अथवा उसकी मृत्यु हो जाती है तो भी उस भक्तिरसिक का भक्तिनाश अथवा किसी प्रकार का अनर्थ नहीं होता है । अतः भक्ति का वर्णाश्रमादि धर्म से भिन्नत्व स्पष्ट ही प्रतीत हो रहा है । यहाँ विचार उठ सकता है कि—नारदजी ने वर्णाश्रम-धर्मवर्णन प्रसंग में महापुरुषों का आगमन रूप श्रीहरिकथाश्रवण एवं कीर्त्तन तथा हरिस्मरण की ७।११।११ वें श्लोक में क्यों गणना की ? उसका समाधान यह है कि—यद्यपि श्रवण-कीर्त्तनादि-लक्षण मूला भक्ति वर्णाश्रम धर्म से पृथक् है तो भी प्राणिमात्र में उस की अवश्य कर्त्तव्यता है इसी बात को दिखाने के लिये वर्णाश्रम-धर्मवर्णन प्रसंग में हरिकथा-श्रवण-कीर्त्तनादि का उल्लेख उन्होंने किया है । क्यों कि हरिकथा-कीर्त्तन श्रवणादि परम मङ्गल-स्वरूप है । समस्त प्राणियों में उसकी परम आवश्यकता है

तद्भ्रातृणामज्ञत्वबोधनेन धर्मातिरिक्तत्वं परविद्यात्वञ्च बोधितम् । अतएवोक्तं श्रीनारसिंहे--"सनकाद्या निवृत्त्याख्ये ते च धर्मे नियोजिताः । प्रवृत्त्याख्ये मरीच्याद्या मुक्तैकं नारदं मुनिमि"ति । तेन ब्रह्मणेति प्राकरणिकम् । तथा लक्षणामयकष्टकल्पनया श्रवणादीनां स्वधर्मान्तर्गणना च वहिर्मुखानामपि साक्षाद् भक्तिप्रवर्त्तनायैव । एवमन्यत्रापि अन्यमिश्रभक्त्युपदेशवाक्येषु ज्ञेयम् । तस्मादपि भक्तावेव तात्पर्य्यमिति ॥७॥११॥ श्रीनारदो युधिष्ठिरम् ॥५८॥

इस अपेक्षा से तथा परम-मङ्गलरूप की अपेक्षा से लाक्षणिक-बृत्ति के द्वारा ऐसा कहा गया है । वस्तुतः ५।६।७ वें गद्यमें भगवान्के श्रवण-कीर्त्तन से जड़-भरत की कर्म-विध्वंसन कारिणीभक्तिनिष्ठा दिखलाई गई है । पुनः ५।६।८ वें "पितर्य्युपरत" गद्य में त्रयी-विद्या अर्थात् त्रिगुणमयी कर्म-विद्या में पर्य्यवसित मतिवाले तथा जड़भरत के प्रति अनादरकारी भ्रातृगण को मूर्खत्व बतला कर भक्ति को त्रिगुणात्मक धर्म से पृथक् एवं परविद्या रूप से समझाया गया है । अतएव श्रीनरसिंहपुराण में कहा गया है—ब्रह्माजी ने उन सनकादि ऋषियों को निवृत्त्याख्य धर्म में तथा नारदजी से भिन्न मरीचि आदिक प्रजापति गण को प्रवृत्त्याख्य धर्ममें नियुक्त किया है । वहां ब्रह्माजी को ही नियुक्त कर्त्ता करके उल्लेखित किया गया है । लक्षणामय कष्ट-कल्पना के द्वारा श्रवणादि भक्ति-अंग समूह की वर्णाश्रमादिधर्म में यहाँ गणना केवल बहिर्म्मुख जीवगण की साक्षाद् भक्ति-अनुष्ठान में प्रवृत्ति-उत्पादन के लिये जानना । अतएव भागवत में किसी किसी प्रसंग में विशुद्ध भक्ति-धर्म के विरोध में अन्य किसी धर्म का जो उपदेश है उस उपदेश का पूर्व कथित सिद्धान्त से विशुद्धभक्ति में मार्म्मिक

जायन्तेयोपाख्यानेऽपि अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छाम इत्यस्योत्तरम्—मन्येऽकुतश्चिद्भयमच्युतस्य पादाम्बुजोपासनमत्र नित्यम् । उद्विग्नबुद्धेरसदात्मभावाद्विश्वात्मना यत्र निवर्त्तते भीः ॥५९॥

टीका च—प्रथममात्यन्तिकं क्षेमं कथयति मन्ये इतीत्यादिका । पुनश्च धर्मान् भागवतान् ब्रूतेत्यस्योत्तरत्वेन ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धय इत्यादिपद्यत्रयमुक्त्वा भय द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादित्यादिपद्ये बुध आभजेत्तं

तात्पर्य समझ लेना ॥ श्रीयुधिष्टर के प्रति नारदजी का यह वचन है ॥५८॥

श्रीनिमि-जायन्तेय उपाख्यान में भी—"अत आत्यन्तिकं क्षेमं पृच्छामो" अर्थात्—हे महापुरुषबृन्द ! आप सब के चरणों के समीप हम सब आत्यन्तिक क्षेम पूछते हैं" इस प्रश्न के उत्तर में कवियोगीन्द्र कहते हैं कि—इस संसार में असत् देहादि जड़बस्तु में आत्मबुद्धि करने वाले एवं उससे उद्विग्न चित्त वाले मनुष्यों के पक्षमें नित्य अच्युत-चरण-कमल की उपासना अकुतश्चित् भय करके हम मानते हैं ॥५९॥

टीकार्थ—"मन्ये" इत्यादि श्लोक में पहले आत्यन्तिक क्षेम कहते हैं" इत्यादि ।

पुनः—"धर्म्मान् भागवतान् ब्रूत" अर्थात् "भागवत-धर्म्मों को कहिये" इसके उत्तर में "ये वै भगवता प्रोक्ता उपाया ह्यात्मलब्धये" अर्थात् "आत्मोपलब्धि के लिये भगवान् ने जो समस्त उपाय कहे हैं" इत्यादि श्लोकत्रय कह कर "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" अर्थात् "द्वितीय अभिनिवेश से भय है" इत्यादि श्लोक में "बुध आभजेत्

भक्त्यैकयेशमित्यत्र भक्त्येत्यनेन तस्या ज्ञानाद्यमिश्रश्रवण-कीर्त्तनादिलक्षणत्वम्, एकयेत्यनेन नैरन्तर्य्यलक्षणमव्यभिचारित्वं चोपदिष्टम् । तत्र यद्यपि कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा इत्यादिप्राक्तनवाक्ये लौकिकस्यापि कर्म्मणो भगवदर्पणाद्भागवतधर्म्मत्वं सिध्यतीति यथोक्तं नैरन्तर्य्यमपि सम्भवति तथापि श्रवणकीर्त्तनादिलक्षणमात्रत्वं व्याहन्येत तस्मात्तत्राव्यभिचारित्वं तन्मात्रत्वञ्च यथा भवेत्तथोपायं

भक्त्यैकयेशम्" अर्थात् "विज्ञजन उन मायानियामक परमेश्वर का एकान्त भक्ति से भजन करें" ऐसा कहा गया है। यहाँ "भक्त्यैकया" शब्द से ज्ञानादि-अमिश्रण श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति का नैरन्तर्य्य अर्थात् अव्यभिचारित्व कथन उपदेश है। उस प्रसंग में यद्यपि "कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा" "अर्थात् काय, मन, वाक्य एवं समस्त इन्द्रियों के द्वारा जो किये जाते हैं वे सब शास्त्रीय तथा लौकिक कर्म भगवान् में अर्पित होने पर भागवतधर्म लक्षण प्राप्त होते हैं" इत्यादि पूर्ववाक्य से लौकिक कर्मों के भगवद् अर्पण से भागवतधर्म्मत्व सिद्ध होता है। इस पूर्ववाक्य में जो कहा गया है उस में "नैरन्तर्य्य" अर्थात् सार्वदिकत्व सम्भावित होता है। अर्थात् सर्वदा कर्म-करना जीव का स्वभाव होता है तो केवल श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षणा भक्ति करें" इस वचन में व्याघात उपस्थित हो सकता है इस लिये उस श्रवण-कीर्त्तनादि भक्ति का अव्यभिचारित्व बतलाया गया है। अर्थात् केवल सार्वदिकत्व उस भगवद् भक्ति का अनुष्ठान करें अन्य ज्ञान-कर्मादि का अनुष्ठान न करें। सर्वदा अनुष्ठान करने का जो उपाय है उसे आगे के दो श्लोकों से कवियोगीन्द्रजी कहते हैं—उनमें पहले लय-कषाय-विक्षेपादि रहित चित्त के द्वारा अव्यभिचारी भक्ति होने का उपाय बतलाते हैं—

तदनन्तरमाह द्वाभ्याम् । तत्र प्रथममव्यभिचारित्वोपायमाह प्रथमेन—अविद्यमानोऽप्यवभाति हि द्वयो ध्यातुर्धिया स्वप्न-मनोरथौ यथा । तत् कर्म्मसङ्कल्पविकल्पकं मनो बुधो निरुन्ध्यादभयं ततः स्यात् ॥६०॥

द्वयः प्रधानादिद्वैतप्रपञ्चः यद्यप्यविद्यमान आत्मनि शुद्धे न विद्यत एवेत्यर्थः तथापि ध्यातुरविद्यामयध्यानयुक्तस्य सतस्तस्य धिया अवभाति तस्मिन् शुद्धेऽपि कल्पयत एवेत्यर्थः । यथा स्वप्नो मनोरथश्च तथेत्यर्थः । तत्तस्मात्

हे राजन् ! बिषय करके कोई वास्तविक बस्तु नहीं है, परन्तु जड़ बस्तु के साथ मन का संकल्प विषय माना जाता है। अत: उस से मन का निरोध करके भजन करने पर अवश्य ही अभय प्राप्ति होती है। यदद्यपि आत्मा में द्वैत-प्रपञ्च नहीं है तो भी निरन्तर जड़-पदार्थ-संकल्प-कारिणी बुद्धिवृत्ति के द्वारा हृदय में विषय प्रकाश होता है। जैसा कि स्वप्न में वास्तविक व्याघ्र-सर्प-रथादि उपस्थित न होते हुए भी वे सब मानस-संकल्प हेतु प्रतिभात होते हैं। अतः जड़ बस्तु में संकल्प एवं विकल्प करने वाले मन के निरोध से हृदय में अव्यभिचारिणी भक्ति का उदय तथा उस से अभय लाभ होता है ॥६०॥

द्वय अर्थात् प्रधानादि द्वैत-प्रपञ्च है। यदद्यपि अविदद्यमान अर्थात् विशुद्ध आत्म-स्वरूप में वह द्वैतप्रपञ्च नहीं है तो भी अविदद्यामय ध्यान से युक्त ध्यानकारी के संकल्प सत्यरूप में प्रकाशमान होता है अर्थात् उस शुद्ध-आत्मा में कल्पित होता है। जिस प्रकार स्वप्न एवं मनोरथ में केवल मानस-संकल्प-आवेश से असत् बस्तु सत्रूप में प्रतिभात होकर मनके ऊपर क्रियाशील होती है यहाँ उसी प्रकार जानना ॥

कर्माणि सङ्कल्पयति विकल्पयति च यन्मनस्तन्नियच्छेत्तत-श्चाव्यभिचारिण्या भक्त्या भजनादभयं स्यादिति भावः। ननु तथापि मनोनिरोधरूपेण योगाभ्यासेन भक्तिकैवल्य-व्यभिचारः स्यादित्याशङ्क्य भक्त्यैव क्रियमाणया तदासक्त-त्वेन स्वत एव मनोनिरोधोऽपि स्यादिति तन्मात्रतोपायमाह द्वितीयेन—शृण्वन् सुभद्राणि रथाङ्गपाणेर्जन्मानि कर्माणि च यानि लोके। गीतानि नामानि तदर्थकानि गायन् विलज्जो विचरेदसङ्गः ॥६१॥

तदर्थकानि तानि जन्मानि कर्माणि च अर्थो येषां तानि नामानि। एतान्यपि साकल्येन ज्ञातुमशक्यानि इत्याशङ्क्याह

अतएव विविध-कर्मों के संकल्प एवं विकल्पकारी मनको संयमित करना होगा। उस के संयम से अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा भजन करने पर अभय प्राप्त होता है यह भावार्थ है। यदि कहो कि—मनो निरोधरूप योगाभ्यास से भक्तिकैवल्य का व्यभिचार हो सकता है तो उस शंका का समाधान यह है—अनुष्ठित भक्ति के द्वारा भजनानुष्ठान में आसक्ति होने पर उस से मनो-निरोध स्वतः ही हो जाता है ॥

अब केवल भक्ति-मात्र उपाय को द्वितीय श्लोक से कहते हैं--हे राजन्! चक्रपाणी श्रीकृष्ण के जो समस्त जन्म-कर्म लौकिक-भाषा में गीत, नाम अर्थ रूपमें निबद्ध हैं उन समस्त नामों का गान-श्रवण एवं अर्थ का चिन्तन करते करते लोकापेक्षा शून्य होकर सर्वत्र अना-सक्त भाव से विचरण करें ॥६१॥

आगे भी एकादशस्कन्ध के तृतीय अध्याय में श्रीआविर्होत्र-योगीन्द्र तथा श्रीनिमिराज के सम्बाद से कर्म्मादि का परिहार करके साक्षात्

यानि लोके गीतानि प्रसिद्धानि तानि शृण्वन् गायंश्च विचरेत् । असङ्गो निस्पृहः ॥ ११ ॥ २ ॥ श्रीकविर्विदेहम् ॥५९-६१॥

अग्रे च कर्म्मादीन् परिहरन् साक्षाद्भक्तिमेव विधत्ते—परोक्षबादो वेदोऽयं बालानामनुशासनम् । कर्म्ममोक्षाय कर्म्माणि विधत्ते ह्यगदं यथा । नाचरेद्यस्तु वेदोक्तं स्वयमज्ञोऽजितेन्द्रियः । विकर्म्मणा ह्यधर्मेण मृत्योर्मृत्युमुपैति

भक्ति का अभिधेयत्व बतलाते हैं—उक्त योगीन्द्र ने निमिमहाराज से कहा है–हे राजन् ! वेदों का तात्पर्य्य अतिगहन है, इसलिये वेद-समस्त परोक्षबाद करके माने जाते हैं। परोक्षबाद यह है कि–"अन्य उद्देश्य में स्थित अर्थ को गोपन कर अन्य प्रकार से कहना है।" अल्पबुद्धि जन को स्वर्गादि सुखभोग सम्बाद बतला कर कर्म-निवृत्ति के लिये कर्मानुष्ठान की व्यवस्था देना यहाँ परोक्षवाद है। जिस प्रकार व्याधिग्रस्त बालकों को व्याधि-निवृत्ति के लिये औषध-सेवन अभिप्राय से लड्डू प्रदान का लोभ दिया जाता है अर्थात् "तुम औषध खा लो, तो लड्डू दूँगा" इस प्रकार लड्डू का लोभ दिखला कर बालक को औषध-सेवन में प्रवृत्ति की जाती है उस प्रकार स्वर्गादि सुख भोग का उल्लेख कर कर्मरूप व्याधि की निवृत्ति के लिये कर्म करने का आदेश दिया जाता है। बालक के प्रति औषध-सेवन कराना उद्देश्य है लड्डू भोजन कराने का नहीं, उसी प्रकार। यहाँ एक प्रश्न उठ सकता है कि—तब तो पहले से ही कर्मत्याग क्यों नहीं किया जावे। उसका समाधान यह है–प्रायतः मनुष्यगण अजितेन्द्रिय एवं अनभिज्ञ होते हैं। यदि उनको कोई कर्म करने का आदेश न दिया जावे तो वे वेद-विरुद्ध कर्मानुष्ठान कर सकते हैं, जिस से मृत्यु के बाद मृत्यु लाभ होता है। अर्थात् वे मरते ही मरते रह जाते हैं। अतः

सः । वेदोक्तमेव कुर्वाणो निःसङ्गोऽर्पितमीश्वरे । नैष्कर्म्यां लभते सिद्धिं रोचनार्था फलश्रुतिः । य आशु हृदयग्रन्थिं निर्जिहीर्षुः परात्मनः । विधिना च यजेद्देवं तन्त्रोक्तेन च केशवम् इत्यादि ॥६१॥

परोक्षेति टीका च—"यत्रान्यथा स्थितोऽर्थः संगोपयितुमन्यथा कृत्वोच्यते स परोक्षवादः । तथाच श्रुतिः । तं वा एतं चतुर्हुतं सन्तं चतुर्होतेत्याक्षते परोक्षेण परोक्षप्रिया एव

वेद-विहित कर्म को करें कभी वेद-निषिद्ध कर्म न करें। इस प्रकार शास्त्रादेश होता है। इस से यह प्रश्न उठ सकता है कि–तब तो कर्म किये जाने पर उस में आसक्ति तथा कर्म-जन्य फलोत्पत्ति अवश्य आ जावेगी तो इस का उत्तर यह है—अनभिनिवेश से कर्मानुष्ठान करते हुए ईश्वर में उन कर्मों को समर्पित करें अर्थात् कर्मफल-प्राप्ति के लिये आकांक्षा न रखें। तात्पर्य्य—आकांक्षारहित होकर कर्म करने पर नैष्कर्म्य अर्थात् निष्कामभाव उपस्थित हो जाता है। यदि कहो कि कर्म करने पर उसका फल अवश्य प्राप्त होगा क्योंकि श्रुति में कर्मफल का उल्लेख है। उस का उत्तर यह है-कर्म में रुचि-उत्पादन के लिये कर्म करने का आदेश दिया जाता है, वस्तुतः निष्कामभाव से कर्म करने पर कोई फलोदय नहीं है। वैदिक कर्मयोग का उल्लेख कर अब तन्त्रविहित कर्म का आदेश करते हैं–जो व्यक्ति स्थूल-सूक्ष्म देह से भिन्न आत्मग्रन्थि का छेदन करने की इच्छा रखता है वह तन्त्र-विहित प्रकार से अर्थात् आगममार्ग से अथवा वेदविधि प्रकार से केशव की अर्चना करें ॥६१॥

अब 'परोक्षवाद' इस श्लोक की स्वामीव्याख्या के साथ अपना सिद्धान्त स्थापन करते हैं—"जहाँ अन्य उद्देश्य में प्रयुक्त विषय कहा

हि वेदा इति परोक्षवादमेवाह कर्म्ममोक्षायेति । ननु स्वर्गाद्यर्थं कर्म्माणि विधत्ते न कर्म्ममोक्षार्थं तत्राह बालानामनुशासनं यथा तथा । अत्र दृष्टान्तः ; अगदमौषधं, यथा पिता बालमगदं पाययन् खण्डलड्डुकादिभिः प्रलोभयन् पाययति ददाति च तानि नैतावता अगदस्य तल्लाभः प्रयोजनं अपित्वारोग्यं तथा वेदोऽप्यवान्तरफलैः प्रलोभयन् कर्म्ममोक्षायैव कर्म्माणि विधत्त इत्येषा" । नाचरेदिति टीका च—ननु कर्म्ममोक्षश्चेत् पुरुषार्थस्तर्हि प्रथममेव कर्म्म त्यज्यताम् अत आह नाचरेदितीत्येषा । अज्ञः न विद्यते ज्ञा श्रीभगवतः

जाता है बह परोक्षवाद है अर्थात् जिसमें अन्य प्रकार से स्थित अर्थ गोपन के लिये अन्य प्रकार कहा जाता है उस को परोक्षबाद कहते हैं । श्रुति कहती है कि—"चार आहुतियाँ जिस में हैं उसको चर्तुहुत कहा जाता है, समस्त वेद परोक्षप्रिय होते हैं । परोक्ष-रूप से कहना वेदों का स्वभाव माना जाता है । वह परोक्षबाद यहाँ कर्म मोक्ष-के लिये जानना चाहिये ।" अच्छा ? स्वर्गादि सुख-भोग प्राप्त कराने के लिये कर्म-समूह प्रयोजित है कर्म-मोक्ष के लिये नहीं, इस प्रकार शंका का समाधान यह है जिस प्रकार बालकों का अनुशासन है उस प्रकार। इस में यह दृष्टान्त है कि-पिता बालक को खांड़, लड्डू का प्रलोभन देकर औषध पिलाता है एवं खंडलड्डू देता भी है । परन्तु यहाँ औषध पिलाना प्रयोजन नहीं है अपितु आरोग्यलाभ ही प्रयोजन है । उसी प्रकार वेद अवान्तरफलों का लोभ देकर कर्ममोक्ष के लिये ही कर्म-विधान करता है ।। "नाचरेद" इस की टीका—अच्छा ! कर्ममोक्ष ही यदि पुरुषार्थ है तब पहले से क्यों नहीं कर्म्मत्याग कर दिया जावे तो कहते हैं-"नाचरेद्" इत्यादि । वह अज्ञ है जो वेदोक्त कर्म का आचरण

कथाश्रवणादौ श्रद्धालक्षणा धीवृत्तिर्यस्य सः । अतएव तस्मिन् न प्रवर्त्तत इत्यर्थः । तथैवाजितेन्द्रियः ब्रह्मजिज्ञासुः सन् पारमेष्ठ्यपर्य्यन्तभोगे विरक्तो वा न भवतीत्यर्थः । तावत् कर्माणि कुर्वीतेत्यादौ परस्परनिरपेक्षयोः श्रद्धाविरक्त्योर्द्वयो-रेव तत्तन्मर्य्यादात्वेनोक्तेः । विकर्म्मणा विहिताकरणरूपेण मृत्योरनन्तरं मृत्युं मरणतुल्यं यातनामुपैति पुनः पुनर्मरण-मुपैति यातनाश्चोपैतीत्यर्थः । अतस्तेषां विहितकर्म्मत्यागे कथञ्चिन्न निस्तारः । ईश्वरप्रयोजककर्त्तृकस्य कर्म्मण ईश्वरा-र्पणलक्षणयथार्थानुष्ठानेन तत्प्रसादे त्वसौ सुतरां मैवं स्यादि-

---

नहीं करता है । अज्ञ अर्थात् नहीं है "ज्ञा" भगवान् के कथा-श्रवणादि में श्रद्धालक्षण बुद्धिवृत्ति जिस की वह । इसी लिये वह उस में प्रवेश नहीं कर पाता है यह भावार्थ । पुनः वह अजितेन्द्रिय है अर्थात् ब्रह्म-जिज्ञासु होकर भी परमेष्ठ्यादि पर्यन्त भोग से विरत नहीं होता है। "तावत् कर्म्माणि कुर्व्वीत न निर्व्विद्येत यावता" अर्थात् तब तक कर्म्मों को करें जब तक कि उन से निर्वेद नहीं आता है" । यहाँ परस्पर निरपेक्षित श्रद्धा-विरक्ति दोनों की मर्य्यादा अर्थात् सीमा बतलाई गई है । अर्थात् जब तक ऐहिक-पारलौकिक समस्त सुख में विरक्ति नहीं आती है तब तक कर्म्म करने का आदेश दिया जाता है । परन्तु "दुष्टकर्म करने का आदेश नहीं दिया जाता ।"विकर्म्मणा"अर्थात् विहित अकरण से, मृत्यु के बाद मृत्यु अर्थात् मरण तुल्य यातना प्राप्त होती है । पुनः पुनः मरता है तथा यातना प्राप्त करता है यह भावार्थ है । अतएव विहित कर्मत्याग में उनका किसी प्रकार निस्तार नहीं है । परन्तु ईश्वर-प्रयोजन रखने वाले की कर्मों को ईश्वर में अर्पण करके यथार्थ अनुष्ठान द्वारा ईश्वर प्रसाद से इस प्रकार की स्थिति नहीं है ।

त्याह वेदोक्तमिति। तस्माद्वेदोक्तमेव कुर्वाणो न तु निषिद्धं नैष्कर्म्यां कर्म्मबन्धागोचरतां सिद्धिं लभते। ननु कर्माणि क्रियमाणे तस्मिन्नासक्तिस्तत्फलञ्च स्यात् न तु नैष्कर्म्यरूपा सिद्धिरत आह, निःसङ्गः अनभिनिवेशवान्। ईश्वरे तन्निमित्तमेव तत्रार्पितं न तु फलोद्देशेन। ननु फलस्य श्रुतत्वात् कर्म्मणि कृते फलं भवेदेव, न। रोचनार्थेति कर्म्मणि रुच्युत्पादनार्था अगदपाने खण्डलड्डुकादिवत्। ततश्च कर्माभिरुच्या वेदार्थं सम्यग्विचारयति। तदा च, यो वा एतदक्षर-

---

इस लिये "वेदोक्तमेव कुर्वाण" ऐसा कहा गया है। वेदोक्त कर्म्मों को ही करना परन्तु निषिद्ध-कर्मों का त्याग देना यह भावार्थ है। अतएव उन वेदविहित कर्म्मों को भगवान् में अर्पण कर अनुष्ठान करने पर कर्म्मबन्ध के अगोचर नैष्कर्म्यसिद्धि प्राप्त होती है। अर्थात् इस प्रकार से कर्म्मानुष्ठान करते करते कर्म्मबन्धन की निवृत्ति एवं पारलौकिक सुखभोग में वितृष्णा उत्पन्न होती है। यदि कहो कि-कर्म्म करने पर उस में आसक्ति तथा कर्म्मजात फल-प्राप्ति अवश्य रहती है तो उससे नैष्कर्म्य-रूपा सिद्धि किस प्रकार हो सकती ? तो उस का समाधान यह है-निसंग होकर अर्थात् उन में अभिनिवेशवान् न होकर कर्मों को करें। ईश्वर-निमित्त में उन का अर्पण कर दें परन्तु किसी फल उद्देश्य से नहीं। अच्छा ! जब फल सुनने में आता है तब तो कर्म्म करने पर फल अवश्य होना चाहिये तो कहते हैं-ऐसा नहीं। कर्म्मविधान तो रुचि-उत्पादन के लिये है। जैसा कि औषधपान में खण्डलड्डुकादि है। कर्मानुष्ठान में अभिरुचि का उदय होने पर वह वेदतात्पर्य्य की समालोचना कर सकता है, उसमें श्रुतियाँ आलोच्य विषय हो जाती हैं। उन समस्त श्रुति का अर्थ यथा-"हे गार्गी ! जो व्यक्ति इन अक्षय

मविदित्वा गार्ग्यस्माल्लोकात् प्रैति स कृपण इत्यनेनाब्रह्मज्ञस्य कृपणतां, तमेतं वेदानुवचनेन ब्राह्मणा विविदिषन्ति ब्रह्मचर्य्येणेत्यादिना यज्ञादीनां ज्ञानशेषताञ्चावधार्य्य निष्कामेषु कर्म्मसु प्रवर्त्तते। ततः स्वर्गकामो यजेतेत्यादिभिः कामितस्यैव स्वर्गादेः फलत्वेनावगमात् अकामितोऽसौ न भवतीति नैष्कर्म्यसिद्धिः स्वत एव भवतीति स्थिते किमुत श्रीमदीश्वरार्पणेन तत्प्रसादे सतीत्यर्थः। तदेवं विलम्बेनैव नैष्कर्म्यसिद्धेर्हेतुमुक्त्वा, यथा तरोर्मूलनिषेचनेनेति न्यायेन सर्वधर्म्म-

परमात्मा को न जान कर अर्थात् अनुभव न कर चला जाता है वह कृपण है अर्थात् आत्मवञ्चक है।" इस श्रुतिवचन से अब्रह्मज्ञ का कृपणत्व एवं "उन परमात्मा को ब्राह्मणगण वेदानुबचन के द्वारा जानने के लिये इच्छा करते हैं और ब्रह्मचर्यादि अनुष्ठान के द्वारा यथार्थ रूप से परमात्म तत्त्वज्ञान लाभ करने में समर्थ होते हैं" इस श्रुतिवचन से यज्ञादिकों का ज्ञानपरत्व जान कर वे निष्काम-कर्म्मों में प्रवर्त्तित होते हैं। अर्थात् समस्त कर्मोंके अनुष्ठान में जितने शास्त्रादेश हैं उनमें प्रत्येक आदेश का मुख्य-तात्पर्य्यतया निष्कामभावसे कर्मानुष्ठान करते करते ब्रह्मतत्त्व को जानने के लिये अधिकार प्राप्त करना है। अतएव "स्वर्गकामो यजेत" अर्थात् "स्वर्गकामी होकर यज्ञादि करें" इस श्रुतिवचन से स्वर्गकामना का जो उल्लेख है उसका तात्पर्य्य-जो व्यक्ति स्वर्गादि लाभ के लिये हृदय में कामना रखते हैं उन के स्वर्गादि-प्राप्ति फलरूप से उपस्थित होती है और जो स्वर्गादि-प्राप्ति की कामना नहीं रखते हैं उनके लिये स्वर्गादि-प्राप्ति फलरुप से उपस्थित नहीं होती है। अतः निष्कामी स्वभावतः नैष्कर्म्म्य-सिद्धि अर्थात् ऐहिक-पारलौकिक सुखभोग में विरक्त रहते हैं। जब इस प्रकार से सिद्धान्त की स्थिति हुई तब सर्व शक्ति-युक्त श्रीभगवान् में निखिल कर्म समर्पण के द्वारा उनकी प्रसन्नता से निष्काम भाव

पर्य्याप्ति-हेतुं नैष्कर्म्य-सिद्धिसाध्य-हृदयग्रन्थिभेदनस्यापि शीघ्रो ऽयं स्वातन्त्र्येयनाह, य आश्विति । य आशु शीघ्रमेव देहद्वयात् परस्यात्मनो जीवस्य हृदयग्रन्थिं देहाहङ्कारं निर्हर्त्तुमिच्छुर्भवति स त्वन्यत् कर्मादिकं स्वरूपत एव त्यक्त्वा तन्त्रोक्तेनागममार्गेण चकारात् वेदोक्तेन च विधिना प्रकारेण केशवं देवमर्चयेत् अन्यदेवदृष्टिपरित्यागार्थः । तथोपसंहारश्च—एवमग्न्यर्कतोयादावतिथौ हृदये च यः । यजेदीश्वरमात्मानमचिरान्मुच्यते हि सः ॥६३॥

आत्मानं परमात्मानम् ॥ ११ ॥ ३ ॥ श्रीमदाविर्होत्रो विदेहम् ॥६३॥

लाभ होगा इसमें कोई सन्देह नहीं रहता है। विलम्ब से नैष्कर्म्य-सिद्धि का हेतु कह कर अब "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" अर्थात्-वृक्षमूल सींचने से जिस प्रकार शाखा-पल्लवादि प्रफुल्लित होते हैं" इस नीति अबलम्बन से स्वतन्त्र-भाव से अतिशीघ्र विष्णुसन्तोष से सर्वधर्म-प्राप्ति एवं निष्काम भाव सिद्धि के साध्यरूप हृदय-ग्रन्थि-छेदन उपाय का कथन करते हैं—"य आशु हृदयग्रन्थिं" इत्यादिश्लोक से। "जो शीघ्र ही स्थूल-सूक्ष्म दोंनो शरीर से पर, आत्म स्वरूप अर्थात् जीवात्मा की हृदयग्रन्थि अर्थात् देहाहङ्कार का छेदन करने की इच्छा रखते हैं वे कर्म्मादि अन्य समस्त का स्वरूपतः त्याग कर आगमबिधि से देवदेव केशव की अर्च्चना करें।" "च" शब्द से वेदोक्त विधि से भी। अन्य देवता में दृष्टि-त्याग करने के लिये यहाँ केशवशब्द के साथ विशेषण-भूत देव-शब्द का प्रयोग जानना। उपसंहार वाक्य से भी विष्णु की उपासना सिद्ध होती है। आविर्होत्र-योगीद्र ने विष्णु-उपसना वतलाई है कि-हे राजन् ! मैंने वैदिक-तथा तान्त्रिक अर्च्चना की बात बतलाई

अग्रे च व्यतिरेकमुखेन–भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः । तेषामशान्तकामानां का निष्ठाविजितात्मनामित्येतत्प्रश्नोत्तरम्;—मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह । चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् । य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरं । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानभ्रष्टाः पतन्त्यधः ॥६४॥

है। उस प्रकार जो अग्नि-सूर्य्य-जलादि में तथा अतिथिजन में एवं निजहृदय में परमात्मा भगवान् की उपासना करता है वह शीघ्र ही मायाबन्धन से मुक्तिलाभ कर लेता है इस में कोई सन्देह नहीं है ॥६३

आगे व्यतिरेकमुख से (११।५) अध्याय में विदुरमहाराज के प्रश्न में भी भक्ति का अभिधेयत्व दिखलाया गया है। प्रश्न यह है कि-हे आत्मतत्त्वज्ञ-चूड़ामणिगण ! कहिये, मानव गण प्रायः भगवान् श्रीहरि का भजन नहीं करते हैं, उन सव अजितेन्द्रिय-अशान्त मानवों की क्या गति होगी ? इस के उत्तर में श्रीचमस–योगीन्द्र कहते हैं कि-जिस प्रकार द्वितीय पुरुष के मुख से सत्त्वगुण द्वारा ब्राह्मण, बाहुदेश से सत्त्व तथा रजो गुण द्वारा क्षत्रिय, उरुदेश से रजो तमोगुण द्वारा वैश्य, एवं चरणसे तमोगुण करके शूद्र इस प्रकारसे चार वर्णोंको उत्पत्तिहुई है, उसी प्रकार जंघा से गृहस्थाश्रम, हृदयदेश से ब्रह्मचर्य्य, वक्षःस्थल से वानप्रस्थ एवं मस्तक से संन्यासाश्रम की उत्पत्ति है। इन चार वर्णों एवं चार आश्रमों में रहकर जो अपने पिता, गुरु एवं भगवान् श्रीहरि का भजन नहीं करते हैं अथच उनमें अनादर-भाव रखते हैं वे पितृद्रोही, गुरुद्रोही तथा ईश्वरद्रोही पातकी हैं। उस पातक से वे सब निज निज वर्ण व आश्रम से अधः–पतित हो कर नाना-प्रकार की गर्भयातना भोगते हैं ॥६४॥

पहले (११।४) अध्याय में श्रीद्राविड–योगीन्द्रकृत उपदेश

पूर्वं श्रीद्रविड़ोपदेशेऽपि देवकृतश्रीनारायणस्तुतौ—त्वां सेवतां सुरकृता बहवोऽन्तरायाः स्वौको विलङ्घ्य परमं व्रजतां पदं ते । नान्यस्य वर्हिषि बलिं ददतः स्वभागान् धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्ध्नीत्युक्तम् । तत्र च यज्ञे स्वभागान् ददतः सुरकृता विघ्ना न भवन्ति त्वां सेवमानानां तु मात्सर्य्येण तत्कृतास्ते भवन्ति किन्तु यदीति निश्चये यदि वेदाः प्रमाणम् इतिवत् निश्चितमेव त्व तेषामवितेति त्वां सेवमानो विघ्नमूर्द्धि्न पदञ्च धत्ते प्रत्युत तमेव सोपानमिव

में देवगणकृत नारायण-स्तुति प्रसंग में भी कहा गया है—हे प्रभो! जो आप की सेवा करते हैं उन को देवगण-कृत राशि राशि विघ्न उपस्थित होते हैं, उस का कारण यह है कि-सेवाकारी भक्त-जन उन देवों के निवास स्थान स्वर्ग का अतिक्रमण करके आपके प्रियस्थान वैकुण्ठ को गमन करते हैं। अतः देवतागण उसको सहन न कर विघ्न डालते हैं। परन्तु जो यज्ञादि-कर्म्म के द्वारा उन देवताओं को प्राप्य-भाग अर्पण करते हैं उन के प्रति कोई विघ्नाचरण नहीं करते हैं। वे सब मात्सर्य्य-वश विघ्न डालते हैं कि-अब तक तो ये सब हमारे पाँव के नीचे रहैं अब एकान्तभाव से हरि-भजन कर हम सब के माथे पर हो कर वैकुंठधाम चले जा रहै हैं। इसको हम सब सहन नहीं कर सकते हैं इत्यादि। परन्तु निष्कामभक्तों का वे कुछ विघ्न नहीं कर सकते हैं, क्यों कि आप उनके रक्षक हैं, वरं निष्कामी भक्तगण उन विघ्नों के माथे पर चरण रखकर परमानन्द पूर्वक आनन्दमय वैकुण्ठ में चले जाते हैं।"त्वमविता यदि विघ्नमूर्द्धि्न" इस श्लोक में "यदि" शब्द निश्चयार्थ में प्रयोग किया गया है। यदि वेद प्रमाणीभूत है तो हमारे यह वचन निश्चय प्रमाण-स्वरुप है अर्थात् वेद जिस प्रकार प्रमाण-रुप माना जाता हे और उस का वचन कभी व्यभिचारी नहीं

कृत्वा व्रजतीत्यर्थः। तदेवं श्रुत्वा संसार एव तिष्ठतां यत् पर्य्यवसानं भवेत्तत् पृष्टं भगवन्तमित्यादिना। तत्रोत्तरयन् प्रथमं तेषां प्रत्यवायित्वमाह मुखेति पादोनद्वयेन। पर्य्यवसानमाह स्थानादिति पादेन ॥११॥५॥ श्रीचमसो विदेहम् ॥६४॥

अग्रे च पूर्वोक्तप्रकारेण भक्तेरेवाभिहितत्वे भवेत्तस्य तद्विशेषप्रश्नोऽपि युक्तः। कस्मिन् काल इत्यादिना तथैवोत्त-

---

है उस प्रकार यह हमारा वचन अव्यभिचारी है अर्थात् यह हमारा बचन अव्यर्थ है। आप के भक्तगणों के विषय में देवगण-कृत बिघ्न क्रियान्वित (कार्यशील) नहीं होते हैं। वरं भक्तगण उन विघ्नों के मस्तक पर पाँव रख कर अर्थात् वैकुण्ठारोहण में सीढ़ी एक मानकर उसे ठुकराकर चले जाते हैं। जो संसारसुखमें आविष्ट हैं उनकी दुरवस्थाको लक्ष्य करके ही विदेह-महाराजने इस प्रश्नकी अवतारणा की है कि "भगवन्तं हरिं प्रायो न भजन्त्यात्मवित्तमाः" इस श्लोक से। उस प्रश्न के उत्तर-स्वरुप में द्रविड योगीन्द का "मुख-बाहूरु-पादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह" यह वचन है। भगवान् का भजन न करने से गुरु-तर प्रत्यवाय होता है यह पौने दो श्लोकों से कहा गया है। शेष एक चरण में "स्थानाद्भ्रष्टाः" बचन से उनकी दुर्गति दिखलाई गई कि-वे अपने अपने वर्ण एवं आश्रम से भ्रष्ट हो कर अधः पतित हो जाते हैं॥६४॥

आगे (११।५) अध्याय में पूर्ववर्णित प्रकार से भक्ति का अभिधेयत्व होगा इस अभिप्राय से भक्ति के प्रकार विशेष जानने के लिये यथायुक्त प्रश्न भी किया गया है। किस युग में भगवान् किस वर्ण करके, किस प्रकार आकार से, किस नाम से तथा किस विधि के अनु-

रितम् । कृतं त्रेता द्वापरश्च कलिरित्येषु केशवः । नाना-
वर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते ॥६५॥

नानैव विधिना विविधेन मार्गेण ॥११॥५॥ श्रीकर-
भाजनो विदेहम् ॥६५॥

श्रीभगवदुद्धवसंवादेऽपि—त्वन्तु सर्वं परित्यज्य स्नेहं
स्वजनबन्धुषु । मय्यावेश्य मनः सम्यक् समदृक् विचरस्व
गाम् ॥६६॥

सार पूजित होते हैं उसे हम को कहिये। करभाजन के उस प्रकार
प्रश्न किये जाने पर योगीन्द्र तद्रूप उत्तर देते हैं कि—"हे राजन्!
भगवान् केशव सत्य-त्रेता-द्वापर एवं कलि इन चार युगों में विविधवर्ण
से, विविध आकार से तथा विविध नाम से अभिहित होकर विविध
विधिमार्ग से उन उन युगानुवर्त्ती मनुष्यगण के द्वारा आराधित होते
हैं ॥६५॥

श्रीभगवदुद्धवसम्बाद में भी कहा गया है–"हे उद्धव! परन्तु तुम
स्वजन बन्धुवान्धव के प्रति सर्वप्रकार से जो स्नेह है उसका त्याग कर
मुझ में मन आविष्ट कर सर्वत्र समदृष्टि से पृथ्वी में विचरण करो।"
"उद्धव हम से किस प्रकार न्यून नहीं है"इस प्रकार भगवान् की उक्ति
से उद्धवजी नित्यसिद्ध (नित्य-परिकर) करके प्रसिद्ध हैं। इस में कोई
सन्देह नहीं है। अतः नित्यसिद्ध उद्धवजी के प्रति सर्वत्याग-मार्ग का
उपदेश नहीं हो सकता है। किन्तु उद्धव जी को लक्ष्य करके ही विष-
याविष्ट अन्य जीवों के प्रति उपदेश किया गया है। इसी प्रकार उप-
देश अन्यत्र भी जानना। अतएव जहल्लक्षणा के द्वारा "त्वं विचरस्व"
"अर्थात् तुम विचरण करो" यहाँ "भक्तो विचरतु" अर्थात् तुम्हारे
मार्गानुगत भक्त विचरण करें ऐसा अर्थ माना जावेगा। "गङ्गायां
घोषः प्रतिवसति" अर्थात् "गंगा में घोष निवास कर रहा है" यहाँ

नोद्धवोऽण्वपि मन्न्यू न इत्यादिभिः श्रीमदुद्धवस्य सिद्धत्वेनैव प्रसिद्धत्वात् तं लक्ष्यीकृत्य तद्द्वारान्येभ्य एवोपदेशोऽयम्। एवमन्यत्र ज्ञेयम्। तत्र्श्च जहल्लक्षणया त्वं त्वदीयमार्गानुगतो भक्तो विचरस्व विचरत्वित्येवार्थः। समदृक्त्वञ्च मां विनान्यत्र हेयोपादेयत्वाभावात्। तु शब्दो वहिर्मुखनिवृत्त्यर्थः। तेनापि पूर्वमिदमभिप्रेतम्—त्वयोपयुक्तस्रगगन्धवासोऽलङ्कारर्चञ्चिताः। उच्छिष्टभोजिनो दासास्तव मायां जयेमहि।

जिस प्रकार जल-प्रवाहरूप गंगा में आभीर-पल्लीनिवास की असम्भावना के कारण गंगाशब्द मुख्यार्थ का त्याग कर गंगातट-भूमिमें निवास करने का ज्ञात कराता है उस प्रकार यहाँ भी उद्धवजीको लक्ष्य करके अन्य जीव अथवा उद्धव-मार्गानुयायी भक्तों के प्रति उपदेश है। क्योंकि-उद्धवजी की सर्व-विषय में आवेशशून्यता एवं भगवान् में नित्य आविष्टता मौजूद है। उनके प्रति सर्वस्नेहत्याग एवं भगवान् में गाढ़ आविष्ट होने का उपदेश किस प्रकार दिया जा सकता है। सुतरां इस श्लोक में "त्वं" इस पद का अर्थ तुम्हारे अनुसरणकारी भक्तजन हैं। वे सर्वत्र स्नेहशून्य होकर विचरण करें। "समदृक्" शब्द का अर्थ-हम से भिन्न अन्यत्र हेय व उपादेय बुद्धि शून्य होकर जानना। "त्वन्तु" यहाँ जो तुकार है उस का प्रयोग वहिर्मुखभावनिवृत्ति के लिये है। उद्धवजीने भी पहले इसी प्रकार अपना अभिप्राय प्रकट किया है। हे प्रभो! हम सब तुम्हारे दास हैं। तुम्हारे द्वारा स्वीकृत माल्य-गन्ध-वसन तथा अलङ्कार से विभूषित होकर तुम्हारे उच्छिष्ट का भोजन कर अनायास तुम्हारी दुर्जया माया को जीत लेते हैं। दिगम्बर, उद्ध्वंरेता, आत्मतत्वानुशीलन में श्रमशील, सर्वविषय में त्यागी, अन्तः-करण-संयमी एवं रागादि-मल-शून्य-मुनिगण तुम्हारे निर्व्विशेष ब्रह्म नामक अंगज्योति में लीन होते हैं परन्तु हे महायोगीन्द्र! हमसब कर्म-

वातरशना मुनयः श्रमणा ऊर्द्धमन्थिनः। ब्रह्माख्यं धाम ते यान्ति शान्ताः सन्न्यासिनोऽमलाः। वयन्त्विह महायोगिन् भ्रमन्तः कर्म्मवर्त्मसु। त्वद्वार्त्तया तरिष्यामस्तावकैर्दुस्तरं तमः। स्मरन्तः कीर्त्तयन्तश्च कृतानि गदितानि ते। गत्यु त्स्मितेक्षितक्ष्वेलि यन्नृलोकविड़म्बनमिति ॥११॥७॥ श्रीभगवान् ॥६६॥

अग्रे च ज्ञानयोगस्य केवलस्यासाध्यत्वं भक्तियोगस्य तु सुखसाध्यत्वमानुषङ्गिकतया ज्ञानजनकत्वं स्वयमपि पुरुषार्थत्वञ्चेति। यथा—न कुर्य्यान्न वदेत् किञ्चित् न ध्यायेत्

मय संसार में परिभ्रमण करते हुए तुम्हारे प्रियजनोंके साथ तुम्हारे कथा प्रसंग का कीर्त्तन करते करते तुम्हारे लीला-चरित्र का स्मरण करते करते अनायास दुस्तर संसार से उत्तीर्ण होंगे। आप के जो लीला-चरित्र कहे गये हैं एवं जो आप की गमन-भङ्गिमा, उच्चहास्य, प्रीति-युक्त अबलोकन तथा परिहासमय बचन हैं जिनका आपने इस मनुष्य-लोक में अनुकरण किया है वे समस्त परमाद्भुत हैं जिस से मनुष्यों में बिडम्बना आजाती है" ॥६६॥

आगे ११वें अध्यायमें केवल ज्ञानयोग का असाध्यत्व, भक्तियोग का सुखसाध्यत्व तथा आनुषङ्गिक से उसका ज्ञानजनकत्व एवं स्वयं पुरुषार्थत्व दिखलाया गया है। यथा-"आत्माराम न कुछ करें, न कुछ कहें न साधु असाधु कुछ भावना करें। सर्वदा इस प्रकार निज स्वरूपानन्द में निमग्न रह कर जड़ की भाँति विचरण करें।" यहाँ तक ज्ञानयोग का उपदेश कर, अब भक्तियोग की उद्भावना करते हैं कि-यदि कोई शब्दब्रह्म अर्थात् वेद व वेदार्थविचार में निपुण होकर परतत्त्व का अर्थात् परब्रह्म का ध्यानादि के द्वारा साधन नहीं करता है तब उस

साध्वसाधु वा। आत्मारामोऽनया वृत्त्या विचरेज्जड़वन्मु-निरित्यन्तेन ग्रन्थेन ज्ञानयोगमुक्त्वा भक्तियोगमुद्भावयितु-माह—शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि। श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः ॥६७॥

अत्र परब्रह्मपदेन परतत्त्वमात्रमुच्यते न तु ब्रह्मत्वभगव-त्त्वादिविवेकेनेति ज्ञेयं सर्वत्र तत्सामान्यात्। तदेवं शब्द-ब्रह्माभ्यासस्य परब्रह्माभ्यासः प्रयोजनमित्युक्तम्। तत्र सर्वेष्वेवांशेषु विशेषतः उपनिषद्भागे शब्दब्रह्मणस्तत्प्रतिपाद-कत्वे स्थितेऽपि तद्विचारकोटिभिरपि परब्रह्मनिष्ठा न जायते

का वह वेदाध्ययनादि श्रम-मात्र जानना, जिस प्रकार चिरप्रसूता धेनुके पालन से दुग्ध-प्राप्ति की आशा नहीं रहती है उस प्रकार ॥६७॥

यहाँ परब्रह्म पद से परतत्त्व-मात्र का कथन है परन्तु ब्रह्मत्व-भग-वत्त्वादि विवेक से नहीं। क्यों कि यहाँ सब का सामान्य-रूप से कथन है। अतएव शब्दब्रह्म-अभ्यास को परब्रह्म-अभ्यास का प्रयोजन बत-लाया गया है। यद्यपि वेद के सर्वांश में विशेष करके उपनिषद्भाग में शब्दब्रह्म का परतत्त्व-रूप में प्रतिपादन किया गया है तो भी कोटि-कोटि वार विचार से परब्रह्मनिष्टा उत्पन्न नहीं होती है। परन्तु वेद के जिस अंश में भगवदाकार-स्वरूप परब्रह्म के लीलादि का प्रतिपादन किया गया है उस अंश के अभ्यास के द्वारा ही भगवदाकार में तथा निर्विशेष ब्रह्म-स्वरूप में निष्ठा उत्पन्न होती है। इस अभिप्राय को लेकर शुकदेवजी ने (१२।४।४०) महाराज परीक्षित् से कहा है। "हे राजन्! अति दुस्तर इस संसार-सागर का उत्तीर्ण के लिये जो इच्छा करते हैं उन के लिये एकमात्र पुरुषोत्तम भगवान् के लीलाचरित्र-रस सेवन के बिना अन्य कोई पार होने में साधन-भूत तरणी नहीं है। क्यों कि वे

किन्तु तस्मिन् यस्मिन्नंशे श्रीभगवदाकारपरब्रह्मलीलादिकं प्रतिपाद्यते तदभ्यासेनैव भगवदाकारे च निष्ठा जायते । तदुक्तम्—संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य । लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य । श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनामित्यादि च । अतएव मदीयलीलाशून्यां वैदिकीमपि वाचं नाभ्यसेदित्याह द्वाभ्याम्—गां दुग्धदोहामसतीञ्च भार्य्यां देहं पराधीनमसत्प्रजाञ्च । वित्तन्त्वतीर्थीकृतमङ्ग वाचं हीनां मया रक्षति दुःखदुःखी ॥६८॥

सव विविध दुःखदावानल से जर्जरित हैं । अन्य साधन-समूह तैर कर समुद्रपार करनेकी भाँति बहुल श्रमसाध्य है । भगवानूकी लीला-कथादि का श्रवण व कीर्त्तन अथवा स्मरण एकमात्र सुखमय उपाय है । दशमस्कन्ध के चौदह अध्याय चौथे श्लोक में श्रीब्रह्मा ने श्रीकृष्ण का स्तवन करते हुए कहा है-"हे विभो ! निखिल मङ्गल- प्रसविनी भक्ति का अनादर करके केवल ज्ञानलाभ के लिये जो क्लेश स्वीकार करते हैं उन का तत्साधनजनित क्लेश ही अवशेष रहता है, अन्य कोई फललाभ नहीं है । जैसे कि—राशिकृत धान की छिलका के कूटने पर केवल परिश्रम ही होता है, अर्थात् कोई फललाभ नहीं है । अतएव मेरे लीला-चरितों से रहित वैदिकी कथा का भी अभ्यास न करें इस बात को दो श्लोकों से कहते हैं—हे उद्धव ! जैसा दूँही हुई गौ, कामगन्धरहिता अथच अन्य पुरुषमें आसक्ता रमणी, पराधीन शरीर, असत्पुत्र, अपवित्र सम्पत्ति इन की रक्षा में दोनों प्रकार से दुःख हैं उस प्रकार भगवान् की लीलाकथा से रहित वैदिक-कथा का श्रवण व कीर्त्तन

मया श्रीभगवता हीनां मम लीलादिशून्याम् । मया हीनां वाचमित्युक्तं विवृणोति—यस्यां न मे पावनमङ्ग कर्म्म स्थित्युद्भवत्राणनिरोधमस्य । लीलावतारेप्सितजन्म वा स्याद्वन्ध्यां गिरन्तां विभृयान्न धीरः ॥६६॥

यस्यां मे जगतः शोधकं चरितं न स्यात् । किन्तत् अस्य विश्वस्य स्थित्यादिरूपं तद्धेतुरित्यर्थः । ततोऽप्युत्कृष्टतमत्वेन विमृश्याह-लीलावतारेषु ईप्सितं जगतः प्रेमास्पदं श्रीकृष्णरामादिजन्म वा न स्यात्तां निष्फलां गिरं वेदलक्षणामपि धीरो

करनेमें शास्त्रानुशीलन जन्य एक दुःख और पारमार्थिक आस्वादरहित होने के कारण दूसरा दुःख उपस्थित हो जाता है" ॥६८॥

श्लोक में "मया हीनां" इस की व्याख्या सन्दर्भकार करते हैं—मुझ भगवान् से रहित अर्थात् मेरी लीलाकथा से शून्य वेदवाणी की आदर से रक्षा करना दुःख पर दुःख हैं। इस प्रकार व्याख्या को एक श्लोकसे विस्तार कर कहते हैं कि–वेद की जिस कथा-विभाग में जग-पवित्रकारी मेरा चरित्र वर्णन नहीं है,जो चरित्र-वर्णन ऐश्वर्य्यमय सृष्टि-स्थिति-सहार-रूप तथा माधुर्य्यशाली जन्मादि लीलावतारस्वरुप है, वह विभाग पारमार्थिक आस्वाद असमर्थता के कारण वन्ध्या-रमणी की भाँति अनादरणीय है। अतः धीरजन उस में कभी आदर न करें ॥३६॥

जिस में मेरा जग-शोधन चरित्र नहीं है,जो कि इस विश्वके स्थित्यादिरूप है और उससे लीलावतारोंमें ईप्सित,उत्कृष्टतम,जगत् प्रेमास्पद-मय श्रीकृष्ण-रामादि जन्म विषय नहीं है उस वेदलक्षणा निष्फला-वाणी को बुद्धिमान् जन धारण न करें। "इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा" इत्यादि श्लोक में श्रीनारदजी ने कहा है–अर्थात् उत्तम श्लोक

धीमान् न धारयेत् । तदुक्तं श्रीनारदेन—इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वेत्यादि । अतएव गीतं कलियुगपावनावतारेण श्रीभगवता—"श्रुतमप्यौपनिषदं दूरे हरिकथामृतात् । यत्र सन्ति द्रवच्चित्तकम्पाश्रुपुलकादय" इति । तदेवं भक्तैयव ज्ञानं सिध्यतीत्युक्त्वा तञ्च ज्ञानमार्गमुपसंहरति—एवं जिज्ञासयापोह्य नानात्वभ्रममात्मनि । उपारमेत विरजं मनो मय्यर्प्य सर्वगे ॥७०।

जिज्ञासया बद्धो मुक्त इति व्याख्या गुणतो मे न वस्तुतः इत्यादि पूर्वोक्तप्रकारकविचारेण आत्मनि शुद्धजीवे नानात्वं

श्रीकृष्ण का गुणवर्णन मानवमात्र का तपस्या, अध्ययन, यज्ञ, ज्ञानसाधन एवं दान के नित्य फल रूप में निरूपित है । कलिपावनावतार भगवान् श्रीकृष्णचैतन्य-देव ने भी कहा है—"उपनिषद् प्रतिपाद्य ब्रह्म श्रुत होने पर भी हरिकथामृत से बहु दूर अवस्थान करता है, क्यों कि अनवरत ब्रह्मस्वरूप के श्रवण से ही हृदय विगलित नहीं होता है । जिस से हृदय-द्रव नहीं होता है वह किस प्रकार मंगलरूप हो सकता है ? चित्त-द्रवसे ही कम्प-अश्रु-पुलकादि भाव प्रगट होते हैं ।" इस प्रकार सिद्धान्त से भक्ति के द्वारा ही ज्ञान की सिद्धि होती है । ऐसा कहकर अब ज्ञानमार्ग का उपसंहार करते हैं । हे-उद्धव ! इस प्रकार जिज्ञासा के द्वारा आत्मस्वरूप में स्थूलत्व, कृशत्व-ब्राह्मणत्वादि नानात्व भ्रम त्याग करके लय-विक्षेप रहित मन को सर्वगत हम में अर्पण कर शान्ति प्राप्त करें ॥७०॥

श्लोक में जिज्ञासा पदसे "बद्धो-मुक्तः" इस प्रकार की व्याख्या गुणयोग से है वस्तुतः नहीं । पूर्वोक्त प्रकार में विचार के द्वारा शुद्ध जीवात्मा में देवत्व-मनुष्यत्व आदि भेद-ज्ञानशून्य होकर एवं मेरे लीलादि श्रवण के द्वारा ब्रह्माकार, सर्वग मुझ में

देवत्वमनुष्यत्वादिभेदमपोह्य एवं मल्लीलादिश्रवणेन मनो मयि ब्रह्माकारे सर्वगे अर्प्य धारयित्वा उपारमेत । तदेवं ज्ञानमिश्रां भक्तिमुपदिश्य तदनादरेण अनुषङ्गसिद्धज्ञानगुणां शुद्धामेव भक्तिमुपदिशति चतुर्भिः—यद्यनीशो धारयितुं मनो ब्रह्मणि निश्चलम् । मयि सर्वाणि कर्माणि निरपेक्षः समाचर ॥७१॥

यदीति निश्चये । टीकायां-धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्नमूर्ध्नीतिवत् । अत्र खलु ज्ञानेच्छुरेव श्रीमदुद्धवं प्रति तादृशत्वमारोप्यैवेदमुच्यते । ततश्च श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते

मन का अर्पण कर अन्य साधनानुष्ठानसे निवृत्त हो जाओ । इस प्रकार ज्ञानमिश्रा भक्ति का उपदेश कर पुनः उस के अनादर के द्वारा आनुषङ्गसिद्ध ज्ञानगुण वाली शुद्धा भक्ति का ही चार श्लोकों से उपदेश करते हैं । यथा-हे उद्धव ! तुम निश्चय निर्विशेष ब्रह्मस्वरुप में निश्चलभाव से मनोधारण नहीं कर सकते हो । अतः मोक्षपर्य्यन्त कामनाशून्य होकर मद्विषयक समस्तकर्मों का अनुष्ठान करो । यह श्लोकार्थ है ।

श्लोक में "यदि" यह शब्द निश्चयार्थ में है । क्यों कि "धत्ते पदं त्वमविता यदि विघ्न-मूर्ध्नि" इस श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामी ने "यदि" शब्द का निश्चयार्थ बतलाया है । यहाँ भी ऐसा ही अर्थ जानना । यहाँ किसी ज्ञानमार्ग के साधक की अभिलाषा पूर्ण करने के अभिप्राय से श्रीमान् उद्धव के प्रति लक्ष्य करके उस ज्ञानेच्छु के धर्म का आरोप कर इस प्रकार ज्ञान-उपदेश किया गया है । तदनन्तर "श्रेयः स्मृतिं भक्तिमुदस्य" इस ब्रह्मकृत स्तुति के "जो निखिल-मङ्गलजननी तुम्हारी भक्ति का परित्याग कर केवलज्ञान का आदर

विभो ! क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये । तेषामसौ इत्यादि प्रमाणेन भक्ति विना केवलज्ञानमार्गेण ब्रह्मणि मनो धारयितुं निश्चितमेवानीशो भवसि ततोऽपि स्वतो ज्ञानादिसर्वगुण-सेवितं भक्तिमार्गमेवाश्रयेतेति तत्सोपानमुपादिशति मयीत्या-दिना । अथवा प्राक्तनभक्तिबलाभावात् ब्रह्मज्ञानेच्छुर्यदि तत्र मनो धारयितुमनीशः स्यात्तदाधुनाप्येवं कुर्विति योज्यम् । समाचर अर्पय । निरपेक्षः वाञ्छान्तररहितः । ततश्च श्रद्धालुर्मत्कथाः शृण्वन् सुभद्रा लोकपावनीः । गायन्ननु-स्मरन् जन्म कर्म्म चाभिनयन् मुहुः । मदर्थे धर्म्मकामार्था-

---

करते हैं उन का क्लेशमात्र सार है" इस प्रमाणानुसार भक्ति के बिना केवल ज्ञानमार्ग से ब्रह्म में मनोधारण के लिये निश्चय ही अस-मर्थ होगे, अतः उस से स्वतः ही ज्ञानादि सर्वगुणसेवित भक्तिमार्ग का आश्रय करो ऐसा कह कर भक्तिसोपान का उपदेश करते हैं—"मयि सर्वाणि कर्माणि" इत्यादि श्लोक से। अथवा प्राक्तन भक्तिबल के अभाव से ब्रह्मज्ञानेच्छु यदि उस में मनोधारण के लिये असमर्थ होता है तब अभी भी ऐसा करें इस प्रकार योजना की जा सकती। समा-चर का अर्थ अर्पण करना है। निरपेक्ष का अर्थ वाञ्छान्तर रहित है। अब अन्य दो श्लोकों से उसी अर्थ को सुदृढ़ करते हैं—हे उद्धव ! इस प्रकार अनुष्ठान करते करते ऐहिक-पारलौकिक सुख से वितृष्ण होने के बाद सुदृढ़ विश्वास युक्त हृदय में जगपवित्रकारिणी सर्वप्रकार से मङ्गलदायिनी मेरी कथाओं का श्रवण-गान-तथा निर-न्तर स्मरण करते हुए एवं मेरे जन्म-कर्म समूह का बार बार अभि-नय करते हुए तथा मेरे सुख के लिये धर्म—विषयभोग तथा अर्थ उपार्ज्जन कर एकमात्र दृढ़ता रूप से मेरा अवलम्बन करने पर नित्य

नाचरन् मदपाश्रयः । लभते निश्चलां भक्तिं मय्युद्धव सनातने ॥७२॥

टीका च —"कर्म्मभिर्विशुद्धसत्त्वस्यान्तरङ्गां भक्तिमाह—श्रद्धालुरितीत्येषा"। अभिनयन् जन्मकर्म्मलीलयोर्मध्ये येऽशां निजाभीष्टभावभक्तगतास्तान् स्वयमनुकुर्वन् भगवद्गतान् भक्तान्तरगतांश्च तानन्यद्वारानुकुर्वन्नित्यर्थः। किञ्च यो धर्म्मो गोदानादिलक्षणस्तमपि मदर्थे मदीयजन्मादिमहोत्सवाङ्गत्वेनैव यश्च कामो महाप्रासादवासादिलक्षणस्तमपि मदर्थे मदीयसेवाद्यर्थं मन्मन्दिरवासादिलक्षणत्वेनैव यश्चार्थो धनसंग्रहस्तमपि मदर्थे मत्सेवामात्रोपयोगित्वेनैवाचरन् सेवमानः मदपाश्रय आश्रयान्तरशून्यचेताश्च सन् तामेव कथाश्रवणादि-

---

आनन्दस्वरूप मुझ में निश्चला भक्ति लाभ कर सकता है, यह श्लोकार्थ है।

टीका—निष्काम कर्मोंके द्वारा विशुद्धसत्त्ववाले साधक की अन्तरङ्गा भक्ति होती है उसे "श्रद्धालु" इत्यादि श्लोक से कहते हैं। यहाँ तक टीका की व्याख्या है। अब सन्दर्भव्याख्या करते हैं—"अभिनयन्"अर्थात् अभिनय करता हुआ। भगवान्के जन्म-कर्म एवं लीलाओंमें से जो अंश निज अभीष्ट-भावविशिष्ट भक्तगतहै उस अंशका स्वयं अभिनय करें और जो अंश भगवद्गत तथा भक्तान्तरगत है उसका अन्योंके द्वारा अभिनय करावें। लीला-अभिनयपद का यह अर्थ है। गोदानादिलक्षण जो धर्म है उस का मदर्थ में अर्थात् मेरे जन्मादि महोत्सव के अंग रूप से मान कर पालन करें और महाप्रासाद तथा मन्दिर–निवासादि में कामवृत्ति को लगावें। वह मेरी सेवा के लिये है मन्दिरनिवासादिलक्षण से उसे जानना। अर्थात् कामशब्द से महा अट्टालिका निवासादि

लक्षणां भक्तिं मयि निश्चलां सर्वदाव्यभिचारिणीं लभते तत्-सुखेन कैवल्यादावप्यनादरात् । न च भजनीयस्य चलतया वासा चलिष्यन्तीति मन्तव्यमित्याह सनातन इति । नन्वेवम्भूतभक्तिमार्गे प्रवृत्तिर्निष्ठा वा कथं स्यादित्याशङ्क्य तत्र हेतुमाह—सत्सङ्गलब्धया भक्त्या मयि मां स उपासितेति ॥७३॥

विषयभोग है, उस को मेरी सेवा में तथा मेरे मन्दिरनिवासादि में लगावें। धनादि संग्रह मेरे लिये करें। अर्थात् धनादिका मेरे सेवोपयोगी मान कर व्यवहृत करें। जिस परिमाण से धन संग्रह करने पर मेरी सेवा-परिपाटी रक्षा होगी उसी परिमाण से संग्रह चेष्टा करें। अपने इन्द्रियचरितार्थलालसा में नहीं। श्लोक में "मदपाश्रय" शब्द का अर्थ आश्रयान्तरशून्यचित्त होकर इस प्रकार से करने पर, उस कथा-श्रवणादिलक्षणा निश्चला अर्थात् सर्वदा अव्यभिचारिणी मेरी भक्ति को प्राप्त करता है,जिससे कैवल्यादिमें भी अनादर बुद्धि आजाती है। यदि कहो कि भजनीय भगवान् चलायमान होने के कारण अर्थात् आज हैं काल नहीं इस कारण अस्थायी हैं। मन्दिरादि में जो वैभव है वह भी अस्थायी है। तब सर्वदा अव्यभिचारिणी भक्ति किस प्रकार रह सकती है ? इस बात के निरास के लिये कहते हैं–मैं सनातन हूँ अर्थात् त्रिकाल में एक रूप से विद्यमान हूँ, मेरी अस्थिरता कभी नहीं है तथा मुझ में दत्त-वैभवादि की भी अस्थिरता नहीं है। यदि कहो कि–इस प्रकार के भक्तिमार्ग में प्रवृत्ति कैसी होगी व निष्ठा कैसी आवेगी ? इस आशंका की निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति-उदय होने के हेतु को कहते हैं—हे उद्धव ! एकमात्र सत्संग से ही मेरे विशुद्धभक्ति अनुष्ठान में रुचि होती है, जिस रुचि से उपासना करने की प्रवृत्ति व बाद में निष्ठा उत्पन्न हो जाती है ॥७३॥

भक्त्या भक्तिरुच्या स भक्तो मामुपासिता भजमानो भवति। तस्य च भक्तस्य मदीयं ब्रह्माकारं भगवदाकारञ्च सर्वमपि स्वरूपविज्ञानमनायासेनैव भवतीत्याह— स वै मे दर्शितं सद्भिरञ्जसा विन्दते पदमिति ॥७४॥

अञ्जसा भक्त्यनुसङ्गेनैव। पदं स्वरूपम् ॥ ११ ॥ ११ ॥ श्रीभगवान् ॥६७–७४॥

अग्रे च भक्तियोगस्यैव प्राक्सिद्धता साक्षात् श्रीभगवत्-प्रवर्त्तितता स्वयमेव मुख्यता परेषान्त्ववर्वाचीनता यथारुचि नानाजनप्रवर्त्तितता तुच्छता चेति। यथा—श्रीउद्धव उवाच– वदन्ति कृष्ण श्रेयांसि बहूनि ब्रह्मवादिनः। तेषां विकल्प-

---

सत्संग से भजनानुष्टान में रुचि होती है। उस रुचिभक्ति से वह भक्त मेरी उपासना अर्थात् भजन करता रहता है। उस भक्त को मेरे निर्व्विशेष ब्रह्माकार–ज्ञान तथा भगवदाकारज्ञान एवं समस्तस्वरूप-विज्ञान अनुभव अनायास से लाभ होता है। इस बात को एक श्लोक के शेष दो चरणों से कहते हैं–वह भक्त साधुगण के द्वारा प्रदर्शित मेरे स्वरूप-तत्त्व को अनायास आनुषङ्गिक रूप से अनुभव करता है। "अञ्जसा" शब्द का अर्थ भक्ति अनुषंग से है। "पद" शब्द का अर्थ स्वरूप है॥ एकादशस्कन्ध के एकादश अध्याय में भगवान् ने उद्धव से कहा है॥७४॥

आगे चौदहवें अध्याय में श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहेंगे—सृष्टि के पहले से ही भक्तियोग की सत्ता थी, कर्मादिसाधन के प्रचार से पहले ही भगवान् के द्वारा साक्षात् रूप से भक्ति की प्रवर्त्तना हुई, वह भक्तियोग अन्य निरपेक्ष होने के कारण स्वयं मुख्य है, अन्य समस्त अर्वाचीन तथा अपनी अपनी रुचि से नानाजनों से प्रवर्त्तित हैं और

प्राधान्यमुताहो एकमुख्यता ॥ भवतोदाहृतः स्वामिन् भक्तियोगोऽनपेक्षितः । निरस्य सर्वतः सङ्गं येन त्वय्याविशेन्मनः ॥७५॥

टीका च—"श्रेयांसि श्रेयः साधनानि । विकल्पेन प्राधान्यम् उताहो किं वा एकस्यैव मुख्यता । एकमुख्यतापक्षोत्थापने कारणं भवतेति । नापेक्षितमपेक्षा यस्मिन् स अहैतुकः । अयमर्थः--भवता यो भक्तियोग उक्तः अन्ये च यानि निःश्रेयससाधनानि वदन्ति तेषां किं फलसाधनत्वेन प्राधान्यमेव सर्वेषाम् उत अङ्गाङ्गित्वम् । प्राधान्येनैव विकल्पेन

तुच्छ भी हैं। इस पर उद्धवजी का प्रश्न है कि—हे कृष्ण ! ब्रह्मवादीगण मंगल प्राप्ति के लिये नाना प्रकार साधन–मार्ग बतलाते हैं, उन में विकल्प करके सब का प्राधान्य है अथवा एक किसी की प्राधान्यता है ? हे स्वामिन् ! परन्तु आपने अन्य-निरपेक्ष भक्तियोग का हमें उपदेश किया है, जिस भक्तियोग के प्रभाव से अन्य साध्य-साधन से आसक्ति शून्य होकर एकमात्र आपमें मन गाढ़ावेश हो जाता है ॥७५॥

श्रीधरस्वामीकृत इसकी व्याख्या—

"श्रेयांसि"—नाना प्रकार मङ्गल-प्रापक साधन हैं। उनका विकल्प से प्राधान्य है अर्थात् इस का प्राधान्य है, पुनः अन्य का प्राधान्य है इत्यादि प्रकार से प्रत्येक का प्राधान्य है। अथवा एक की मुख्यता अन्य सब की गौणता है ? एक की मुख्यता के उत्थापन में आप ही कारण हैं। क्योंकि आपने ही अनपेक्षित भक्तियोग की बात कही है। यहाँ अनपेक्षित शब्द का अर्थ जिस भक्ति में अन्य किसी अपेक्षा नहीं है उस प्रकार अहैतुक भक्तियोग है। इस श्लोक का तात्पर्य यह है कि—आपने जो भक्तियोग कहा है, और अन्य सबने कल्याणसाधक

सर्वेषां तुल्यफलत्वम् । यद्वा कश्चिद् विशेष इत्येषा ।" अत्रोत्तरं—श्रीभगवानुवाच । कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्म्मो यस्यां मदात्मकः ॥७६॥

टीका च–"तत्र भक्तिरेव महाफलत्वेन मुख्या अन्यानि तु स्वस्वप्रकृत्यनुसारेण खपुष्पस्थानीयस्वर्गादिफलबुद्धिभिः प्राणिभिः प्राधान्येन परिकल्पितानि क्षुद्रकफलानीति विवेक्तुं प्रकृत्यनुसारेण बहुधा प्रतिपत्तिमाह कालेनेति सप्तभिः । मदात्मकः मय्येवात्मा चित्तं येन स इत्येषा" । यद्वा मदात्मकः मत्स्वरूपभूतः निर्गुणत्वेन प्रतिपादयिष्यमाणत्वात् । तदेवं सति तस्यामेवानेकविधश्रेयोवदने हेतुमाह—

जो समस्त मार्ग दिखलाया है उन में प्रत्येक साधन मुख्य है ? अथवा एक मुख्य है अन्य समस्त गौण हैं ? प्रत्येक में से एक अङ्गी और समस्त उसके अङ्ग हैं इस प्रकार मानने पर विकल्पभाव से सब का तुल्य-फलत्व आजाता है अथवा किसी का विशेषत्व रहता है ? यहाँ तक टीका की व्याख्या हुई ।

इस विषय में उत्तर—श्रीभगवान् ने कहा—प्रलयकाल में समय पाकर बेदनाम्नी वाणी नष्ट प्राय हो गई थी, मैं ने पहले ब्रह्मा के प्रति उसे कहा है जिस में कि मत्स्वरूपात्मक धर्म विद्यमान है ॥७६॥

टीका की व्याख्या—उनमें महान् फल प्राप्ति होने के कारण भक्ति ही मुख्य है, अन्य समस्त अपनी अपनी प्रकृति के अनुसार खपुष्पस्थानीय-स्वर्गादि फल-बुद्धि रखने वाले प्राणियोंसे परिकल्पित हैं तथा तुच्छ फल विशिष्ट हैं । अपने अपने प्रकृति के अनुसार बहु प्रकार प्रतिपत्ति को "कालेन" इत्यादि सप्त श्लोक से कहते हैं—मदात्मक-अर्थात्

मन्मायामोहितधियः पुरुषाः पुरुषर्षभ ! ।
श्रेयो वदन्त्यनेकान्तं यथा कर्म्म यथा रुचिः ॥७७॥

तत्प्रकृतीनां मायागुणमूलत्वान्मन्मायामोहितधियः अनेकान्तं नानाविधं श्रेयः पुरुषार्थं तत्साधनञ्च यतः ॥७७॥

न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव ! ।
न स्वाध्यायस्तपस्त्यागो यथा भक्तिर्ममोर्जिता ॥७८॥

न साधयति न वशीकरोति तपो ज्ञानं त्यागः सन्न्यासः ॥७८॥

मुझ में ही आत्मा अर्थात् चित्त जिस से वह। यहाँ तक टीका की व्याख्या है। अथवा मदात्मक—मत्स्वरूपभूत है, निगु‌र्णत्व करके प्रतिपादित किये जाने के कारण। इस प्रकार स्थिति में अनेक प्रकार श्रेयः बोलने के कारण को कहते हैं—हे पुरुषश्रेष्ठ ! मेरी माया से मोहित बुद्धिवाले पुरुष अनेक प्रकार कल्याण बतलाते हैं वह तो जैसा कर्म है और जैसी रुचि है उसके अनुसार जानना ॥७७॥

उन की उस प्रकार प्रकृति माया-गुण को मूल करके प्रवर्त्तित होती है। मेरी माया से मोहित बुद्धि वाले उन का अनेकान्त अर्थात् नानाविध श्रेयः (पुरुषार्थ) तथा उस प्रकार साधन बतलाया जाता है ॥७७॥

हे उद्धव ! जिस प्रकार भक्ति मेरी प्रिय है तथा मुझ को वशीभूत कर लेती है उस प्रकार योग, सांख्य, स्वाध्याय, तपस्या एवं त्याग वशीभूत नहीं कर पाते हैं ॥७८॥

न साधयति—अर्थात् वशीभूत नहीं कर पाते हैं। यहाँ तपः शब्द का अर्थ ज्ञान-साधन है, त्याग शब्द का अर्थ संन्यास है ॥७८॥

तथा—धर्म्मः सत्यादयोपेतो विद्या वा तपसान्विता ।
मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हि ॥७६॥

धर्मो निष्कामः विद्या शास्त्रीयं ब्रह्मज्ञानं तपस्तदीक्षणम् । भक्तिलक्षणैस्तु—यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः । तथा तथा पश्यति बस्तु सूक्ष्मं चक्षुर्यथैवाञ्जनसंप्रयुक्तम् ॥८०॥

टीका च—"ननु ब्रह्मविदाप्नोति परं तमेव विदित्वातिमृत्युमेतीत्यादिश्रुतिभ्यो ज्ञानादेवाविद्यानिवृत्त्या तत्प्राप्तिरवगम्यते कुतो भक्तियोगेनेत्युच्यते तत्राह, यथा यथेति ।

और सत्य-दयादि युक्त धर्म तथा तपस्या-युक्त विद्या मेरी भक्ति से रहित आत्मा को सम्यक् रूप से पवित्र नहीं कर सकते हैं ॥७६॥

यहाँ धर्म्म-शब्द से निष्काम कर्म है, विद्या-शब्द से शास्त्रीय ब्रह्मज्ञान है, तपः शब्द से ब्रह्म प्रतिपादक शास्त्रानुशीलन जानना । भक्तिलक्षण-साधनों से चित्त जिस प्रकार विशुद्धि लाभ करता है उस प्रकार अन्य किसी साधन से नहीं है उसे एक श्लोक से कहते हैं—हे उद्धव ! मेरे जग पवित्रकारी नाम, रूप, गुण, लीला के श्रवण-कीर्त्तनादि के द्वारा ज्यों ज्यों चित्त विशुद्धि प्राप्त करता है त्यों त्यों सूक्ष्म बस्तु का दर्शन करता है । जिस प्रकार दिव्य अंजन से युक्त चक्षुः सूक्ष्मबस्तु दर्शन में समर्थ होता है उस प्रकार ॥८०॥

यहाँ टीका कहती है—अच्छा ! "ब्रह्मवेत्ता परतत्व का लाभ करता है", "उस परतत्त्व को जानने पर मृत्युग्रस्त संसार का पार हो जाता है" इत्यादि श्रुति-वचनों से जब ज्ञान से ही अविद्या विनिवृत्ति होती है, और परतत्त्व की प्राप्ति होती है तब भक्तियोग के द्वारा माया-निवृत्ति व परतत्त्व-प्राप्ति की बात बोलने का क्या कारण है ?

आत्मा चित्तं परिमृज्यते शोध्यते । मत्पुण्यगाथानां श्रवणै-रभिधानैश्च । भक्तेरेव अवान्तरव्यापारो ज्ञानं न पृथगित्यर्थ इत्येषा ॥११॥१४॥श्रीभगवान् ॥७५-८०॥

अग्रे च कर्म्मज्ञानभक्तियोगान् तत्तदधिकारितायां पृथक् हेतूंश्चोक्त्वा ज्ञानकर्मानादरेण भक्तिरेवाभिधेयत्वमाह पञ्चभिः । तत्र ज्ञानाभ्यासानादरं वक्तुं तदधिकारहेतु-वैराग्याभ्यासानादरं विधत्ते—

प्रोक्तेन भक्तियोगेन भजतो मासकृन्मुनेः ।
कामा हृदय्या नश्यन्ति सर्वे मयि हृदि स्थिते ॥८१॥

उसके उत्तर में श्रीकृष्ण उद्धवजी से कहते हैं—यथा इत्यादि श्लोक से । आत्मा अर्थात् चित्त मेरे चरित्र-समूहके श्रवण-कीर्त्तनादि के द्वारा ज्यों ज्यों परिमार्जित अर्थात् शोधित होता है त्यों त्यों दिव्य-अञ्जन युक्त नेत्र की भाँति सूक्ष्म तत्व-वस्तु दर्शन करता है । भक्ति का अवा-न्तरव्यापार ज्ञान है परन्तु वह पृथक् नहीं है । यहाँ तक टीका की व्याख्या हुई ॥८०॥

आगे ११।२० अध्याय में—कर्म, ज्ञान एवं भक्तियोग का उल्लेख कर एवं उन तीनों साधनों के अधिकारी होने का पृथक् पृथक् हेतु कह कर ज्ञान एवं कर्म के प्रति कोई आदर बुद्धि न रख कर पाँच ही श्लोक से भक्तियोग की अवश्य कर्त्तव्यता को कहते हैं—

उनमें ज्ञानाभ्यास अनादर-कथनार्थ उसके अधिकार हेतुभूत वैराग्याभ्यास का अनादर विधान बतलाते हैं—हे उद्धव ! मैंने तुम्हारे निकट जिस भक्तियोग का उल्लेख किया है उस भक्तियोग से निरन्तर मेरा भजन करने वाले मुनिजन की हृदय-स्थित समस्त बासना नष्ट हो जाती है ॥८१॥

मा माम् । ज्ञानाभ्यासानादरं विधत्ते—

भिद्यते हृदयग्रन्थिच्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।
क्षीयन्ते चास्य कर्माणि मयि दृष्टेऽखिलात्मनि ॥८२॥

भक्त्यैव दृष्टे साक्षात्कृते । तथैवाह—

तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः ।
न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह ॥८३॥

टीका च—"तदेवं व्यवस्थयाधिकारित्रयमुक्तम् । तत्र भक्तेरन्यनिरपेक्षत्वादन्यस्य च तत्सापेक्षत्वाद्भक्तियोग एव श्रेष्ठ इत्युपसंहरति तस्मादिति त्रिभिः । मदात्मनो मयि आत्मा चित्तं यस्य तस्य । श्रेयः श्रेयःसाधनमित्येषा" । अत्र

"मा" शब्द का अर्थ "माम्" अर्थात् मेरा । अब ज्ञानाभ्यास अनादर विधान को बतलाते हैं । हे उद्धव ! भक्तियोग-प्रभाव से अखिल-आत्मा मेरे दर्शन होने पर हृदय की समस्त ग्रन्थियाँ भेदित हो जाती हैं, समस्त संशय छेदित एवं समस्त कर्म नष्ट हो जाते हैं ॥८२॥

भक्ति के द्वारा ही साक्षात् करने पर उसका कथन करते हैं— उद्धव! अतएव मेरे भक्ति-परायण मदात्मक योगीके न ज्ञान न वैराग्य प्रायः श्रेयः (मंगलकर) होता है ॥८३॥

टीका—"इस प्रकार व्यवस्था से अधिकारित्रय कहा गया है । उन में से भक्ति की अन्य-निरपेक्षता के हेतु तथा अन्यों के उसकी सापेक्षता के हेतु भक्तियोग ही श्रेष्ठ है इस का उपसंहार करते हैं "तस्मादिति" तीनों श्लोकों से । "मदात्मनः" अर्थात् मुझ में आत्मा अर्थात् चित्त जिस का, "श्रेयः" अर्थात् श्रेय-साधन" ।

यहाँ प्रायः शब्द का प्रयोग है, उस का भावार्थ यह है—भजन-कारी के ज्ञान-वैराग्याभ्यास का प्रयोजन नहीं है । ज्ञान-वैराग्याभ्यास की

प्रायोग्रहणस्यायं भावः, भजतां ज्ञानवैराग्याभ्यासेन प्रयोजनं नास्त्येव। तत्र यथा स्थितेऽपि सद्योमुक्तिमार्गे केषाञ्चित् क्रममुक्तिमार्गे प्रवृत्तिर्जायते, तथा ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मेत्यादि-श्रीगीतानुसारेण यदि क्रमभक्तिमार्गे प्रवृत्तिः स्यात्तदा भवत्विति। तदेवं भक्तेः प्रेमलक्षणे सर्वफलराजे स्वफले नास्त्येव ज्ञानाद्यपेक्षा। पृथक् पृथक् ज्ञानादिफलेऽपि साध्ये नास्तीत्याह—यत् कर्म्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्। योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि। सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति ॥८४॥

स्थिति में सद्य-मुक्तिमार्ग में किन्हीं की क्रममुक्तिमार्ग में प्रवृत्ति होती है। "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इत्यादि गीतावचनानुसार यदि भक्तिमार्ग में प्रवृत्ति होती है तो होवे, परन्तु प्रेमलक्षणा वाले, सर्वफलों के राजा भक्तिफल में ज्ञानादि की अपेक्षा नहीं है। पृथक् पृथक् ज्ञानादि फल साध्य में अर्थात् ज्ञानादि साधन से पृथक् पृथक् जो फल प्राप्ति है उन सब साधनों के लिये पृथक् साधन के अनुष्ठान में कोई प्रयोजन नहीं है। भक्तिसाधन से वे समस्त मुख्यफल अनायास से लाभ होते हैं इस बात को कहते हैं—हे उद्धव ! राशि राशि कर्मानुष्ठान में जो फल-लाभ है, चित्त की एकाग्रता–ज्ञानसाधन-वैराग्यानुष्ठान में जो फल है, अष्टांगयोगसाधन में, दानधर्म में एवं अन्यान्य समस्त श्रेयः साधन में जो जो फललाभ हैं मेरा भक्त मेरे भक्तियोग-प्रभाव से उन समस्त साधनों का मुख्य-फल अनायास लाभ करता है। ऐसा कि–स्वर्ग-मोक्ष तथा मेरे धाम वैकुण्ठ की यदि किसी प्रकार इच्छा करता है तो अनायास उनका भी लाभ होता है ॥८४॥

इतरैस्तीर्थयात्राव्रतादिभिरपि यद्भाव्यं तत् सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभते । तत्राप्यञ्जसा अनायासेनैव । किन्तत् सर्वं तदाह—स्वर्गापवर्गमिति । स्वर्गः प्रापञ्चिकसुखं सत्वशुद्ध्यादिक्रमेणापवर्गो मोक्षसुखञ्च । तदतिक्रमिसुखञ्च भवतीत्याह-मद्धाम वैकुण्ठञ्चेति । कथञ्चिद्भक्त्युपकरणत्वेनैव यदि वाञ्छति कश्चित् । तत्र श्रीचित्रकेत्वादिवत् स्वर्गवाञ्छा । तस्य भक्त्युपकरणत्वञ्चोक्तम् । स लक्षं वर्षलक्षाणामव्याहतबलक्रियः । रेमे विद्याधरस्त्रीभिर्गाययन् हरिमीश्वरम् ॥ इति । श्रीशुकादिवदपवर्गवाञ्छा । तत्प्रार्थनया

अन्य तीर्थयात्रा-ब्रतादियों से जो भावनीय हैं उन सब को मेरा भक्त मेरे भक्तियोगसे लाभ करता है,तो भी अञ्जसा अर्थात् अनायास । वे सब क्या हैं ? तो कहते हैं—स्वर्ग अर्थात् प्रापञ्चिक सुख है, सत्त्वशुद्ध्यादि क्रम से अपवर्ग मोक्षसुख है, उनसे अतिक्रमी सुख मेरा धाम वैकुण्ठ है । "कथञ्चित्" का अर्थ भक्ति उपकरण रूप से यदि कोई इच्छा करता है । उन में चित्रकेत्वादि की भाँति स्वर्गवाञ्छा है । उस का भक्ति-उपकरणत्व कहा गया है—वह अप्रतिहतबल-क्रिया वाला चित्रकेतु लक्ष लक्ष बर्ष पर्य्यन्त विदद्याधर-रमणियों के साथ ईश्वर श्रीहरि का कीर्त्तन करता हुआ रमण करने लगा । तात्पर्य्य—इस मर जगत् में रहकर भोग साध नहीं मिटती है जो कि हरिकीर्त्तन में अवसाद संघठन उत्पन्न कर देता है । अतः उसने स्वर्ग की इच्छा की है । श्रीशुकदेवादि की भाँति अपवर्गवाञ्छा है । उन्होंने अपवर्गप्रार्थना की थी । श्रीकृष्ण ने उस को स्वीकार कर माया को दूरीकृत किया, अतः मातृगर्भ से वे बाहर आये ऐसी ब्रह्मवैवर्त्त में कथा है ।

वहाँ भक्त्युपकरणत्व "ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा" इस गीता-वचन से

श्रीकृष्णेन दूरीकृतायां मायायां मातृगर्भाद् वहिर्बभूवेति हि ब्रह्मवैवर्त्तं कथा। तत्र च भक्त्युपक्रमत्वं ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मेत्यादिगीतावचनात्। तथा प्राप्तभगवत्पार्षदपदतदीयवृन्दविशेषवद्वैकुण्ठेच्छा। ते हि प्रेम्णा साक्षात् श्रीभगवच्चरणारविन्दसेवेच्छयैव तत्प्राथ्यं प्राप्तवन्तः। यच्च व्रजन्त्यनिमिषामृषभानुवृत्त्या इत्यादिवत् ॥ ११॥ २०॥ श्रीभगवान् ॥८१—८४॥

अन्ते च—एषा बुद्धिमतां बुद्धिर्मनीषा च मनीषिणाम्। यत् सत्यमनृतेनेह मर्त्येनाप्नोति मामृतम् ॥८५॥

स्पष्ट है। और कोई कोई भक्त निष्काम होकर भगवान् के पार्षदगण की भाँति वैकुण्ठ-इच्छा करते हैं। वे सब प्रेम के द्वारा साक्षात् श्रीभगवच्चरणारविन्द की सेवा-इच्छा से उस प्रार्थना को प्राप्त होते हैं। यहाँ पार्षदवृन्द के बाद विशेष पद का उल्लेख है। उसका अभिप्राय यह है- सालोक्य-सामीप्य-सारूप्य एवं सार्ष्टि ये चार प्रकार मुक्ति भक्त की प्राप्य हैं। ज्ञानी व योगी उन्हें प्राप्त नहीं कर सकता। वे चार प्रकार मुक्ति सुखैश्वर्योत्तरा एवं प्रेम-सेवोत्तारा भेदसे द्विविध है। जिस मुक्ति में सुख एवं ऐश्वर्य उपभोगकी लालसा रहती है उसको सुखैश्वर्य्योत्तरा मुक्ति कहते हैं और जिस में प्रीति-पूर्वक भगवान् की सेवा करने का तात्पर्य्य रहता है वह प्रेमसेवोत्तरा मुक्ति है। निष्काम-भक्त उस प्रेमसेवोत्तारा मुक्तिप्राप्ति की लालसा से साक्षात् भगवच्चरणारविन्द की प्रार्थना करता है तथा वैकुण्ठ का लाभ करता है। "अनिमिष भगवान् ऋषभ की अनुबृत्ति की भाँति" जानना ॥८१--८४॥

अन्त में (११।२६।२२) भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव! मेरा भजन ही विवेकवती-बुद्धि एवं चातुर्य्य का परम फल है।

टीका च—"अतो मद्भजनमेव बुद्धेर्विवेकस्य मनीषाया-श्चातुर्य्यस्य च फलमित्याह एषेति। तामेव दर्शयति, सत्य-ममृतञ्च मा माम् अनृतेनासत्येन मर्त्येन विनाशिना मनुष्य-देहेन इह अस्मिन्नेव जन्मनि प्राप्नोतीति यत् सैव बुद्धि-र्मनीषा चेति। बुद्धिर्विवेकः, मनीषा चातुर्य्यमित्येषा"। हरिश्चन्द्रो रन्तिदेव उञ्छवृत्तिः शिविर्बलिः। व्याधः कपोतो बहवो ह्यध्रुवेण ध्रुवं गताः॥ पूर्वं भक्तिप्रकरणगतत्वाद् इति हेतूपन्यासः कृतः॥११॥२९॥सः॥८५॥

श्रीशुकोपदेशोपसंहारे च श्रवणमुपलक्ष्य—संसारसिन्धु-मतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।

जो कि विनाश-शील देह के द्वारा सत्य, आनन्दमय मेरा लाभ कर सकें॥८५॥

टीका—"अतएव मेरा भजन ही बुद्धि-विवेक का तथा मनीषा-चातुरी का परम फल है।" उस का कथन करते हैं एष इत्यादि पद से। सत्य तथा अमृत-स्वरूप मुझको असत्य विनाशी मनुष्य-देह से इसी जन्म में प्राप्त कर लेता है वही बुद्धि है वही मनीषा है। बुद्धि विवेक मनीषा-चातुरी है।" यहाँ यक टीका की व्याख्या हुई है।

हरिश्चन्द्र, रन्तिदेव, उञ्छवृत्ति, शिवि,बलि, व्याध, कपोत आदि बहु व्यक्ति ने अस्थायी-विनाशी देह के द्वारा नित्य सनातन मेरा लाभ किया है। पहले भक्ति-प्रकरण में उपन्यस्त होने के कारण टीका में "अतः" इस हेतु का उल्लेख किया गया है॥८५॥

श्रीशुकदेव के उपदेशोपसंहार में भी श्रवण का उपलक्ष्य कर कहा गया है—हे राजन्! विविध दुःखदावानल से जले हुए देहाभिमानी जीवकी अतिदुस्तर संसार सागर का उत्तीर्ण करनेकी इच्छामें भगवान्

लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद्विविधदुःखदवार्दितस्य ॥८६॥

टीका च—"अन्यः प्लव उत्तरणसाधनं न भवेत् उपायान्तरासम्भवादित्येषा"। अन्यासामपि भक्तिनां तत्पूर्वकत्वेनैव प्रवृत्तेरुपायान्तरासम्भवत्वं युक्तम्। एतदनन्तराध्यायश्च तादृशोपक्रमोपसंहारमय एव। अत्रानुगीयतेऽभीक्ष्णं भगवान् हरिरीश्वरः। यस्य प्रसादजो ब्रह्मा रुद्रः क्रोधसमुद्भवः ॥ इत्युपक्रम्य—एतत्ते कथितं तात ! यदात्मा पृष्टवा-

---

पुरुषोत्तम के लीला-कथा रस निसेवन के विना अन्य कोई तरण-साधन तरणी नहीं है ॥८६॥

टीका—"अन्य प्लव अर्थात् उत्तारण साधन नहीं है, उपायान्तर असम्भव होने के कारण।"

अन्य समस्त भक्ति-साधन हरिकथा-श्रवण पूर्वक प्रवर्तित होते हैं, अतः उपायान्तर का असम्भव जो कहा गया है वह यथार्थ है। इस के अनन्तर-अध्याय भी उस प्रकार उपक्रम-उपसंहारमय है। इस भागवत नामक महापुराण में भगवान् ईश्वर हरि निरन्तर गाये जाते हैं कि जिन के प्रसाद से ब्रह्मा एवं क्रोध से रुद्र उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार उपक्रम करके "हे तात ! हे राजन् ! तुम ने जो सर्वात्मा प्रियतम श्रीहरि के लीला-श्रवण का प्रश्न किया है वह तुम्हारे निकट वर्णित हुआ अब तुम क्या सुनना चाहते हो ?" इस उपसंहार वाक्य में भी उस प्रकार महिमा करके पूर्वोक्त लीला-कथा श्रवणका ही प्राधान्य बतलाया गया। अतएव उपक्रम एवं उपसंहार द्वारा निर्दिष्ट श्रवणोपलक्षित भक्ति का यहाँ प्राधान्य है। और जो "त्वन्तु राजन् मरिष्यसि" अर्थात् तुम मरोगे इस प्रकार अविवेक त्याग करो इत्यादि वचन से ज्ञानोपदेश किया गया है वह उन की जो भक्तिनिष्ठा प्रतीति

न्नृप ! । हरेर्विश्वात्मनश्चेष्टां किं भूयः श्रोतुमिच्छसि ॥इत्युपसंहारेऽपि, तादृशमहिमत्वेन पूर्वोक्तलीलाकथाश्रवणस्यैव प्राधान्यात्, तत उपक्रमोपसंहारनिर्दिष्टत्वात्, श्रवणोपलक्षितभक्तेरेवात्रापि प्राधान्यम् । यस्तु तन्मध्ये त्वन्तु राजन् मरिष्यसीत्यादिना ज्ञानोपदेशः स च तस्य या प्रागवगता भक्तिनिष्ठा तस्याः संप्रत्यपि स्थैर्य्यप्रकटनार्थं एव । एकान्तिभक्तेषु भगवता मोक्षवरच्छन्दनवत् । पूर्वमपि तन्निष्ठया स्वत एव मरणभयपरित्यागात् अनन्तरञ्च श्रुत्वापि तं ज्ञानोपदेशं स्वस्य भक्तिनिष्ठाया एव स्वयं दर्शयिष्यमाणत्वात् ।

हुई थी अब उस की स्थिरता-प्रकटन के लिये जानना चाहिये । जिस प्रकार एकान्ति भक्तों के प्रति भगवान् मोक्ष-वर प्रदान के लिये अनुरोध करते रहते हैं उस प्रकार यहाँ भक्तिनिष्ठ महाराज परीक्षित् की कहाँ तक भक्तिमें निष्ठा हुई है उसकी परीक्षाके लिये ज्ञानोपदेश किया गया है । क्यों कि पहले भक्ति में गाढ़-निष्ठा के हेतु आपने मरणभय का परित्याग बतलाया है । बाद में उस प्रकार ज्ञानोपदेश श्रवण करके भी अपनी भक्तिनिष्ठा को आप ही दिखला रहे हैं । उन में पहले महाराज की भक्ति के प्रति निष्ठा यथा—(१।१६।१५) "महाराज परीक्षित् श्रीकृष्ण की चरणसेवा ही सब से अधिक पुरुषार्थ मान कर गंगातट में उपवेशन कर रहे हैं" इस श्लोक में । और (१।१६।७) "सर्वसंग विनिर्मुक्त हो कर तथा मौनी हो कर महाराज परीक्षित् मुकुन्दचरणकमल का ध्यान करने लगे ।" इस श्लोक में महाराज की भक्तिनिष्ठा बतलाई गई है । "द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथाम्" अर्थात्—"ब्राह्मण-द्वारा प्रेरित कोई कुहुक अथवा यथार्थ तक्षक को दंशन करने दो,आप सब विष्णु-गाथा का गान कीजिये ।"यहाँ

तत्र प्राचीना तन्निष्ठा यथा प्रथमे—कृष्णाङ्घ्रिसेवामधिमन्य-मान इति। दध्यौ मुकुन्दाङ्घ्रिमनन्यभाव इत्यादि तन्निष्ठैव। तद्ध्र्यपरित्यागो यथा तद्वाक्ये—द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथा इति। तज्ज्ञानोपदेश-श्रवणानन्तरमपि तादृशस्वनिष्ठायाः स्थैर्यदर्शनं यथा—तत्र तावत् पद्यत्रयेण ज्ञानोपदेशमबहु मत्वा श्रवणलक्षणया भक्त्यैव स्वकृतार्थत्वमुक्तम्—सिद्धोऽस्म्यनुगृहीतोऽस्मि भवता करुणात्मना। श्रावितो यच्च मे साक्षादनादिनिधनो हरिः। नात्यद्भुतमहं मन्ये महतामच्युतात्मनाम्। अज्ञेषु तापतप्तेषु भूतेषु यदनुग्रहः। पुराणसंहितामेतामश्रौष्म भवतो वयम्। यस्यां

स्पष्ट ही मृत्युभय की निर्वृत्ति बतलाई गई है। 'त्वन्तु राजन् मरिष्यति' अर्थात्—"हे राजन् तुम मरोगे इस प्रकार अविवेक प्राप्त मत हो" इस वाक्य से आरम्भ कर जो ज्ञानोपदेश किया गया है उस को सुनने के बाद में भी महाराज की अव्यभिचारिणी भक्ति-निष्ठा की स्थिरता दिखलाई गई है। वहाँ पदयत्रय से ज्ञानोपदेश-तुच्छ करके श्रवण-लक्षणा-भक्तिके द्वारा ही महाराज का कृतार्थ होना उल्लेख किया गया है। यथा—"हे प्रभो! साक्षात् करुणा-मूर्त्ति आप से मैं कृतार्थ एवं अनुगृहीत हुआ हूँ। क्यों कि—आप ने कृपा करके अनादिनिधन श्रीहरि-कथा का श्रवण कराया है। अच्युतगत प्राण वाले महापुरुषों के त्रि-तापदग्ध, अज्ञ, देहाभिमानी जीवों के प्रति इस प्रकार अनुग्रह कोई अद्भुत नहीं है। हे प्रभो! आप के मुखचन्द्र-विनर्गत इस पुराणसंहिता रूप अमृत धारा का हम पान कर रहे हैं जिसमें कि उत्तमश्लोक भगवान् अनु-क्रम से वर्णित हो रहे हैं। अर्थात् अन्वय-व्यतिरेक से तथा गौण-मुख्य-वृत्ति से श्रीकृष्ण वर्णित हो रहे हैं"। पुनः एक श्लोक से श्रीगुरु

खलूत्तमःश्लोको भगवाननुवर्ण्यत इति । पुनश्चैकेन पद्येन तद्वाक्यगौरवमात्रेणाङ्गीकृतस्य ब्रह्मज्ञानस्य तक्षकादिभय-निवृत्तिहेतुत्वमुक्त्वाप्यन्येन तदूर्द्धमधोक्षज एव वाक्चेतसो-स्तन्नामकीर्त्तनध्यानावेशानुज्ञा प्रार्थिता—भगवंस्तक्षकादिभ्यो मृत्युभ्यो न बिभेम्यहम् । प्रविष्टो ब्रह्मनिर्वाणमभयं दर्शितं त्वया ॥ अनुजानीहि मां ब्रह्मन् वाचं यच्छाम्यधोक्षजे । मुक्तकामाशयं चेतः प्रवेश्य विसृजाम्यसूनिति । अथ पुन-रन्ये न पद्येनाज्ञाननिरासकज्ञानविज्ञानसिद्धिश्च भगवत्पदार-विन्ददर्शनसुखान्तर्भूतैव मम स्फुरतीति विज्ञापितम् । यथा—अज्ञानञ्च निरस्तं मे ज्ञानविज्ञाननिष्ठया । भवता दर्शितं क्षेमं

वाक्य की गौरव-रक्षा के लिये ब्रह्मज्ञान को तक्षक-दंशन से भय-निवृत्ति हेतुरूप अंगीकार करके भी अन्य दो श्लोकों द्वारा (१२।६।५-६) ब्रह्म-ज्ञान से भी उपरिस्थित श्रीकृष्ण में वाणी एवं चित्त के द्वारा नाम-कीर्त्तन तथा ध्यान में आवेश-प्राप्ति की अनुज्ञा प्रार्थना की गई है यथा-"हे भगवन् ! मैं तक्षकादि मृत्युभय से भीत नहीं हूँ, क्योंकि आप से प्रदर्शित अभय ब्रह्मनिर्व्वाण में प्रविष्ट हो रहा हूँ।" यहाँ गुरु-वाक्या-नुरोध से ब्रह्मज्ञान का अङ्गीकार सूचित हो रहा है। "हे वेदज्ञ-शिरोमणे ! आप ऐसी कृपा कीजिये कि मैं अधोक्षज श्रीकृष्ण में वागिन्दिय समर्पण करलूँ तथा मुख से कीर्त्तन भी करूँ एवं समस्त भोग-वासना-रहित चित्त को उन के चरणों में आवेशित रख कर प्राणत्याग करूँ।" इस श्लोक में ब्रह्मज्ञान से अधिक आस्वादन-युक्त अधोक्षज श्रीकृष्ण में वाणी एवं चित्त की गाढ़-आविष्टता की प्रार्थना की गई है। पुनः अन्य पद से अज्ञान-निरासक ज्ञान-विज्ञान की सिद्धि

परं भगवतः पदमिति। अत्र पदशब्दस्य चरणारविन्द-विधायकत्वे ज्ञानेन वैयासकिशब्दितेन भेजे खगेन्द्रध्वजपाद-मूलमित्येवास्ति प्रथमे साधकम् । तदेतत्प्रकरणार्थस्तत्र श्रीसूतेनैव स्पष्टीकृतः । ब्रह्मकोपोत्थितादृयस्तु तक्षकात् प्राण-विप्लवात् । न संमुमोहोरुभयात् भगवत्यर्पिताशयः । नोत्तमःश्लोकवार्त्तानां जुषतां तत्कथामृतम् । स्यात् संभ्रमो-ऽन्तकालेऽपि स्मरतां तत्पदाम्बुजमिति । तथा पूर्वं द्वादश-स्यैव तृतीये प्रथमस्कन्धान्तःस्थस्य, अतः पृच्छामि संसिद्धि योगिनां परमं गुरुम् । पुरुषस्येह यत्कार्य्यं म्रियमाणस्य सर्वथेत्यस्य राजप्रश्नस्योत्तरत्वेन भगवद्धयानकीर्त्तने एव

भगवान् के पदारविन्ददर्शनसुख के अन्तर्भूता होकर मेरे लिये स्फूर्ति हो रही है यह ज्ञात कराते हैं। यथा—"हे प्रभो ! ज्ञान-विज्ञान की निष्ठा से मेरा अज्ञान निरस्त हो गया है। आपने भगवान् के अभय चरणारविन्द दर्शन रूप कल्याण का दर्शन कराया है" इत्यादि।

यहाँ "पद" शब्द का अर्थ चरणारविन्द सुसंगत है। क्यों कि—प्रथम-स्कन्ध में शौनकादि ऋषियों की उक्ति में स्पष्ट है कि—वैयासकि शुकदेव से कथित ज्ञानसाधन के द्वारा परीक्षित् महाराज ने गरुड़-ध्वज श्रीकृष्ण के पादमूल का लाभ किया है। अतः इस प्रकरण का अर्थ प्रथमस्कन्ध के अष्टादश अध्याय से लेकर श्री सूतजी ने सुस्पष्ट किया है। यथा—हे शौनक ! परीक्षित् महाराज ब्रह्मशाप से उत्थित तक्षक से प्रचुरतम भय के हेतु प्राणनाश के विषय में किसी प्रकार से मोह-प्राप्त नहीं हो रहे हैं। क्यों कि उन्होंने श्रीकृष्ण में प्राण-मन समस्त अर्पण किया है। हे शौनक ! यह कोई आश्चर्य की बात नहीं

स्वयं श्रीशुकदेवेनाप्युपदिष्टे । तस्मात् सर्वात्मना राजन् हृदिस्थं कुरु केशवम् । म्रियमाणो ह्यवहितस्ततो याति परां गतिम् । म्रियमाणैरभिध्येयो भगवान् परमेश्वरः ॥ आत्मभावं नयत्यङ्ग सर्वात्मा सर्वसम्भवः । कलेर्दोषनिधे राजन्नस्ति ह्येको महान् गुणः । कीर्त्तनादेव कृष्णस्य मुक्तबन्धः परं व्रजेत् ॥ इत्यादिना ॥ ततस्तत्र केशवे अवहितः कृतावधानः ।

है । जो आसक्ति पूर्वक हरिकथा-पान करते हैं उन की महिमा अति-विशाल होती है तथा वे महाभागवतगण मृत्युकाल में भी किसी प्रकार सम्भ्रम प्राप्त नहीं होते हैं । क्यों कि वे निरन्तर श्रीकृष्ण-चरणकमल का स्मरण करते हैं तथा उन का देहानुसन्धान नहीं रहता है । पहले प्रथमस्कन्ध के अन्त में परीक्षित् महाराज ने श्रीशुकदेव के निकट जो प्रश्न किया था अब उस प्रश्न के प्रत्युत्तर-रूप में द्वादशस्कन्ध के तृतीय-अध्याय में श्रीशुकमुनि भगवान् के ध्यान तथा कीर्त्तन को अवश्य कर्त्तव्य रूप से उपदेश कर रहे हैं । प्रश्न यथा—योगियों के परमगुरु आपको जिस से सम्यक्‌रूप में सिद्धिलाभ है उस की जिज्ञासा करता हूँ । मुमूर्षु-मनुष्यों के इस संसार में जो करणीय है उस को हमें कहिये । उत्तर यथा–हे राजन् ! विद्या, तपस्या, प्राणनिरोध, सर्वजीव में बन्धुभाव, तीर्थयात्रा, ब्रत, दान, जपादि राशि राशि साधनों से अन्तरात्मा (जीवात्मा) उस प्रकार शुद्धिलाभ नहीं करता जिस प्रकार कि श्रीहरि का हृदय में चिन्तन करने से ।

अतः सर्वप्रकार से तुम केशव को हृदय में धारण करो, इस मृत्यु समय यदि हरि को हृदय में रख सकते हो तो परमगति लाभ करोगे । म्रियमाण जन का अर्थात् मरने वाले को श्रीहरि का ध्यान परम कर्त्तव्य है क्यों कि सर्वात्मा सर्व-सम्भव श्रीभगवान् अपने स्मरणकारी

आत्मभावमात्मनो भक्तिम् । अस्तु तावदायाससाध्यं ध्यानं, हि यस्मात् अनायाससाध्यात् कीर्त्तनादेवेत्यर्थः । द्वितीय-स्कन्धेऽपि—न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्थाः इत्यादिना एवमेतन्नि-गदितमित्यन्तेन ग्रन्थेन नानाङ्गवान् शुद्धभक्तियोग एव तत्रो-त्तरत्वेन पर्य्यवसितः । तत्रापि पिवन्ति ये भगवत इत्यादिना लीलाकथाश्रवण एव परमपर्य्यवसानं दृश्यते । तस्मात्

भक्त को अवश्य ही अपने स्वरूप को प्राप्त कराते हैं। हे राजन्! यदद्यपि यह कलियुग अशेष दोषों का आकर है तो भी उस का एक महान् गुण है कि—एकमात्र श्रीकृष्ण-कीर्त्तन से सर्वासक्ति बन्धन से मुक्त होकर मनुष्य परम पद लाभ कर सकता है, इत्यादि वचनों से भगवान् के ध्यान एवं कीर्त्तन का उपदेश है। उन में "केशव में अवहित" इस शब्द से किया हुआ अनुसन्धान जानना, और "आत्म-भाव" पद से आत्मभक्ति अर्थ ही सुसंगत है। ध्यान एवं कीर्त्तन दोनों से श्रमसाध्य ध्यान की अपेक्षा अनायाससाध्य कीर्त्तन से सर्वबन्धनमुक्ति पूर्वक परम पद लाभ होता है। क्यों कि कीर्त्तन की ऐसी महिमा है। इस प्रकार(२।२।३३)"हे महाराज! इस से श्रेष्ठतम अन्य कोई मङ्गल-मय पथ नहीं है" इत्यादि श्लोक से प्रारम्भ करके (२।३।१) "हे महाराज! आप ने जो प्रश्न किया है उस का वर्णन किया गया है" इस श्लोक तक विविधाङ्गवाले शुद्धभक्तियोग की कथा वर्णन कर शुकदेवजीने परीक्षित्‌महाराजके द्वारा मुमूर्षुव्यक्तिके कर्त्तव्यताविषयक प्रश्नका उत्तर प्रदान किया है। उन में(२।२।३७)"जो साधुमुख से भग-वान की लीला-कथा का श्रवण करते हैं" इस श्लोक में लीलाकथा-श्रवण का परम पर्यवसान दिखलाया गया है। अतएव "हे महाराज! तुम मरोगे इस प्रकार अविवेक बुद्धि परित्याग करो" इत्यादि शुकोक्त

साधूक्तं त्वन्तु राजन् मरिष्यतीत्यादिकं तद्भक्तिनिष्ठाप्रकटनार्थमेवेति । यतो भक्तावेव तदुपदेशस्य तात्पर्य्यम् । अतएव द्वितीयस्याष्टमे राजप्रार्थना च नान्यथा स्यात् । कृष्णे निवेश्य निःसङ्गं मनस्त्यक्षेच कलेवरमिति । तदेवं पिबन्तीत्याद्युपक्रमवाक्यसंवादेनापि साध्वेव स्थापितं—संसारसिन्धुमतिदुस्तरमित्यादि ॥१२।४॥ श्रीशुकः ॥८५॥८६॥

सूतोपदेशान्तेऽपि पञ्चभिः—नैष्कर्म्मंचमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम् । कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म्म यदप्यकारणम् ॥८७॥

श्लोक परीक्षित् महाराज की परीक्षा के लिये प्रयुक्त हुआ है ऐसा ठीक ही कहा गया है । क्यों कि भक्ति में ही शुकदेवजी के उपदेश का तात्पर्य्य था । (२।८।७)श्लोकमें महाराज परीक्षित् का जो प्रश्न था— हे गुरुदेव ! आप कृपा कीजिये, जिस प्रकार अन्य-वासना त्याग करके निःसंग मन को श्रीकृष्णचरणमें निविष्ट कर शरीर त्यागकर सकूँगा" वह प्रश्न भक्ति विषयक था । उस का उत्तर तदनुरूप न होने से वह प्रश्न व्यर्थ हो जाता । अतएव "जो साधुमुख से लीला-कथा का श्रवण करते हैं" इस उपसंहार वाक्य के द्वारा अति सुन्दर-रूप से विवेचित हुआ है कि—लीला-कथा श्रवण के विना संसार-समुद उत्तरण में कोई अन्य उपाय नहीं है ॥८५।८६॥

सूतजी के उपदेश के अन्त में भी पाँच श्लोकों से भगवद्भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का उपदेश है । "हे शौनक ! निष्कर्म्मता-रूप ब्रह्म-प्रकाशक जो ज्ञान है वह निरूपाधि अवस्था प्राप्त होने पर भी यदि अच्युत-भाव वर्जित है तो वह ज्ञान अत्यन्त रूप से शोभायमान नहीं होता है अर्थात् अपरोक्ष-ज्ञान का साधक नहीं हो सकता । अतः साधन

टीका च—"इदानीं ज्ञानकर्म्मादरादपि भगवत्कीर्त्तनादिष्वेवादरः कर्त्तव्य इत्याह—नैष्कर्म्म्यं तत्प्रकाशकं यज्ज्ञानं यतो निरञ्जनमुपाधिनिवर्त्तकं तदप्यच्युतभक्तिवर्जितं चेत् न शोभते नापरोक्षपर्य्यन्तं भवतीत्यर्थः" इत्यादिका। तथा—यशःश्रियामेव परिश्रमः परो वर्णाश्रमाचारतपः श्रुतादिषु। अविस्मृतिः श्रीधरपादपद्मयोर्गुणानुवादश्रवणादिभिर्हरेः ॥८८॥

टीका च—"किञ्च वर्णाश्रमाचारादिषु यः परो महान् परिश्रमः स यशोयुक्तायां श्रियामेव कीर्त्तौ सम्पदि वा केवलं न परमपुरुषार्थः। गुणानुवादादिभिस्तु श्रीधरपादपद्मयो-

---

साध्य उभय अवस्था में दुःखदायी, अमङ्गल-स्वरूप वह कर्म यदि निष्काम रूप से अनुष्ठित होकर भगवान् में अर्पित नहीं होता है तो वह चित्तःशोधन नहीं कर सकता इस विषय में कहना ही क्या है॥८७॥

टीका—"अब ज्ञान एवं कर्म में जो आदर है उस में अनादर पूर्वक भगवान् के कीर्त्तनादि में आदर करना चाहिये इसी बात को कहते हैं— नैष्कर्म्य-प्रकाशक, उपाधिनिवर्त्तक जो ज्ञान है वह यदि अच्युत-भाववर्जित होता है तब वह शोभित नहीं है अर्थात् अपरोक्ष ज्ञान-साधक नहीं होता है इत्यादि"। उस के बाद अन्य एक श्लोक से हरिकीर्त्तन की अवश्य-कर्त्तव्यता दिखलाते हैं।—

हे शौनक। वर्ण, आश्रमाचार, तपस्या एवं अध्ययनादि कर्म में जो महान् परिश्रम है उस से केवल यशः एवं सम्पत्ति आदि का लाभ होता है, आत्यन्तिक-दुःखत्रयनिवृत्ति एवं परमानन्द-प्राप्ति नहीं। परन्तु हरिगुणानुवाद-श्रवण-कीर्त्तनादि से श्रीधर-पादपद्मयुगल में

विस्मृतिर्भवतीत्येषा"। तथा, अविस्मृतिः कृष्णपदारविन्दयोः क्षिणोत्यभद्राणि च शं तनोति। सत्वस्य शुद्धि परमाञ्च भक्ति ज्ञानञ्च विज्ञानविरागयुक्तम् ॥८९॥

स्पष्टम्। तथा—यूयं द्विजाग्र्या वत भूरिभागा यत् शश्वदात्मन्यखिलात्मभूतम्। नारायणं देवमदेवमीशमजस्र-भावा भजताविवेश्य ॥९०॥

टीका च—"तदेवं श्रोतृनात्मानञ्चाभिनन्दन्नाह। तथा हे द्विजाग्र्या यद् यस्मादात्मन्यन्तःकरणे श्रीनारायणमाविवेश्य

अविस्मृतिरूप पुरुषार्थ लाभ होता है, यह श्लोकार्थ है।

टीका—"और भी कहते हैं—वर्णाश्रमाचारादिकों में जो महान् परिश्रम है वह केवल निज सुयश अथवा कीर्त्तिसम्पत्ति प्राप्ति के लिये जानना परन्तु परमपुरुषार्थ नहीं है। अतः गुणानुवादादिकों से श्रीधर पाद-पद्म में अविस्मृति होती है।"

अब अन्य एक श्लोक से श्रीकृष्णचरण-कमल की महिमा का कीर्त्तन करते हैं। हे शौनक! निरन्तर श्रीकृष्णचरणारविन्द की स्मृति निखिल अमङ्गल-क्षय कर कल्याण प्रदान करती है, सत्त्व की शुद्धि करती है और परमा भक्ति तथा विज्ञानविराग-युक्त-ज्ञान का विस्तार करती है ॥८९॥

इस का अर्थ स्पष्ट है। और भी कहते हैं—हे द्विजश्रेष्ठगण! आप सब निश्चय प्रचुर भाग्यवान हैं क्यों कि निरन्तर अखिलात्मभूत देव-देव ईश्वर नारायण को हृदय में आवेशित कर भजन करते हैं॥

टीका—अतः श्रोतृगण एवं आत्मा का अभिनन्दन करते हुए कहते है-"हे द्विजश्रेष्ठगण! जिस से अन्तःकरण में नारायण को आविष्ट कर निरन्तर भजन करते हैं। यहाँ सम्भावना में लोट् है अतएव आप सब

शश्वत् भजत, सम्भावनायां लोट्, अतो भूरिभागा बहुपुण्याः, कथम्भूतमखिलात्मभूतं सर्वान्तर्य्यामिणम् । अतएव देवं सर्वोपास्यम्, अदेवं न देवोऽन्यो यस्य तम् । कुत ईशम् । यद्वा यस्माद् यूयं भूरिभागास्तप आदिना सम्पन्नास्ततो नारायणं भजतेति विधिरित्येषा" । अत्र तप आदिसम्पत्तेः सार्थकत्वं नारायणभजनेन भवतीति स्वाम्यभिप्रायः । तथा—

अहञ्च संस्मारित आत्मतत्त्वं श्रुतं पुरा मे परमर्षिवक्त्रात् । प्रायोपवेशे नृपतेः परीक्षितः सदस्यृषीणां महताञ्च शृण्वताम् ॥६१॥

एतत्प्रसङ्गेनाहञ्चात्मतत्त्वम् अखिलात्मभूतं श्रीनारायणं स्मारितः तं प्रति परमोत्कण्ठितीकृतोऽस्मीत्यर्थः । यदात्मतत्त्वं मे मया महर्षिमुखात् श्रुतम् ॥ १२ ॥ १२ ॥ श्रीसूतः ॥८७—६१॥

भूरिभागा हैं अर्थात् वहु पुण्यवान हैं। श्रीनारायण कैसे हैं ? अखिल आत्मभूत हैं अर्थात् सर्वान्तर्य्यामी हैं, पुनः देव हैं अर्थात् सब के उपास्य हैं, अदेव हैं अर्थात् नहीं है अन्य देव जिन से, क्यों कि वे ईश्वर हैं। जिस हेतु आप सब भूरिभागा हैं अर्थात् तपस्यादि से सम्पन्न होकर नारायण का भजन करते हैं।" यहाँ तपस्यादि सम्पत्ति का सार्थकत्व नारायण-भजन से है यह श्रीधरस्वामी का अभिप्राय है। इस प्रकार अन्य एक श्लोक से श्रीसूतजी शौनकादि ऋषियों के निकट कहते हैं- हे द्विजगण ! पहले महाराज परीक्षित् के प्रायोपवेशन में ऋषिमुकुटमणि श्रीशुकदेवजी-मुख से जो आत्मतत्त्व अन्यान्य महात्मा—ऋषियों ने श्रवण किया है उस प्रसंग में मैंने भी सुना था। अब तुम्हारे साथ

तदेवमस्मिन् श्रीमति महापुराणे गुरुशिष्यभावेन प्रवृत्तानामुपदेशशिक्षावाक्येषु भक्तेरेवाभिधेयत्वं साधितम् । तथा- तत् कथ्यतां महाभाग यदि विष्णुकथाश्रयम् । अथवास्य पदाम्भोजमकरन्दलिहां सताम् ॥ इत्यनुसारेण सर्वेषामितिहासानामपि तन्मात्रतात्पर्य्यत्वं ज्ञेयम् । विस्तरभिया तु न विव्रियते । अन्यत्र च तदेव दृश्यते । तत्रान्वयेन यथा—

एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृतः । भक्तियोगो भगवति तन्नामग्रहणादिभिः ॥९२॥

पुंसां जीवमात्राणां परः धर्मः सार्वभौमो धर्म एतावान् स्मृतः नैतदधिकः । एतावत्त्वमेवाह, तन्नामग्रहणादिभिर्यो

कथा-प्रसंग से अखिल आत्मा-स्वरूप नारायाण के प्रति उत्कण्ठित हो रहा हूँ ॥ श्लोकार्थ यह हैं (८९—९१)॥

इस प्रकार इस परम सुन्दर महापुराण श्रीभागवत में गुरुशिष्य-भाव से जो जो कथा प्रसग में प्रबृत्त हुए हैं अर्थात् गुरु बन कर जो उपदेश दिये एवं शिष्य वन कर जो शिक्षा लिये उन सब से भक्ति का अभिधेयत्व साधित हो रहा है । शौनकादि ऋषियों के वाक्यों से "हे महाभाग ! विष्णुकथाश्रयी कथा कहो, अथवा उन के चरण-कमल-मकरन्द आस्वादी साधुओं का चरित्र वर्णन करो ।" इस के अनुसार समस्त इतिहासों का भी भक्तिमात्रतात्पर्य्यत्व ज्ञात हो रहा है,विस्तारभय से यहाँ अधिक नहीं कहा जा रहा है । अन्यत्र भी ऐसा ही देखा जा रहा है । अब अन्वय-मुख से यथा—इस लोक में मनुष्यों का यह ही पर धर्म कहा गया है जो कि नामग्रहणादिकों से भगवान् में भक्ति-योग है ॥९२॥

पुरुषों का अर्थात् जीव-मात्र का यह सार्वभौम धर्म है इस से

भक्तियोगः साक्षाद्भक्तिरिति । एवकारेणान्यव्यावृत्तत्वं स्पष्टयति, भगवतीति । नामग्रहणादोन्यपि यदि कर्म्मादौ ततसाद्गुण्याद्यर्थं प्रयुज्यन्ते तदा तस्य परत्वं नास्ति तुच्छ-फलार्थं प्रयुक्तत्वेन तदपराधादित्यर्थः । तथैव क्षयिष्णु-फलदातृत्वञ्च भवतीतिभावः ॥ ६ ॥ ३ ॥ श्रीयमः स्वभटान् ॥६२॥

तथा—सध्रीचीनो ह्ययं लोके पन्थाः क्षेमोऽकुतोभयः ।
सुशीलाः साधवो यत्र नारायणपरायणाः ॥६३॥

अधिक कोई धर्म नहीं है । अब "एतावत्त्व" को स्पष्ट करते हैं-तन्नाम-ग्रहणादियों से जो भक्तियोग है अर्थात् साक्षाद्भक्ति है । एव-कार से अन्यव्यावृत्ति का स्पष्ट है । "भगवति" इत्यादि प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि—भगवान् के नाम-कीर्त्तनादि यदि साद्गुण्य सम्पादन के लिये कर्मादि में प्रवृत्त होते हैं तब उन नाम-कीर्त्तनादि के द्वारा भगवान् में जो भक्ति की जाती है उस भक्तियोग का श्रेष्ठत्व नहीं माना जावेगा । क्यों कि—अन्यनिरपेक्ष भक्तियोग कर्म—ज्ञानादि साधनों के तुच्छ फल के लिये प्रयुक्त होने पर भक्तियोग के निकट अपराध होता है अर्थात् उस प्रकार अनुष्ठित भक्तियोग में नामापराध उपस्थित हो जाता है । क्यों कि अन्य साधन के साथ मिश्रित किये जानेपर भक्तियोग तुच्छ फल प्रदान करता है तथा मुख्य-फल प्रेमलाभ से वञ्चित कर देता है ॥६।३॥

यमराजने अपने दूतों के प्रति कहा है ॥६२॥

श्रीशुकदेवने परीक्षित् महाराज से कहा है—इस लोक में यह नारायण-भक्तिमार्ग अति समीचीन मार्ग है, क्यों कि यह मार्ग अति मङ्गलमय है । इस मार्ग में कोई भय नहीं है । जिस मार्ग में बिच-रण-कारी साधुगण सुशील एवं नारायण-परायण होते हैं ॥६३॥

अयं पन्थाः श्रीनारायणभक्तिमार्गः ॥ ६ ॥ १ ॥ श्रीशुकः ॥६३॥

तत्रैवान्वयेन सर्वशास्त्रफलत्वं सकैमुत्यमाह—श्रुतस्य पुंसां सुचिराश्रमस्य नन्वञ्जसा सूरिभिरीड़ितोऽर्थः। तत्तद्गुणानुश्रवणं मुकुन्दपादारबिन्दं हृदयेषु येषाम् ॥६४॥

पुंसां श्रुतस्य वेदार्थावगतेरयमेवार्थ ईड़ितः श्लाघितः। कोऽसौ मुकुन्दस्य पादारबिन्दं येषां हृदयेषु वर्त्तते तेषां तत्तद्गुणानां भगवद्भक्त्यात्मकानामनुश्रवणं यत् सोऽयमिति। ततः सुतरामेव श्रीमुकुन्दस्येत्यर्थः। एवमेवोक्तं वासुदेवपरा वेदा इत्यादि, भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन इत्यादि। तथाच

यह पन्था अर्थात् नारायण भक्तिमार्ग ॥६३॥

उस प्रसंग में अन्वयमुख से भक्ति का समस्तशास्त्र-फलत्व कैमुत्य न्याय से कहते हैं—जिन के हृदय में निरन्तर भगवच्चरणारविन्द विद्यमान है उन महापुरुषों के मुख-चन्द्रविनिर्गत सुधामयी हरिगुण-गाथा का श्रवण करना अर्थात् श्रीहरि में जातरतिवाले भक्तजनों के मुख से हरिकथा-श्रवण निखिल वेद एवं वेदानुगत शास्त्र-समूह के अध्ययन का मुख्यफल है। यह श्लोकार्थ है। पुरुषों के वेदार्थबोध का यह मुख्यफल है जो साधुजनों से प्रशंसित है। जो कि--हृदय में विराजित मुकुन्दचरणार-विन्द वाले महापुरुषों के भक्तिमिश्रित गुण-समूह का अनवरत श्रवण है। सुतरां मुकुन्द की गुणावली के श्रवण के बारे में कहना ही क्या है? इस अभिप्राय से कहते हैं---"वेद समस्त वासुदेवपरक हैं" इत्यादि। "भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन" इत्यादि। इन की व्याख्या पहले की गई है। पद्मपुराण के बृहत्सहस्रनामक स्तोत्र में कहा गया है---"निरन्तर विष्णु का स्मरण करना चाहिये।

पाद्मबृहत्सहस्रनाम्नि—स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः ॥ इति । तथाच स्कान्दे प्रभासखण्डे लिङ्गपुराणे च—आलोड़्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः । इदमेव सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदेति । अतएव वेदार्पणमन्त्रः—इति विद्यातपोयोनिरयोनिर्विष्णुरीड़ितः । ब्रह्मज्ञस्तपते देवः प्रीयतां मे जनार्द्दनः ॥३॥१६॥ श्रीविदुरः ॥६४॥

यतो यश्च शास्त्रे वर्णाश्रमाचारो विधीयते तस्याप्यनुपम-चरितं फलं भक्तिरेव । यथा—दानव्रततपोहोमजपस्वाध्यायसंयमैः । श्रेयोभिर्विविधैश्चान्यैः कृष्णे भक्तिर्हि साध्यते ॥६५॥

कभी भी विस्मरण न करें। समस्त विधि-निषेध इन दोनों के अनुगत किङ्कर मान लेना" ॥ स्कन्दपुराण के प्रभासखण्ड में तथा लिङ्ग-पुराण में भी कहा है---"समस्त शास्त्रों का आलोड़न एवं पुनः पुनः विचार करके यह निष्पन्न हुआ कि---निरन्तर नारायण का ध्यान किया जावे"। अतएव वेदार्पण मन्त्र कहता है--इस प्रकार विद्या एवं तपस्या का उद्गमस्थान विष्णु हैं वह अयोनि-स्वरूप हैं, वे सर्वाराध्य जनार्द्दन विष्णु हमारे प्रति प्रसन्न होवें॥ (३।१६) श्रीविदुरजी ने मैत्रेयऋषि से कहा है ॥६४॥

इस लिये शास्त्र में जो बर्णाश्रमाचार विधान है उस का भी अनुपम चरित-वाला-फल भक्ति ही है। यथा—उद्धवजीने ब्रजदेवियों के प्रति उपदेश किया है—दान, ब्रत, तपस्या, होम, जप, स्वाध्याय, संयम तथा अन्य नानाप्रकार कल्याणों से श्रीकृष्ण में भक्ति ही

दानादिभिः श्रीकृष्णार्पितैरिति ज्ञेयम् । तज्जन्म तानि कर्म्माणि तदायुस्तन्मन इत्यादि । बृहन्नारदीये—जन्मकोटिसहस्रेषु पुण्यं यैः समुपार्जितम् । तेषां भक्तिर्भवेच्छुद्धा देवदेवे जनार्द्दन इति । अगस्त्यसंहितायाम्—व्रतोपवासनियमैर्जन्मकोट्याप्यनुष्ठितैः । यज्ञैश्च विविधैः सम्यग्भक्तिर्भवति माधवे ॥ इति । एतदेव व्यतिरेकेणोक्तम्—धर्म्मः स्वनुष्ठितः पुंसामित्यादौ यशःश्रियामेवेत्यादौ च ॥१०॥५७॥ उद्धवः श्रीव्रजदेवीः ॥६५॥

यच्च तत्र ज्ञानमभिधीयते तदपि भक्त्यन्तर्भूततयैव-

साधित होती है अर्थात् समस्त माङ्गलिक साधनानुष्ठान का मुख्यफल भक्ति ही मानी जाती है ॥६५॥

यहाँ दानादि समस्त साधन श्रीकृष्णार्पित होना प्रयोजन जानना। देवर्षि नारदजीने इसी अभिप्राय से प्रचेतागण के प्रति कहा है—(४।३१अ०) मानवों का वह जन्म ही जन्म है,वे समस्त कर्म ही यथार्थ रूप से कर्म हैं। वह जीवन ही यथार्थ है, वह मन एवं वचन धन्य है, जिस जन्म में, जिस कर्म में, जिस जीवन में तथा जिस मन एवं वचन में भगवान् हरि सेवित होते हैं॥ बृहन्नारदीय में कहा है—"यथा-हजार हजार कोटि कोटि जन्मों में जिन्होंने पुण्यार्जन किया है उन की देवदेव जनार्द्दन में शुद्धा भक्ति होती है।" अगस्त्यसंहिता में कहा गया है—"कोटिजन्म अनुष्ठित व्रत, उपवास,नियम, तथा विविध यज्ञों से माधव में सम्यग्भक्ति होती है॥" व्यतिरेकमुख से भी कहा गया कि—"धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसाम्" इत्यादि श्लोक में तथा "यशः-श्रियामेव" इत्यादि श्लोक में ॥६५॥

इस भागवतशास्त्र में कहीं कहीं ज्ञान-साधन का जो उपदेश है वह

लभ्यम् । यथा—पुरेऽह भूमन् बहवोऽपि योगिनस्तदर्पितेहा निजकर्म्मलब्धया । विबुध्य भक्तयैव कथोपनीतया प्रपेदिरेऽञ्जोऽच्युत ते गतिं पराम् ॥६६॥

हे भूमन् इह लोके पूर्वं योगिनोऽपि सन्तः योगैर्ज्ञानमप्राप्य पश्चात्त्वयि अर्पिता लौकिक्यपि चेष्टा तथार्पितानि यानि निजानि कर्माणि तैर्लब्धया कथारुचिरूपया पुनश्च कथोपनीतया कथया त्वत्समीपं प्रापितया कथनीयरुचिरूपया भक्तैयव अञ्जः सुखेन विबुध्य आत्मतत्त्वमारभ्य श्रीभगवत्तत्त्वपर्य्यन्तमनुभूय तव परमान्तरङ्गां गतिं प्राप्ताः । श्रीगीतोपनिषत्सु च—अहं सर्वस्य प्रभव इत्यादिभिः शुद्धां

ज्ञान भक्तिसाधन के अन्तर्भूतत्व-रूप से है । जैसा कि ब्रह्माजी ने स्तुति प्रसंग से श्रीकृष्ण से कहा है— हे भूमन् ! अर्थात् स्वरूप तथा गुणों से सर्वदा परिपूर्ण ! पहले इस लोक में बहु बहु योगी-महापुरुष योग-साधन में प्रवृत्त होकर भी उस योग-साधन के द्वारा ज्ञान लाभ न कर सके । बाद में आप में लौकिक तथा वैदिक विविध चेष्टाओं को अर्पित करके उस के फलरूप में आप की कथा में रुचिलक्षणा भक्ति लाभ करने लगे । (श्लोकार्थ)॥

सन्दर्भव्याख्या---हे भूमन् ! इस लोक में पहले योगी होकर भी बहु योगीगणों ने योग साधनों से ज्ञान प्राप्त न कर बाद में तुम में लौकिकी चेष्टा तथा---अर्पित जो निज कर्म-समूह उन से तुम्हारी कथा में रुचि-रूपा भक्ति को प्राप्त किया । बाद में तुम्हारी कथा में रुचिलक्षणा-भक्तिलाभ के फलरूप में तुम्हारी सान्निध्यप्रापिका भक्ति प्राप्त कर उस के फलरूप में सुख से आत्मतत्त्व से प्रारम्भकर भगवतत्त्व का अनुभव कर तुम्हारी अन्तरंगा गति प्राप्त की । श्रीगीतोपनिषद

भक्तिम् उपदिश्याह— तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः । नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वतेति ॥१०॥१४॥ ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥९६॥

यान्यन्यानि सर्वाणि तत्र पुरुषार्थसाधनायुच्यन्ते तान्यपि तथैव भक्तिमूलान्येव । यथा—स्वर्गापवर्गयोः पुंसां रसायां भुवि सम्पदाम् । सर्वासामपि सिद्धानां मूलं तच्चरणार्च्चनम् ॥९७॥

में भी—"मैं सब का प्रभव हूँ"इत्यादि वचनों से शुद्धा-भक्ति का उपदेश कर कहते हैं---उन के अनुकम्पार्थ ही मैं आत्मभावस्थ होकर भास्वत् ज्ञान-प्रदीप से अज्ञान जात तमः का नाश करता हूँ ॥९६॥

श्रीमद्भागवत में अन्य जो समस्त पुरुषार्थ-साधन कहे गये हैं वे सब भक्तिमूलक जानना । यथा--(१०-८१-१९) श्लोक में कहा है--स्वर्ग में, मुक्ति में, रसातल तथा भूतल में पुरुषों की जो सम्पत्ति व सिद्धियाँ हैं उन सब का मूल भगवान् की चरणसेवा है । अर्थात् श्रीकृष्ण-चरणार्चन के बिना वे पुरुषार्थ बस्तु समस्त लाभ नहीं होती हैं । कर्मानुष्ठान में मन्त्रगत व साधनगत बहु त्रुटियाँ उपस्थित होती हैं । इस लिये "मुखबाहुरुपादेभ्यः" इस श्लोक में भगवद्भजन का जो नित्यत्व विधान है उस कारण से भी भगवद्बहिर्मुख जन कभी स्वर्गादि-सुख तथा किसी प्रकार से पुरषार्थ-लाभ नहीं कर सकता हैं ऐसा मानना होगा । स्कन्दपुराण में कहा है---विष्णुभक्तिरहितजनों की श्रौत एवं स्मृतिशास्त्रोक्त जो समस्त क्रियायें हैं उन का फल कायक्लेश-मात्र है । वेश्या का व्यभिचार जिस प्रकार कायिकक्लेश में पर्यवसित होता है तद्वत् ॥ श्रीयुधिष्ठिर महाराजने (१०।१२।४) कहा है—

हे श्रीकृष्ण ! समस्त अमङ्गलनाशक तुम्हारे चरणपादुका-युगल

मन्त्रतस्तन्त्रतच्छिद्रमित्यादिन्यायेन मुखबाहूरुपादेभ्य इत्याद्युक्तनित्यत्वेन च सर्वथा तद्बहिर्मुखानां तु तत्तदलाभ एव स्यादित्यर्थः । यथा स्कान्दे—विष्णुभक्तिविहीनानां श्रौताः स्मार्त्ताश्च याः क्रियाः । कायक्लेशः फलं तासां स्वैरिणीव्यभिचारवदिति । तदुक्तं श्रीयुधिष्ठिरेण—त्वत्-पादुके अविरतं परि ये चरन्ति ध्यायन्त्यभद्रनशने शुचयो गृणन्ति । विन्दन्ति ते कमलनाभ ? भवापवर्गमाशासते यदि तु आशिष ईश नान्ये ।। इति । अत उक्तं बृहन्नारदीये—यथा समस्तलोकानां जीवनं सलिलं स्मृतम् । तथा समस्त-सिद्धीनां जीवनं भक्तिरिष्यते ।। १० ।। ८१ ।। श्रीदामविप्रः ।।६७।।

की पवित्रभाव से जो शरीर के द्वारा निरन्तर परिचर्य्या करते हैं, मन से ध्यान तथा वचनों से तुम्हारी लीला-कथा का कीर्त्तन करते हैं तो हे कमललाभः ! वे मोक्ष-पर्य्यन्त प्राप्त करने में समर्थ होते हैं और यदि अन्य किसी कामना पूर्त्ति की इच्छा करते हैं तो तुम्हारे चरण-प्रसाद से ही लाभ करते हैं। परन्तु भक्त के विना अन्य कोइ उस समुदाय का लाभ करने में समर्थ नहीं होता है अर्थात्—भक्त ही लाभ करने में समर्थ रखता है ।। इसी भाव को लेकर बृहन्नारदीय में कहा गया है—

"जिस प्रकार सलिल (जल) समस्त लोगों का जीवन माना जाता है उस प्रकार समस्त सिद्धि का जीवन भक्ति ही मानी जाती है" ।। श्रीदाम-विप्रने कहा है ।।६७।।

अतः वे समस्त साधन भक्ति-जीवन-भूत हैं अर्थात् भक्ति ही सब के जीवन-स्वरूप है, इस से भक्ति का सर्व्वत्र अभिधेयत्व बतलाया

तदेवं तानि साधनानि भक्तिजीवनान्येवेति भक्तेरेव सर्वाभिधेयत्वम् । तानि विनापि च भक्तेरेव तत्र साधकत्वमपि दर्शितम्, अकामः सर्वकामो वेत्यादौ । यथा श्रीविष्णुपुराणे पुलहवाक्यम्—यो यज्ञपुरुषो यज्ञे योगे यः परमः पुमान् । तस्मिंस्तुष्टे यदप्राप्यं किन्तदस्ति जनार्दने ॥ अतएव मोक्षधर्मे—या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये । तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रय इति । तस्मात् साधूक्तं सर्वशास्त्रश्रवणफलत्वेन तदभिधेयत्वम् । अतएव प्रथमं स्वयं भगवता सैव प्रवर्त्तितेत्युक्तम्—कालेन नष्टा प्रलये वाणीयमित्यादिना । तदेवं सति ये तु नातिकोविदास्ते तत्तदर्थं

गया है। परन्तु उनके बिना भक्ति का साधकत्व उस में दिखलाया गया। यथा—"अकामः सर्वकामो वा" इत्यादि श्लोक से ॥ विष्णुपुराण से पुलहजी का वचन है कि—"जो यज्ञ में यज्ञ-पुरुष करके कहे जाते हैं तथा जो योगसाधना में परमपुरुष माने जाते हैं उन जनार्द्दन के प्रसन्न होने पर कोई बस्तु अप्राप्य नहीं हो सकती हैं" ॥ अतएव मोक्षधर्म में कहा गया है—चतुवर्ग-पुरुषार्थ लाभ में जो साधन-सम्पत्तियाँ बतलाई गई हैं मानवगण नारायण का आश्रय कर उन समस्त साधनों के बिना ही पुरुषार्थ-लाभ करते हैं। समस्त शास्त्र-श्रवण-फल रूप में भक्ति का जो अभिधेयत्व बतलाया गया है वह सुन्दर है। इसी लिये सृष्टि के प्रारम्भ में स्वयं भगवान् ने भक्ति का प्रवर्त्तन किया है। (११।१४।३) श्लोक में भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—महाप्रलय के समय कालक्रम से मेरी आदेश रूप वेदवाणी ग्राहकाभाव के कारण विलुप्त हो गई थी। बाद में अर्थात् पुनः सृष्टि के समय मैंने ब्रह्मा के निकट उस का उपदेश किया है जिस में कि मदात्मक धर्म वर्णित हैं

कर्माद्यङ्गत्वेनैव श्रीविष्णूपासनां कुर्वते । ततस्तदपराधेन निजकामनामात्रफलप्रदत्वं तत्रानियतत्वञ्च तस्यास्तदर्थमपि स्वतन्त्रत्वेन क्रियमाणाया भक्तेस्त्ववश्यं तत्तत्फल-प्रदत्वम् । न च तत्तन्मात्रदानेन पर्य्याप्तिः किन्तु पर्य्यवसाने परमफल-प्रदत्वमेवेति । ततस्तस्या एव परमहितत्वेनाभिधेयत्वमाह--

सत्यं दिशत्यर्थितमर्थितो नृणां नैवार्थदो यत् पुनरर्थिता यतः । स्वयं विधत्ते भजतामनिच्छतामिच्छापिधानं निज-पादपल्लवम् ॥६८॥

इत्यादि । अतएव जो अति अभिज्ञ नहीं हैं वे धर्मादि-लाभ के लिये कर्मादि अनुष्टान के अंग रूप में श्रीविष्णु की पूजा करते हैं । उस से भक्ति की अमर्यादा-रूप अपराध होता है । यदयपि भक्ति-मर्यादा रक्षा के लिये वे भगवान् केवल मात्र उनके लिये कामनानु-रूप फल-दान करते हैं तो भी वह फल चिरस्थायी नहीं माना जाता है । यदि वे अनभिज्ञ व्यक्तिगरण अपने अभिलषित पुरुषार्थ-प्राप्ति के लिये स्वतत्र-भाव से भक्ति का अनुष्ठान करते तब अवश्य ही भक्तिदेवी अन्यान्य साधनों के उन समस्त फलों को प्रदान करती अधिकन्तु केवल उन फलों को प्रदान कर विरत नहीं होती परन्तु पर्यवसान में परम फल प्रेम को भी दान करती ॥

अनन्तर परम हितकारित्व रूप में भक्ति का अभिधेयत्व कथन करते हैं-(५।१६।३६) श्लोक में देवगरण परस्पर कह रहे हैं-मानवगण भक्ति-साधन के अनुष्टान करते हुए यदि भगवान् के निकट अन्य कोई पुरुषार्थबस्तु चाहते हैं तो कृपालु भगवान् उनकी प्रार्थनानुसार धर्मादि पुरुषार्थ बस्तु प्रदान करते हैं तो भी उन की इच्छा न रहने पर भी अपने चरण-कमल का प्रदान करना उचित जान कर प्रदान करते हैं ॥श्लोकार्थ ॥६८॥

अर्थितः प्रार्थितः सन् नृणामर्थितं सत्यमेव ददाति। न तत्र कदाचिद्व्यभिचार इत्यर्थः। किन्तु तथापि तन्मात्रेणार्थदो न भवति तन्मात्रं दत्त्वा निवृत्तो न भवति इत्यर्थः। यत उपासकस्तत्रापूर्णत्वात् भोगक्षये सति तदेव पुनरर्थितो भवति, न जातु कामः कामानामित्यादेः। तदेवमभिप्रेत्य परमकारुणिकस्तत्पादपल्लवमाधुर्य्यज्ञानेन तदनिच्छतामपि भजतामिच्छापिधानं सर्वकामसमापकं निजपादपल्लवमेव विधत्ते तेभ्यो ददातीत्यर्थः। यथा माता चर्व्यमाणां मृत्तिकां बालकमुखादपसार्य्य तत्र खण्डं ददाति तद्वदिति भावः। एवमप्युक्तम्—अकामः सर्वकामो वेत्यादौ तीव्रत्वं भक्तेः। तथोक्तं गारुड़े—यद्दुर्लभं यदप्राप्यं मनसो यन्न गोचरम्।

भगवान् सकामी-भक्तों के द्वारा प्रार्थित होकर उनकी प्रार्थनानुसार सत्य ही फल प्रदान करते हैं इस में कोई व्यभिचारिता नहीं है यह भावार्थ है। परन्तु तो भी उन के अर्थित-वस्तु को प्रदान कर निवृत्त नहीं होते हैं। क्यों कि उपासक उस में अपूर्ण रहता है तथा भोगक्षय के बाद पुनः अर्थ चाहता है। इस अभिप्राय से गीता में कहा गया है—"कामियों का काम परिभोग से नहीं क्षय होता है।" इत्यादि। परम कारुणिक भगवान् अपने पादपल्लव-माधुर्य्यज्ञान के द्वारा अनिच्छाकारी भक्तों की अन्य इच्छा को ढक कर सर्व-काम समापक अपने पद-पल्लव को प्रदान करते हैं। जिस प्रकार माता चुबाई हुई मृत्तिका बालक के मुख से निकाल कर खाँड-शक्करादि मिष्ट बस्तु मुख में अर्पण करती है उस प्रकार। "अकामः सर्वकामो वा" इत्यादि श्लोक में भक्ति की तीवत्व की बात बतलाई गई है। गरुड-पुराण में कहा गया है—"जो दुर्ल्लभ बस्तु है, जो अप्राप्य है तथा जो मन के

तदप्यप्रार्थितं ध्यातो ददाति मधुसूदन इति । एवं श्रीसनकादीनामपि ब्रह्मज्ञानिनां भक्त्यनुवृत्त्या तत्पादपल्लवप्राप्तिर्ज्ञेया ॥ ५॥१६॥देवाः परस्परम् ॥६८॥

अथ व्यतिरेके कर्मानादरेणाह । तत्र कर्म्मणः फलप्राप्तावनिश्चयवत्त्वं दुःखरूपत्वञ्च भक्तेस्तु तस्यामावश्यकत्वं साधकदशायामपि सुखरूपत्वञ्चेत्याह— कर्मण्यस्मिन्ननाश्वासे धूमधूम्रात्मनां भवान् । आपाययति गोविन्दपादपद्मासवं मधु ॥६६॥

अस्मिन् कर्मणि सत्रे अनाश्वासे अविश्वसनीये वैगुण्य-

अगोचर है इस प्रकार बस्तु की कोई प्रार्थना न करने पर भी ध्यानमात्र से वे मधुसूदन उसे प्रदान करते हैं। इस प्रकार ब्रह्मज्ञानी सनकादिकों की भक्ति-अनुवृत्ति के द्वारा भगवच्चरण-पल्लव-प्राप्ति जानना ॥६८॥

अतः पर व्यतिरेक मुख से कर्म का अनादर कर भक्ति का अभिधेयत्व स्थापन करते हैं--फल-प्राप्ति विषय में कर्मसाधन का अनिश्चयत्व एवं दुःखरूपत्व है। परन्तु भक्ति-साधन में अवश्य फलदायकत्व एवं साधकदशा में भी सुखरूपत्व है उसे कहते हैं--(१-१८-२२) श्लोक में। नैमिषारण्यवासी मुनिगण ने श्रीसूतजी से कहते हैं--हे मुनिवर! हम सब ने जिस यज्ञ का अनुष्ठान किया है वह अविश्वसनीय है। उस में वहु वैगुण्य उपस्थित के कारण फल-प्राप्ति में कोई निश्चय नहीं है। अधिकन्तु यज्ञ की प्रज्वलित अग्नि से उत्थित धूम्र से हम सब के शरीर विवर्ण हो रहे हैं। इस प्रकार अवस्था में आप हम सब को गोविन्दचरण-पद्म के मधुर मकरन्द पान करा रहे हैं ॥ यह श्लोकार्थ है ॥ ६६ ॥

इस कर्म में अर्थात् अविश्वसनीय यज्ञ में वैगुण्य बाहुल्य वश

बाहुल्येन कृषिवत् फलनिश्चयाभावात् । अनेन भक्तेर्विश्वसनीयत्वं ध्वनितम् । धूमेन धूम्रौ विरञ्जितौ आत्मानौ शरीरचित्ते येषां, कर्मणि षष्ठी, तानस्मान् इत्यर्थः । पादपद्मस्य यशोरूपमासवं मकरन्दं मधु मधुरम् । अत्र सत्रवत् कर्मान्तरं यशःश्रवणवद्भक्त्यन्तरञ्चेति ज्ञेयम् । तदेवं भक्तिं विना भू ानां कर्म्मादिभिरस्माकं दुःखमेवासीदिति व्यतिरेकत्वमत्र गम्यते । तदुक्तम्—यशः श्रियामेव परिश्रमः पर इत्यादि ।

फल का निश्चय नहीं है । कृषिकार्य में जमीन में बीज बोने पर अवश्य फल लाभ होगा यह कोई निश्चय नहीं है । उसी प्रकार यज्ञ करने से फल मिलेगा ही इस का कोई निश्चय नहीं है । इस वचन से भक्ति का विश्वसनीयत्व ध्वनित हो रहा है। "धूम्र के द्वारा धूम्र" तात्पर्य-धूआं से विरञ्जित अर्थात् विवर्ण हो गयी है आत्मा जिनकी वे हम सब । यहाँ आत्मा शब्द का अर्थ शरीर एवं चित्त है । "धूमधूम्रात्मनां" यहाँ कर्म में षष्ठी विभक्ति है । पादपद्म का यशोरूप आसव अर्थात् मकरन्द है । मधु शब्द का अर्थ मधुर है । यहाँ यज्ञ की भाँति अन्य समस्त कर्मकाण्ड की साधनाएँ हैं एवं यशः श्रवण की भाँति भक्त्यन्तर है जानना । अतः भक्ति के विना कर्मादि हम सब का दुःखकर है यह व्यतिरेक मुख से बोध हो रहा है । इस प्रकार(१२।१२।५४) श्लोकपर श्रीसूतजी ने कहा है--वर्ण एवं आश्रमाचार में, और तपस्या एवं वेदादि-शास्त्र अध्ययन में मानवों का जो महान् परिश्रम है वह यशः तथा सम्पत्ति में पर्य्यवसित होता है । यदि श्रीधरपादपद्म की अविस्मृति होती है इत्यादि । (१।२।२२) श्लोक में श्रीसूतजी का वचन भी है —अतएव कविगण परम आनन्द के साथ वासुदेव भगवान् में आत्मप्रसन्नता कारिणी भक्ति का नित्य ही विधान करते हैं । इत्यादि ॥ ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में शिवजी के प्रति श्रीविष्णु का वचन

अतो वै कवयो नित्यमित्यादि च । ब्रह्मवैवर्त्तें च शिवं प्रति बिष्णुवाक्यम्--यदि मां प्राप्तुमिच्छन्ति प्राप्नुवन्त्येव नान्यथा । कलौ कलुषचित्तानां वृथायुःप्रभृतीनि च । भवन्ति वर्णाश्रमिणां न तु मच्छरणार्थिनामिति ॥ १ ॥ १८ ॥ श्रीऋषयः सूतम् ॥६६॥

तथा त्यक्त्वा स्वधर्ममित्यादिकमनुसन्धेयम् । एवं महावित्तमहायाससाध्येन कर्मादिना तुच्छं स्वर्गादिफलं स्वल्पायासस्वल्पवित्तादिसाध्यया भक्त्या तदाभासेन च परममहत्फलं तत्र तत्रानुसन्धाय भक्तावेव शास्त्रतात्पर्यं पर्य्यालोच-

---

है--"यदि कोई मुझ को प्राप्त करने की इच्छा करते हैं तो वे अवश्य ही मुझे प्राप्त कर लेते हैं, इस में कोई सन्देह नहीं है। कलि-काल में जो केवल वर्ण एवं आश्रम का आचरण करते हैं वे कलुषचित्त के हैं, उन की आयुः वृथा ही अतिवाहित होती है। परन्तु मेरे शरणार्थी उस प्रकार नहीं होते हैं ॥६६॥

यहाँ "त्यक्त्वा स्वधर्मं" इत्यादि श्लोक का अनुसन्धान किया जावेगा। उस श्लोक में कहा गया है कि---भजन करते करते कोई साधक दैववश अपने साधनमार्ग से किसी अपराध के कारण यदि भ्रष्ट हो जाता है तब उस में कोई अमङ्गल उपस्थित नहीं होगा और जो भगवान् के चरकमलभजन का परित्याग कर केवल स्वधर्माचरण करता है वह किसी प्रकार मंगल प्राप्त नहीं करेगा। इस से कर्मसाधन से भक्ति का सुखकरत्व एवं सुफलदातृत्व दिखलाया गया है। पूर्व पूर्व शास्त्रवाक्यों से यह जाना जाता है कि--बहुपरिश्रम के द्वारा अति तुच्छ स्वर्गादि फललाभ होता है परन्तु अल्प अर्थ एवं अल्प परिश्रम से साध्या जो भक्ति है उस के आभास के द्वारा परम महत्फल लाभ

नीयम् । तस्मात् तत्तच्छास्त्राणामपि भक्तिविधेयकतत्तदनुवादेन प्रवृत्तत्वान्न वैफल्यमित्यपि ज्ञेयम् । किञ्च विप्राद्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात् श्वपचं वरिष्ठम् । मन्ये तदर्पितमनोवचनेहितार्थप्राणं पुनाति सकुलं न तु भूरिमान इति ॥१००॥

होता है । इन समस्त वचनों से भक्ति में निखिलशास्त्र का तात्पर्य्य है यह जाना जाता है । अतः कर्मादि प्रतिपादक उन समस्त शास्त्रों की भक्ति-विधेयक उस उस अनुवाद से प्रवृत्ति के कारण वैफल्य नहीं है मानना होगा । अर्थात्-जब तक महत्संग नहीं होता है तब तक भक्ति-साधन में आदरबुद्धि नहीं होती है और जब तक आदरबुद्धि नहीं आवेगी तब तक भक्ति-अनुष्ठान में आवेश नहीं होगा । अतः जब तक आदर बुद्धि नहीं आती है तब तक भक्ति-सम्बलित कर्मादि साधन का अनुष्ठान करना होगा । कर्मादि अनुष्टान से सत्संग लाभ की सम्भावना है। सत्संग से हरिकथा में रुचिलाभ के बाद विशुद्धा भक्ति में प्रवेश करने का अधिकार होता है । इसी अभिप्राय से कर्मादि अनुष्टान का बार बार शास्त्रों में उल्लेख है। अतः विचार करने पर उन का वैफल्य नहीं है ॥

और भी कहते हैं—(७।९।१०) श्लोक में प्रह्लादजी ने अपने प्रभु नृसिंहदेव से कहा है—धर्म-सत्यादि द्वादश गुण समन्वित अथच पदारविन्दविमुख ब्राह्मण से हरिभक्ति के हेतु श्वपच वरिष्ठ है ऐसा हम मानते हैं। क्यों कि वह श्वपच आप में अर्पित मनो-वचन-चेष्टा-प्राण के द्वारा कुल के साथ अपने को पवित्र करता है परन्तु प्रचुर अभिमान रखने वाला हरिविमुख ब्राह्मण अपने को भी पवित्र नहीं कर सकता है ॥१००॥ (श्लोकार्थ)

टीका च—"भक्त्यैव केवलया हरेस्तोषः संभवतीत्युक्तम्। इदानीं भक्तिं विना नान्यत् किञ्चित्तोषहेतुरित्याह विप्रादिति। मन्ये धनाभिजन-रूप-तपः—श्रुतौजस्तेजः प्रभाव-बल-पौरुष-बुद्धियोगा इत्यादौ पूर्वोक्ता ये धनादयो द्विषट् द्वादश गुणास्तैर्युक्ताद्विप्रादपि श्वपचं वरिष्ठं मन्ये। यद्वा सनत्सुजातोक्ता द्वादश धर्मादयो गुणाः द्रष्टव्याः——धर्मश्च सत्यश्च दमस्तपश्च अमात्सर्य्यं ह्रीस्तितिक्षानसूया। यज्ञश्च दानञ्च धृतिः श्रुतञ्च व्रतानि वै द्वादश ब्राह्मणस्य॥ इति। कथम्भूताद्विप्रादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखात्। कथम्भूतं श्वपचं

टीका—केवल भक्ति के द्वारा श्रीहरि की प्रसन्नता होती है यह कहा गया। अब भक्ति के विना अन्य कोई तोषकारण नहीं है उसे कहते हैं "विप्राद् द्विषड्गुणयुतात्" इस श्लोक से। "धनाभिजन-रूप-तप-श्रुतौजस्तेजः प्रभाव-बल-पौरुष-बुद्धियोग" इत्यादि पूर्वोक्त धनादि जो द्वादश गुण कहे गये हैं उन समस्त गुणों से युक्त ब्राह्मण से हम श्वपच श्रेष्ठ मानते हैं। अथवा सनत्सुजात उक्त द्वादश धर्मादि गुण युक्त धर्म-सत्य-दम-तपस्या, अमात्सर्य्यता, ह्री तितिक्षा, अनसूया, यज्ञ, दान, धृति, श्रुति तथा व्रत ये बारह गुण ब्राह्मण के हैं ऐसा वहाँ कहा गया है। किस प्रकार ब्राह्मण से कहते हैं—कमलनाभ भगवान् के पदारविन्द विमुख से। श्वपच किस प्रकार ?-उन कमलनाभ भगवान् में अर्पण किया है मनो आदि जिस ने। ईहित का अर्थ कर्म है। वरिष्ठ होने का हेतु ?-वह एवम्भूत श्वपच समस्त कुल को पवित्र करता है किन्तु प्रचुर मान रखने वाला विप्र आत्मा को भी पवित्र नहीं कर पाता, कुल का क्या कहना क्यों कि भक्तिहीन विप्र के ये समस्त गुण गर्व के लिये होते हैं।" शुद्धि के लिये नहीं। अतः भक्तिशून्य ब्राह्मण हीन है यह भावार्थ है। यहाँ तक स्वामिटीका की व्याख्या हुई है।

तस्मिन्नरविन्दनाभे अर्पिता मन आदयो येन तम् । ईहितं कर्म । वरिष्ठत्वे हेतुः स एवम्भूतः श्वपचः सर्वं कुलं पुनाति । भूरिमानो गर्व्वो यस्य स तु विप्रः आत्मानमपि न पुनाति कुतः कुलम् । यतो भक्तिहीनस्यैते गुणाः गर्वायैव भवन्ति न तु शुद्धये । अतो हीन इति भाव इत्येषा"। मुक्ताफलटीका च—द्विषट् द्वादश गुणाः धनाभिजनादयः । यद्वा शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तचार्जवविरक्तयः । ज्ञानविज्ञानसन्तोषाः सत्यास्तिक्यं द्विषड् गुणाः ॥ इत्यत्रोक्ता इत्येषा" । स्कान्दे श्रीनारदवाक्यम्—कुलाचारविहीनोऽपि दृढ़भक्तिर्जितेन्द्रियः । प्रशस्तः सर्वलोकानां न त्वष्टादशविद्यकः ।

मुक्ताफल टीका में—"धनाभिजनादय द्वादश गुण हैं। अथवा शम, दम, तपस्या, शौच, क्षान्ति, आज्जब, विरक्ति, ज्ञान, विज्ञान, सन्तोष, सत्य, आस्तिक्य ये बारह गुण" । यहाँ तक हेमाद्रिकृत टीका की व्याख्या है। स्कन्दपुराण में श्रीनारदजी का वाक्य है—

"कुल तथा आचार-हीन जन यदि दृढ़ भक्तिमान् एवं जितेन्द्रिय है तो वह समस्त लोगों में प्रशंसनीय होता है परन्तु अष्टादशशास्त्र-विद्या में पारदर्शी, सद्वंशसम्भूत, शान्त तथा धार्मिक ब्राह्मण यदि भक्तिहीन अजितेन्द्रिय है तो वह प्रशंसनीय नहीं होता है" ॥ काशीखण्ड में कहा है-"ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र अथवा अन्य कोई इतर जातीय जन यदि विष्णुभक्त होता है तब उस को सर्वोत्तम जानना" । बृहन्नारदीय में कहा है—"जो विष्णु में भक्तिरहित हैं वे चाण्डाल करके कहे जाते हैं और यदि चाण्डाल हरिभक्ति परायण हैं तो वे श्रेष्ठ माने जाते हैं" । नारदीय में कहा है-"हे महीपाल ! विष्णुभक्तश्वपच ब्राह्मण से अधिक है और बिष्णुभक्तिरहित ब्राह्मण श्वपच से

भक्तिहीनो द्विजः शान्तः सज्जातिर्धार्मिकस्तथा ॥ काशी-खण्डे च—ब्राह्मणः क्षत्रियो वैश्यः शूद्रो वा यदि वेतरः। विष्णुभक्तिसमायुक्तो ज्ञेयः सर्वोत्तमोत्तमः ॥ बृहन्नारदीये—विष्णुभक्तिविहीना ये चण्डालाः परिकीर्त्तिता। चाण्डाला अपि ते श्रेष्ठा हरिभक्तिपरायणाः ॥ नारदीये च—श्वप-चोऽपि महीपाल! विष्णोर्भक्तो द्विजाधिकः। विष्णुभक्ति-विहीनो यो द्विजातिः श्वपचाधिकः ॥ इति। अत्र मूलपद्ये कुलं पुनातीत्युक्ते स्वं पुनातीति सुतरामेव सिद्धम्। यथो-क्तम्—किरातहूनान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा आभीरकङ्का यवनाः खसादयः। येऽन्ये च पापा यदपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नम इति ॥७॥६॥ प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥१००॥

अतएवाहुः—धिग् जन्म न स्त्रिवृद्यत्तद्धिग् व्रतं धिग्

अधिक हीन है ॥ यहाँ मूलश्लोक में "कुलं पुनाति" ऐसा कहा गया है। अतः अपने को पवित्र करता है यह सिद्ध हुआ। (२।४।१८) श्लोक में श्रीशुकदेव ने कहा है-किरात, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, शुह्म, यवन एवं खस प्रभृति अति नीच पापजातीय जन, एवं पापाचरण से स्वयं साक्षात् पापमूर्त्ति वाले वे सब जिन भगवान् के चरणाश्रित भक्त जनों का आश्रय लाभ कर अन्तर एवं बाहर उभय प्रकार से पवित्रता लाभ करते हैं उन परम प्रभाव सम्पन्न भगवान् के चरणों में हम प्रणाम करते हैं ॥१००॥

अतएव-(१०-२३-३९) श्लोक में याज्ञिक ब्राह्मणगण ने कहा है-हम सब अधोक्षज श्रीकृष्ण में भक्ति-रहित हैं सुतरां हम सब के शौक्र्य, सावित्र्य, एवं दैक्ष्य ये तीनों प्रकार के जन्म को धिक्कार है, किये हुए

बहुज्ञताम् । धिक् कुलं धिक् क्रियादाक्ष्यं विमुखा ये त्वधोक्षजे ॥१०१॥

टीका च—"त्रिवृत् शौक्रंच सावित्रचं दैक्षमिति त्रिगुणितं जन्म । व्रतं ब्रह्मचर्य्यम् । क्रियाः कर्म्माणि दाक्ष्यञ्चेत्यादिका" । तथोक्तम्—किं जन्मभिस्त्रिभिरित्यादि ॥१०२३॥ याज्ञिकविप्राः ॥१०१॥

श्रीभगवत्समर्पितकर्म्मणोऽप्यनादरेण तु दर्शितम्—तस्मादेकेन मनसेत्यादि । गीतोपनिषत्सु च भक्तचसामर्थ्य एव तद्विहितम्—मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय । निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः । अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम् । अभ्यासयोगेन ततो मामि-

---

व्रतादि को धिक्कार है, बहुदर्शिता को धिक्कार है, कुल को धिक्कार है तथा क्रियादाक्ष्यता को धिक्कार है ॥१०१॥ (श्लोकार्थ)

टीका—त्रिवृत् अर्थात् शौक्रय, सावित्र्य एवं दैक्ष्य रूप त्रिगुणित कर्म है, व्रत अर्थात् ब्रह्मचर्य है, क्रिया अर्थात् कर्म में दक्षता है। इत्यादि । इस वाक्य को दृढ़ करने के लिये प्रचेतागण के प्रति देवर्षि नारदजी के वाक्यों का उल्लेख करते हैं–"किं जन्मभिस्त्रिभिः"इत्यादि श्लोक से ।। अर्थात्--जो कुछ साधन एवं गुण मनुष्य के हैं उन में यदि भगवत्सम्बन्ध नहीं है तब वे समस्त व्यर्थ हैं ॥१०१॥

अनन्तर भगवत्समर्पित कर्म के अनादर पूर्वक भक्ति का अभिधेयत्व दिखलाते हैं–सूतजी शौनकादि मुनिगण की किंकर्त्तव्यता बिषयक प्रश्न के उत्तर में कहते हैं–"हे मुनिवर्ग ! जब धर्म अनुष्ठान में केवल परिश्रम ही सार माना जाता है तब भक्ति-धर्म का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। अत एव एकाग्रचित्त से सात्वत-पति भगवान् नित्य ही

च्छाप्तुं धनञ्जय ! अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्म्मपरमो भव । मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि । अथै-तदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः । सर्वकर्म्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान् ॥ इति । अत्र पाद्मकार्त्तिकमाहात्म्ये-तिहासोऽनुसन्धेयः । चोलदेशराजस्य कस्यचिद्विष्णुदासनाम्ना विप्रेण शुद्धमर्चनमेव कुर्वता सह कस्य पूर्वं भगवत्प्राप्तिः स्यादिति स्पर्द्धया बहून् यज्ञान् भगवदर्पितानपि सुष्ठु विद-धतो न भगवत्प्राप्तिरभूत् । किन्तु विप्रस्य भगवत्प्राप्तौ दृष्टायां तान् परित्यज्य यत्स्पर्द्धया मया चैतद्यज्ञदानादिकं कृतं । स विष्णुरूपधृग् विप्रो याति वैकुण्ठमन्दिरम् । तस्माद्-यज्ञैश्चदानैश्चनैव विष्णुः प्रसीदति । भक्तिरेव परं तस्य निदानं तोषणे मतम्" ॥ इति मुद्गलं प्रत्युक्त्वा, "विष्णौ भक्ति स्थिरां देहि मनोवाक्कायकर्म्मणा । त्रिरुच्चैर्व्याजहारासौ

श्रवणीय हैं, कीर्त्तनीय हैं ध्येय हैं, पूजनीय हैं।" गीतोपनिषद् में-विशुद्ध भक्ति-साधन के अनुष्ठान में जो असमर्थ हैं उन के लिये भगव-त्समर्पित कर्म का अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है ऐसा कहा गया है । गीता के द्वादश अध्याय में भगवान् ने जगत् शिक्षा के छल से अर्ज्जुन के प्रति कहा है—हे अर्ज्जुन ! तुम संकल्प--विकल्पात्मक मन को मुझ में निविष्ट करो, अपनी व्यवसायात्मिका बुद्धि को भी मुझ में निवेशित करो । इस प्रकार करने पर तुम अपने स्वरूप में अवस्थान करोगे इस में अणुमात्र सन्देह नहीं है। परन्तु हे धनञ्जय ! यदि स्थिरभाव से मुझ में चित्त धारण नहीं रख सकते हो तो तुम अपने विक्षिप्त चित्त को बार बार संयत कर निरन्तर स्मरण रूप अभ्यास-योग का साधन करना। पुनः यदि तुम अभ्यासयोग में असमर्थ

होमकुण्डाग्रतः स्थितः" ॥ इत्युक्त्वा शुद्धभक्तिशरणतामेव मुहुर्दैन्येनाङ्गीकृत्य होमकुण्डे देहं त्यजतः पश्चादेव तत्प्राप्तिरिति । योगानादरेणाह—युञ्जानानामभक्तानां प्राणायामादिभिर्मनः । अक्षीणवासनं राजन् दृश्यते क्वचिदुत्थितम् ॥१०२॥

हो तो मत्कर्म्म पर हो जाओ । अर्थात् एकादशी आदि मत्सम्बन्धी व्रत, अर्च्चन, नामसंकीर्त्तन आदि मत्प्रीति उदय कारी कर्म्मों का अनुष्ठान करो । केवलमात्र मेरे सन्तोष के लिये इन समस्त कर्मों को करने पर अवश्य ही मुक्तिलाभ करोगे । पुनः उन में यदि असमर्थ हो तो एकमात्र मेरे शरणापन्न होकर संयतचित्त से नित्य-नैमित्तिक समस्त कर्मों का फलत्याग कर दो ॥

तात्पर्य—वण वा आश्रमोचित कार्य समूह ईश्वर का आदेश है, उन में दृष्ट.दृष्ट समस्त फल परमेश्वराधीन है, उन में मेरा कोई कर्त्तृत्व नहीं है । इस प्रकार भावयुक्त होकर यदि तुम निखिल कर्मफल की आसक्ति परित्याग कर सकते हो तो तुम हमारे प्रसाद से अवश्य कृतार्थता लाभ करोगे । गीता के इन समस्त वचनों से यह प्राप्त होता है कि--विशुद्धभक्ति के अनुष्ठान में असमर्थ होने पर भगवदर्पित कर्म का अनुष्टान करना विधेय है । यहाँ पर पद्मपुराणान्तर्गत कार्तिक-माहात्म्यवर्णन प्रसंग का अनुसन्धान किया जा रहा है । एकसमय चोलदेश के राजा शुद्धअर्च्चनाङ्गभक्ति के अनुष्ठानकारी विष्णुदास नामक ब्राह्मण के साथ "किस की पहले भगवत्प्राप्ति होगी" इस प्रकार स्पर्द्धा करके भगवान् में फलार्पण कर बहुयज्ञों का अनुष्ठान करने लगा । परन्तु उस की भगवत्प्राप्ति नहीं हुई और उस ब्राह्मण ने शुद्ध अर्च्चनाङ्गरूप भक्ति के सामर्थ्य से भगवान् का लाभ किया । उसे देख कर राजा भगवदर्पित यज्ञादि कर्मों का परित्याग करता हुआ मुद्गलनामक किसी एक व्यक्ति से कहने लगा कि—जिस की स्पर्द्धा कर मैंने इन

उत्थितं विषयाभिमुखम् ॥१०।५१॥ श्रीभगवान् मुचु-कुन्दम् ॥१०२॥

तथा—यमादिभिर्योगपथैः कामलोभहतो मुहुः। मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाद्धात्मा न शाम्यति ॥१०३॥

यज्ञादिकों का अनुष्ठान किया वह विप्र विष्णुरूप धारण कर आज वैकुण्ठमन्दिर को जा रहा है, अतः यह ज्ञात होता है कि—यज्ञों से, या दान से विष्णु प्रसन्न नहीं होते हैं, उनके प्रसन्न होने का मूल कारण भक्ति है। ऐसा कह कर होमकुण्ड के आगे खड़े होकर "मन से वाक्य से एवं कायिक कर्म के द्वारा केवल भक्ति-अनुष्ठान करने की योग्यता दीजिये" इस बात को तीन बार उच्चारण कर दीनभाव से भक्तिदेवी की शरण लेकर होमकुण्ड में शरीर त्याग कर भगवान् का लाभ किया। इस प्रसंग से यह दिखलाया जा रहा है कि—विशुद्ध भक्ति-अनुष्ठान से भगवान् की प्राप्ति होती है। भगवदर्पित कर्म्मादि के द्वारा भगवान् सन्तुष्ट नहीं होते हैं। अनन्तर योगसाधन का अनादर कर के भक्ति का अभिधेयत्व स्थापन किया जा रहा है। (१०।५१।६०) श्लोक में भगवान् मुचुकुन्द-महाराज के निकट कह रहे हैं—हे महाराज! जो समस्त भक्तिहीन जन केवल मात्र प्राणायाम प्रभृति साधन के द्वारा अपने अपने मन को संयत करते हैं उन का मन वासना-क्षीण न होने के कारण कभी कभी विषयों में दौड़ता है ॥१०२॥

उत्थित शब्द का अर्थ विषयाभिमुख होना है ॥१०२॥

देवर्षि नारदजी ने श्रीवेदव्यास के निकट कहा है—हे महर्षे! अनुक्षण काम-क्रोधादि से अभिभूत आत्मा मुकुन्द-सेवा के द्वारा जिस प्रकार साक्षात् रूप से शान्तिलाभ करता है उस प्रकार यम-नियमादि योगसाधन के द्वारा शान्ति-प्राप्त नहीं करता है ॥१०३॥

ततः सुतरामेव न साधयति मां योग इत्यादिकमिति भावः ॥११॥६॥श्रीनारदो व्यासम् ॥१०३॥

अथ ज्ञानानादरेणाभ्युदाहृते । तत्र तस्य कृच्छ्रसाध्यत्वेनानादरो दर्शित एव, पानेन ते देव कथासुधाया इत्यादिभ्याम् । तथोक्तं श्रीकुमारोपदेशे, कृच्छ्रो महानित्यादि । श्रीगीतासु च अर्जुन उवाच—एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योग-

---

अतएव (११।१४।२०) श्लोक में भगवान् उद्धवजी के निकट "मुझे योग-धर्म सांख्य-धर्म, वेदाध्ययन, तपस्या एवं वैराग्यादि साधन समस्त प्रसन्न नहीं कर सकते हैं जिस प्रकार मेरी विशुद्धा भक्ति प्रसन्न कर लेते है" जो कहा है उस का भाव ऐसा ही है ॥१०३॥

अनन्तर ज्ञान-योग के अनादर से भक्ति का अभिधेयत्व बतलाते हैं। ज्ञानसाधन बहु कष्ट साध्य है अतः उस को कोई आदर नहीं करता है।"पानेन ते देव कथासुधायाः" इत्यादि दोनों श्लोक से दिखलाया गया है। पहले इसकी व्याख्या हो चुकी है। पृथु-महाराज सनत्कुमारजी के उपदेश में "कृच्छ्रो महानिह भवार्णवमप्लवेशां" इत्यादि श्लोक में ऐसा ही दिखलाया गया है। श्रीगीता में अर्जुन के पूछने पर भगवान् ने ऐसा ही बतलाया है। अर्जुन पूछते हैं कि—हे भगवन्? आप में निखिलकर्म समर्पण करके तथा आप में एकान्त निष्ठावान हो कर जो आप की उपासना करते हैं वे भक्त माने जाते हैं। और जो अव्यक्त अक्षर की उपासना करते हैं वे ज्ञानी कहे जाते हैं। आप कहिये तो उन दोनों में से कौन अधिक योगवत्ता है? इस प्रकार प्रश्न किये जाने पर भगवान् उत्तर देते हैं। जो मुझ में मन को आविष्ट करके नित्ययुक्त होकर श्रद्धापूर्वक मेरी उपासना करते हैं वे युक्ततम

वित्तमाः ॥ श्रीभगवान् उवाच। मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते। श्रद्धाया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥ ये त्वक्षरमनिर्द्देश्यमव्यक्तं पर्य्युपासते। सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्। संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः। ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः। क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते ॥ इति। भक्तिमार्गे तु श्रमो न स्यात्। तद्वशीकारितारूपं फलञ्चापूर्वमित्याह—ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीयवार्त्ताम्।

माने जाते हैं और जो इन्द्रिय-समूह को संयमित करके अनिर्द्देश्य, अव्यक्त, सर्वगत, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल, ध्रुवस्वरूप अक्षर की सम्यक्‌रूप से उपासना करते हैं सर्वत्र समानबुद्धि वाले एवं सर्वभूतहित में रत वे मुझे प्राप्त करते हैं। परन्तु अव्यक्तासक्त चित्तवालों को अधिक क्लेश माना जाता है। अव्यक्तकी गति दुःख दायी है जिस को देहधारी कठिनाई से प्राप्त करता है इत्यादि। भक्तिमार्ग में परिश्रम नहीं है, परन्तु ज्ञानमार्ग में अत्यधिक क्लेश उठाना पड़ता है। भक्तिसाधन में विशेष सामर्थ्य यह है कि जो शीघ्र ही भगवान् को वशीभूत कर लेता है। जो विशुद्धाभक्ति का मुख्य फल है। अब भगवद्वशीकारितारूप अपूर्वफलत्व कहते हैं—ब्रह्माजी ने भागवत के (१०।१४।३) श्लोक में श्रीकृष्णस्तव प्रसङ्ग में कहा है—हे अजित ! जो ज्ञानलाभ के लिये किञ्चिन्मात्र प्रयास न कर कृताञ्जलिसे साधुसमीप रह कर स्वतः ही श्रुतिगत तथा महत्मुखरित आप के कथामृत का श्रवण कर उसे जीवनरक्षा का मूलहेतुरूप मानकर जीवन धारण करते हैं वे अजित करके ख्यात आप को शरीर-वाणीसे वशीभूत कर लेते हैं। यह श्लोकार्थ है।

स्थानस्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम् ॥१०॥१४॥

उदपास्य ईषदप्यकृत्वा। स्थाने सतां निवास एव स्थिताः। सद्भिर्मुखरितां स्तत एव नित्यं प्रकटितां भवदीयवार्तां तुसन्निधिमात्रेण स्वत एव श्रुतिगतां श्रवणं प्राप्तां प्रायसो बाहुल्येन तनुवाङ्मनोभिर्नमन्तः सत्कुर्वन्तो ये

सन्दर्भव्याख्या—"उदपास्य" शब्द का अर्थ ईषद् भी न कर। अर्थात् ज्ञान में किञ्चिन्मात्र प्रयास न कर। स्थान में रह कर अर्थात् साधुओं के निवासस्थान में रह कर। साधुओं से मुखरित अर्थात् स्वतः ही नित्य प्रकटित। उन के सन्निधिमात्र से स्वतः ही श्रवण प्राप्त भवदीय वार्त्ता को वाहुल्य से शरीर-वाणी-मनों से नम्र हो कर सत्कारकर जो जीवन धारण करते हैं अर्थात् केवल उसी को ही करते रहते हैं अन्य कुछ नहीं करते हैं तो त्रिलोक में औरों से अजित आप उन से पराजित हो जाते हैं अर्थात् वशीभूत हो जाते हैं। अतएव नृसिहपुराण में कहा है—जगत् में जब पत्र, पुष्प, फल एवं जलादि बस्तु विना मूल्य से प्राप्त हो जाती है तथा पुराण पुरुष भगवान् जब एकमात्र भक्ति से प्राप्त होते हैं तो मुक्तिलाभ के लिये बृथा-परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। श्रीब्रह्माजीने भगवान् के समक्ष कहा है—हे विभो! जो निखिल-मङ्गल जननी भक्ति को तुच्छ बुद्धि से अनादर कर केवल बोध-लाभ के लिये क्लेश-स्वीकार करते हैं उन का वह प्रयत्न केवल क्लेशदायी होता है। धान्य परिमाण को अल्प देखकर जो स्थूलतुषावघात में यत्नवान् होता है उस की केवल हस्तवेदना सार मानो जाती है परन्तु तण्डुललाभ नहीं है उस प्रकार अल्पश्रम-साध्य भक्तिसाधन में अनादरकारी ज्ञान-साधक का केवल परिश्रम मात्र सार होता है। यह श्लोकार्थ है।

टीका—भक्ति के विना ज्ञान नहीं सिद्ध होता है इस अभिप्राय से कहते हैं—"श्रेयः" इत्यादि श्लोक से। सरोवर से निर्गत निर्भर समूह

जीवन्ति केवलं यद्यपि नान्यत् कुर्वन्ति तैः प्रायशस्त्रिलोक्या-मन्यैरजितोऽपि त्वं जितोऽसि वशीकृतोऽसि। अतएवोक्तं श्रीनृसिंहपुराणे—"पत्रेषु पुष्पेषु फलेषु तोयेष्वक्रीतलभ्येषु सदैव सत्सु। भक्त्यैकलभ्ये पुरुषे पुराणे मुक्तौ किमर्थं क्रियते प्रयत्न" इति। वस्तुतस्तु, श्रेयःसृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो क्लिश्यन्ति ये केवलबोधलब्धये। तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम् ॥१०५॥

टीका च—"भक्तिं विना च ज्ञानं न सिध्यतीत्याह श्रेय इति। श्रेयसामभ्युदयापवर्गलक्षणानां सृतिः सरणं यस्याः सरस इव निर्झराणां तां ते तव भक्तिमुदस्य त्यक्त्वा तेषां क्लेशल एव शिष्यते। अयं भावः—यथा अल्पप्रमाणं धान्यं परित्यज्य अन्तः कणहीनान् स्थूलधान्याभासान् येऽवघ्नन्ति

की भाँति जिस भक्ति से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष ये चार पुरुषार्थ निर्गत होते हैं एवम्भूत निखिल-मंगल-जननी तुम्हारी भक्ति का त्याग कर जो ज्ञानसाधन के लिये यत्नवान् होते हैं उन का केबल क्लेश ही फलरूप में प्रकाश होता है। जिस प्रकार अल्प परिमाणक धान्य का त्याग कर कणहीन स्थूल-धान्य-राशि के अवघात से कुछ फलप्राप्ति नहीं है उस प्रकार जो केबल बोधलाभ के लिये प्रयत्न करते हैं उन का केवल तपस्या, संयम एवं शास्त्राध्ययन जनित श्रम ही लाभ होता है। यहाँ तक टीका की व्याख्या हुई है। भक्ति के विना ज्ञान केवल दुःखदायी है यह गीता के त्रयोदश अध्याय में "अमानित्वमदम्भित्वं" इत्यादि श्लोक में उल्लेखित है। अर्थात् "अमानित्वमदम्भित्वं" इत्यादि श्लोक में ज्ञान-योगमार्ग का उपक्रम कर बीच में "मयि चानन्ययोगेन भक्ति-

तेषां न किञ्चित् फलम्, एवं भक्तिं तुच्छीकृत्य ये केवलबोधाय प्रयतन्ते तेषामपीत्येषा"। श्रीगीतासु च—अमानित्वमदम्भित्वमित्यादिकं ज्ञानयोगमार्गमुपक्रम्य मध्ये मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणीत्यप्युक्त्वा प्रान्ते तत्त्वज्ञानार्थदर्शनमिति समाप्याह, एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा इति। ततो भक्तियोग विना ज्ञानं न भवतीत्यर्थः। अन्तेऽप्युक्तम्—मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यत इति। तत्रान्यत्र च—अश्रद्धधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप। अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनीति। अस्य सततं कीर्त्तयन्तो मां

रव्यभिचारिणी" इत्यादि कह कर अवशेष में "तत्त्वज्ञानार्थदर्शनं" अर्थात् तत्त्वज्ञान का फलरूप आत्मदर्शन है इस प्रकार समापन करके कहते हैं—एतज् ज्ञानमितिप्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा" अर्थात् अनन्य उपाय से अव्यभिचारिणी भक्ति ही यथार्थ ज्ञान-शब्दवाच्य है, हम में भक्ति शून्य जो ज्ञान है वह अज्ञान-संज्ञा में परिगणित है इत्यादि। अतएव भक्तियोग के विना ज्ञान की सिद्धि नहीं है। अन्त में भी कहा है—मेरा भक्त मद्वर्णित ज्ञान एवं ज्ञेय बस्तु के स्वरूप को यथा-यथ भाव से अवगत कर निज भावोचित स्वरूपाविर्भावलाभ की उपयोगिता को प्राप्त करता है। उस त्रयोदश अध्याय के अतिरिक्त अन्य स्थलमें अर्थात् नवमादि अध्याय में भी इस प्रकार अभिप्राय प्रकाश किया गया है। नवमाध्याय के तृतीय श्लोक में—हे परंतप ! भक्ति के साथ ज्ञानलक्षण धर्म को आस्तिक्य रूप में ग्रहण न कर साधारण मानव उपायान्तर के द्वारा मुझे प्राप्त करने के लिये यत्न करके भी न प्राप्त कर मृत्यु सङ्कुल संसार पथ में परिभ्रमण करता है ऐसा कहा गया है। इस श्लोक में "अस्य" पद का अर्थ—कोई कोई उत्तम अधिकारी

यतन्तश्च दृढ़व्रता इत्यादिपूर्वोक्तलक्षणस्य इत्यर्थः । अतएवा-स्फुटभक्तीनां मुद्गलादीनामपि कृतचरी साधनभक्तिरनु-सन्धेया ॥१०॥१४॥ब्रह्मा श्रीभगवन्तम् ॥१०४-१०५॥

आश्रयान्तरस्वातन्त्र्यानादरेणाह—अविस्मितं तं परि-पूर्णकामं स्वेनैव लाभेन समं प्रशान्तम् । विनोपसर्पत्यपरं हि वालिशः श्वलाङ्गुलेनातितितर्त्ति सिन्धुम् ॥१०६॥

निरन्तर मेरा कीर्त्तन करते हुए ईन्द्रिय-संयमादि में प्रकृष्ट यत्नवान् होकर मेरी उपासना करते हैं इत्यादि पूर्वोक्तलक्षण भक्तिधर्म है। अतएव मुद्गलादि के स्पष्ट रूप से भक्तिसाधन का उल्लेख न रहने पर भी जन्मान्तरीय साधन-भक्ति-अनुष्ठान का अनुमान कर लेना होगा ।। (१०४-१०५)

भागवत् के (६।९।१२) श्लोक में देवगणकृत भगवत्स्तुतिप्रसंग में स्वंतन्त्ररूप से देवतान्तर आश्रय के प्रति अनादर करके भगवद्भक्ति की अवश्य कर्त्तव्यता का उल्लेख करते हैं।--हे प्रभो ! निरहंकारी, रागादिरहित, निज स्वरुपानन्दानुभव में परिपूर्णकामवाले, उपाधिगत परिच्छेद-रहित परमेश्वर आप का परित्याग कर जो व्यक्ति अन्य-देवता का आश्रय करता है वह निश्चय अज्ञ है। जो कि मानो कुत्ते की पूंछ धारणकर अतिविस्तीर्ण समुद्रपार होने की इच्छा रखता है। (श्लोकार्थ) ।।

सन्दर्भव्याख्या—अविस्मृत शब्द का अर्थ विस्मय-रहित है। अर्थात् आप जो भगवद्तत्त्व हैं उस से भिन्न अपूर्वबस्तु न रहने के कारण से। अतः निज-स्वरूपानन्दलाभ से जो पूर्णकाम हैं। यहाँ "स्वेनैव" पद का अर्थ निज के द्वारा है, तात्पर्य्य-अपने को आप लाभ करके जो परिपूर्ण कामनावाले हैं। श्लोकोक्त "स्वेन" पद कर्मवाची है तथा "लाभ" पद क्रियावाची है। जिस को निजस्वरूप से भिन्न अन्य किसी

अविस्मितं ततोऽन्यस्यापूर्ववस्तुनोऽसद्भावाद्विस्मयरहितम्। अतः स्वेनैव स्वीयेनैव स्वस्यैव कर्मभूतस्य क्रियाभूतेन लाभेन परिपूर्णकामं नान्यस्येत्यर्थः। अतः सर्वत्र समन्ततः प्रशान्तं चित्तदोष—रहितं अतितितर्त्ति अतिततुर्मिच्छतीत्यथः। तथोक्तं, रजस्तमःप्रकृतय इत्यादि। स्कान्दे श्रीब्रह्मनारदसंवादे—वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। स्वमातरं परित्यज्य श्वपचीं वन्दते हि सः॥ तत्रैवान्यत्र च—वासुदेवं परित्यज्य योऽन्यदेवमुपासते। त्यक्त्वामृतं स मूढ़ात्मा भुङ्क्ते हालाहलं विषम्॥ महाभारते—यस्तु विष्णुं

की अपेक्षा नहीं है ऐसा अभिप्राय है। जैसे कि कहा गया है---जो वैभव के साथ एश्वर्य्य एवं पुत्र-सन्तति आदि की इच्छा करते हैं वे रजः तम प्रकृति वाले समान स्वभाव वाले पितर-भूतादि की उपासना करते हैं। स्कन्दपुराण के ब्रह्म-नारद संवाद में कहा है---वासुदेव का परित्याग कर जो अन्य देवता की उपासना करता है वह मानो अपनी माता को छोड़ कर चण्डालिनी की बन्दना करता है। वहाँ अन्य स्थलपर भी कहा है---वासुदेव का त्याग कर जो अन्य देवता की उपासना करता है वह मूढ़ात्मा अमृत का त्याग कर हलाहलविष का भक्षरण करता है। महाभारत में कहा गया है--जो विष्णु का परित्याग कर मोहवश अन्य की उपासना करता है वह मानो सुवर्णराशि को छोड़ कर राख की ढ़ेर को ग्रहण करता है। अतएव सत्यब्रत ने कहा है---परम पुरुष जिन के प्रसाद के अयुतभागलेश को अन्य देवता तथा स्वयं गुरु भी नहीं प्राप्त करा सकते हैं हम उन ईश्वर की शरण में आ रहे हैं॥इत्यादि॥

ब्रह्मा तथा शिवजी को वैष्णव मानकर भजन करें अर्थात् स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से भजन न करें। (२।९।५) श्लोक में "स आदिदेवः

परित्यज्य मोहादन्यमुपासते । स हेमराशिमुत्सृज्य पांशुराशिं जिघृक्षतीति ॥ अतएवोक्तं श्रीसत्यव्रतेन — न यत्प्रसादायुत-भागलेशमन्ये न देवा गुरवो जनाः स्वयम् । कर्त्तुं समेताः प्रभवन्ति पुंसस्तमीश्वरं वै शरणं प्रपद्ये इति । श्रीब्रह्म-शिवावपि वैष्णवत्वेनैव भजेत; स आदिदेवो भजतां परो गुरुः, वैष्णवानां यथा शम्भुरित्याद्यङ्गीकारात् । अतएव द्वादशे श्रीशिवं प्रति श्रीमार्कण्डेयवचनम्—वरमेकं वृणेऽथापि पूर्णात् कामाभिवर्षणात् । भगवत्यच्युतां भक्ति तत्परेषु तथा त्वयीति त्वय्यपि तत्पर इत्यर्थः । अतएवाष्टमे प्रजापति-

---

जगतां परो गुरुः" अर्थात् ब्रह्माजी जगत् के आदिदेव एवं परम गुरु हैं ऐसा ब्रह्मा के लिये कहा गया है । "वैष्णवानां यथा शम्भुः" अर्थात् वैष्णवों में जिस प्रकर महादेवजी श्रेष्ठ हैं (१२।१३।१६) श्लोक में कहा गया है । अतएव द्वादशस्कन्ध में श्रीशिव के प्रति मार्कण्डेयजी का वचन है कि---कामाभिवर्षण-कारी, परिपूर्ण आप से एक वर माँगता हूँ कि---भगवान् में अव्यभिचारी भक्ति हो तथा आप जैसे भक्तजनों में भी ।। अतएव अष्टमस्कन्ध में प्रजापतिकृत शिवस्तुति में कहा गया है---हे प्रभो ! भगवद् भक्ति उपदेश से दूसरे के प्रति अनुग्रह करने में सर्वदा व्याकुल आप का उमा में अति कामुक, उग्रत्व तथा श्मशान में विचरण करने के कारण जो निन्दा करते हैं वे आप की लीला को नहीं समझ पाते हैं । वे नहीं देखते हैं कि आप के चरण--युगल का आत्मा-रामश्रेष्ठगण भी हृदय में चिन्तन करते हैं । तपस्या के द्वारा अभितप्त, शान्तमूर्त्ति आप में उग्रत्व की सम्भावना कहा है अतः वे सब निर्लज्ज तथा मूर्ख माने जावेंगे । चतुर्थस्कन्ध में (३०।३८) श्लोक में श्री प्रचेतागण श्रीहरि का स्तवन करते हुए शंकरजी के भगवत्प्रियत्व का

कृतशिवस्तुतौ, ये ह्यात्मारामगुरुभिर्हृदिचिन्तिताङ्घ्रिद्वन्द्व-मिति। चतुर्थे श्रीमदष्टभुजं प्रति प्रचेतोभिरपि—वयन्तु साक्षाद्भगवन् भवस्य प्रियस्य सख्युः क्षणसङ्गमेनेति। वैष्णवस्य सतः समदर्शिनस्तु न भक्तिलाभः प्रत्यवायश्च। यथा वैष्णवतन्त्रे--न लभेयुः पुनर्भक्तिं हरेरैकान्तिकीं जड़ाः। एकाग्रमनसश्चापि विष्णुसामान्यदर्शिनः। यस्तु नारायणं देवं

उल्लेख कर रहे हैं --हे प्रभो ! सत्संग का फलानुभव हम सब प्राप्त कर रहे हैं--क्यों कि आप के प्रियतम एवं सखा शंकरजी के क्षणकाल संग प्रभाव से चिकित्सा से भी सुदुःसाध्य जन्म-मृत्यु के श्रेष्ठ चिकित्सक, परमगति आप के शरण प्राप्त हुए हैं। इत्यादि। परन्तु वैष्णव होकर यदिदोनों में समान भाव रखता है तो भक्तिलाभ नहीं है ऐसा जानना। वैष्णवतन्त्र में कहा है---यदि कोई एकाग्रचित्तवाले विष्णु में सामान्य-भाव देखते हैं तो वे जड़ हैं, वे कभी श्रीहरि की ऐकान्तिकी भक्ति का लाभ नहीं कर पावेंगे। जो ब्रह्मा-रुद्रादिदेवताओं के साथ देवदेव नारायण को समान भाव से देखता है वह निश्चय पाषण्ड माना जाता है॥ शास्त्रों में जहाँ जहाँ हरि-हर में अभेददृष्टिपरक वचन हैं वे समस्त वचन शान्तभक्त एवं ज्ञानादि पक्ष में हैं। द्वादश-स्कन्ध में मार्कण्डेय-उपाख्यान पर शिवजी का वाक्य है—हे मार्कण्डेय ! सदाचार-सम्पन्न, मात्सर्य्यादिरहित, समस्तभूतों में वात्सल्य, हम सब में अर्थात् ब्रह्मा-विष्णु-तथा शिव में एकान्त भक्तिमान, अथच निर्वैर, समदर्शी ब्राह्मण गण को लोक-पालगण के साथ चौदहभुवन के जन-समाज बन्दना करते हैं, अर्च्चन एवं उपासना करते हैं। केवल वे ही उपासना करते हैं ऐसा नहीं मैं, ब्रह्मा, तथा स्वयं भगवान् ईश्वर श्रीहरि भी उनकी बन्दना-अर्चना तथा उपासना करते हैं। क्योंकि वे मुझ में, ब्रह्माजी में तथा श्रीहरि में भेददृष्टि नहीं रखते हैं एवं अपने

ब्रह्मरुद्रादिदैवतैः । समत्वेनैव वीक्षेत स पाषाण्डी भवेद्ध्रुवमिति । अतएवाभेददृष्टिवचनं शमभक्तज्ञान्यादिपरमेव। यथा श्रीमार्कण्डेयोपाख्याने द्वादश एव श्रीशिववाक्यम्--ब्राह्मणाः साधवः शान्ता निःसङ्गा भूतवत्सलाः । एकान्तभक्ता अस्मासु निर्वैराः समदर्शिनः । सलोका लोकपालास्तान् वन्दन्त्यर्च्चन्त्युपासते । अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च

के साथ जगद्गत जन मात्र में कोई भेददृष्टि नहीं करते हैं । इस प्रकार जो आप सब हैं उन आप सब का हम स्तवन करते हैं।।यहाँ "नात्मनश्च परस्यापि तद्युष्मान् वयम महि" श्लोकचरण में "तत्" पद का अर्थ गोस्वामी चरण करते हैं---"तत् ततोऽपि तानतिक्रम्य मार्कण्डेयादीन् शुद्धवैष्णवान् वयमीमहि भजेम इत्यर्थः" अर्थात् उन समस्त पारदर्शी शास्त्रज्ञानी-भक्तों का अतिक्रमण कर शुद्धवैष्णव मार्कण्डेय प्रभृति का हम सब भजन करते रहते हैं । इत्यादि ।।(४।२४।३०)श्लोकमें श्रीशिव जी ने प्रचेतसा के प्रति कहा है—

जिस प्रकार भगवान् हमारे प्रिय हैं उस प्रकार उनके भक्त आप सब हमारे प्रिय हैं । भगवद्भक्तगण के हम से भिन्न अन्य कोई प्रिय नहीं हैं । तथा हम सब भी भगवद्भक्तगण के भिन्न अन्य किसी के प्रिय नहीं होते हैं ।। यहाँ शंकरजी के भगवत्प्रियत्व का वर्णन है । अन्यत्र भी देखा गया है-भगवान् श्रीहरि के प्रसन्न होने पर स्थावर एवं जङ्गम के साथ हम प्रसन्न होते हैं इत्यादि । मार्कण्डेयजी के शुद्धवैष्णवत्व सम्बन्ध में पहले (१२।१०।६) श्लोक में शिवजी के वचन के द्वारा उल्लेखित किया गया है कि-शंकरजी पार्वती से कह रहे हैं-हे प्रिये ! इन ब्रह्मर्षि मार्कण्डेय ने किसी स्थान में कहीं पर किसी के निकट धर्म-अर्थ-काम की प्रार्थना नहीं की ऐसा कि मोक्ष को भी नहीं माँगा । क्यों कि इन्होंने तो अव्यय पुरुष भगवान् में परा भक्ति का

हरिरीश्वरः । न ते मय्यच्युते ये च भिदामण्वपि चक्षते । नात्मनश्च परस्यापि तद्युष्मान् वयमीमहीति । तत्तत्तोऽपि तानतिक्रम्य युष्मान् मार्कण्डेयादीन् शुद्धवैष्णवान् वयमीमहि भजेमेत्यर्थः । यदुक्तं श्रीशिवेनैव प्रचेतसं प्रति—अथ भागवता यूयं प्रियाः स्थ भगवान् यथा । न मद्भागवतानाञ्च प्रेयानन्योऽस्ति कर्हिचित् । अन्यत्र—प्रीते हरौ भगवति

लाभ किया है ॥ यहाँ विशेष ज्ञात यह करना चाहिये–श्रीशिवजी जब मार्कण्डेय के हृदय में आविर्भूत हुए हैं तब उनकी समाधि भंग हो गयी थी। यदि हर एवं हरि का अभेद होता तो मार्कण्डेय की समाधि भंग क्यों होती ? उस से हरि-हर का पार्थक्य स्पष्ट ही व्यक्त हो रहा है। समाधिभङ्ग-विषय में द्वादशस्कन्ध के दशम अध्याय में उल्लेख है–मुनि मार्कण्डेयजी अपने हृदय में आविर्भूत शिवमूर्त्ति का दर्शन करके भावने लगे- यह हृदय में क्या देख रहा हूँ ? यह मूर्त्ति कहाँ से आई है ? इत्यादि। इस प्रकार चित्त चांचल्य-वश समाधि से विरत हो गये ॥ और भी (१२।१०) अध्याय में मार्कण्डेय के प्रति शिव-वाक्य से "ब्राह्मणाः साधवः शान्ताः" इत्यादि तथा "अहञ्च भगवान् ब्रह्मा स्वयञ्च हरिरीश्वरः" इत्यादि श्लोक में हरिहर में जो अभेददृष्टि उपदेश है उसमें हरि शब्द के पहले "स्वयं" इस पद का उल्लेख है। इस से हरि का प्राधान्य कहा गया है। (१।२।२४) श्लोक में श्रीहरि के स्वयं ईश्वरत्व का प्रतिपादन किया गया है कि यथा—जिस प्रकार स्वाभाविक प्रवृत्ति प्रकाश-शून्य काष्ठ से प्रवृत्ति-स्वभाव वाला धूम्र श्रेष्ठ है, उस से वेदोक्त कर्म की साक्षात् साधनभूत अग्नि श्रेष्ठ है उस प्रकार लयात्मक तमोगुण से सोपाधिक ज्ञान-हेतुक विक्षेपात्मक रजो गुण श्रेष्ठ है एवं उससे ब्रह्म दर्शन का हेतुरूप प्रकाश बहुल सत्त्व-गुण श्रेष्ठ है। उस प्रकार शिव, ब्रह्मा एवं श्रीविष्णु में से श्रीविष्णु

प्रोथेऽहं सचराचर इति च । तस्य शुद्धवैष्णवत्वञ्चोक्तमेतत्-पूर्वम्--नैवेच्छत्याशिषः क्वापि ब्रह्मर्षिर्मोक्षमप्युत । भक्तिं परां भगवति लब्धवान् पुरुषेऽव्यय इति मार्कण्डेयमुद्दिश्य श्रीशिवेन । तथा श्रीशिवस्य तच्चेतस्याविर्भावात् समाधि-विरामेण च तदेव व्यञ्जितम् । यथा--किमिदं कुत एवेति समाधेर्विरतो मुनिरिति । किञ्च ब्राह्मणाः साधव इत्यादाव-

---

हो श्रेष्ठ हैं इत्यादि । ब्रह्मपुराणमें श्रीशिवजीका वचनभी वैसा जानना। यथा-जो हमें देखने की इच्छा करता है तथा पितामह ब्रह्माजी को भी देखना चाहता है उसने प्रतापवान् भगवान् वासुदेव को दख लिया है। भगवान् के विज्ञान से सर्वविज्ञान होता है यह भावार्थ है। अतः वैष्णवज्ञान से शिवजी का भजन उचित है । कोई कोई वष्णव शिव-पूजन यदि अवश्य कर्त्तव्यरूप में उपस्थित होता है तो शिवलिङ्गाधि-ष्ठान में भगवान् श्रीहरि की पूजा करते हैं । जैसे कि श्रीविष्णुधर्मोत्तर के शेष भाग में यह इतिहास देखने में आया है-विष्वक्सेन नामक कोई एक ब्राह्मण श्रीहरि में एकान्त भक्त होकर पृथिवी में विचरण कर रहा था । वह एक समय किसी एक वन में वैठा हुआ था। वहाँ एक ग्रामाध्यक्ष पुत्रने आकर उससे पूछा तुम कौन हो ? उसने अपना नाम परिचय बतलाया। ग्रामाध्यक्ष पुत्रने उससे कहा कि-आज मेरे मस्तक में पीड़ा हो गई है,अतः अपने इष्टदेव शिवजी की पूजा नहीं कर सकता, तुम मेरे प्रतिनिधि रूप से शिवजी का पूजन करो। ग्रामाध्यक्ष पुत्र के इस प्रकार वचन सुन कर उस एकान्त भक्त विप्र ने कहा-हे युवक ! हम भगवान् के एकान्तिक भक्त करके सर्वत्र ख्यात हैं। चतुरात्मा अर्थात् वासुदेव-संकर्षण-प्रद्युम्न तथा अनिरुद्धात्मक श्रीहरि की पूजा करते हैं अथवा उन उन स्वरूपमें प्रादुर्भूत श्रीहरि की सेवा करते हैं। परन्तु अन्य किसी देवता का पूजन नहीं । अतः तुम शीघ्र ही यहाँ से

भेददृष्टिवचनेऽपि स्वयञ्च हरिरीश्वरः इत्यनेन तस्यैव प्राधान्यमुक्तम् । तस्यैव स्वयमीश्वरत्वञ्चोक्तम्--पार्थिवाद्दारुण इत्यादिना । ब्रह्मपुराणे श्रीशिववाक्यमपि तथैव--यो हि मां द्रष्टुमिच्छेत ब्रह्माणं वा पितामहम् । द्रष्टव्यस्तेन भगवान् वासुदेवः प्रतापवानिति । तद्विज्ञानेन सर्वविज्ञानादिति भावः । तदेवं वैष्णवत्वेनैव शिवभजनं युक्तम् ।

चले जाओ । तदनन्तर उसके इस प्रकार अनङ्गीकार वचन सुन कर वह ग्रामाध्यक्ष पुत्र मस्तक काटने के लिये खड्ग उठाने लगा । वह विप्र स्तब्ध होकर उस से मृत्यु न चाहता हुआ विचार करके कहने लगा अच्छा मैं जाता हूँ । वहाँ शिवलिङ्ग के पास जाकर मन में विचार करने लगा—यह रुद्र प्रलय के हेतु रूप हैं, तमो वर्द्धन के हेतु तमोभाव विशिष्ट हैं और श्रीनृसिंहदेव तामस-दैत्यगण विदारण के हेतु तमोभञ्जनकारी हैं, तमोगुण के भञ्जनार्थ ही सूर्य्य की भाँति उदय होते हैं । अतः इस रुद्राकाराधिष्ठान में उन उपासकों के तमो भञ्जन के लिये श्रीनृसिंहदेव पूजा ही करूँगा । अनन्तर "नृसिंहाय नमः" ऐसा कह कर पुष्पाञ्जलि धारण करने पर वह ग्रामाध्यक्ष पुत्र क्रोधाविष्ट होकर पुनः खड्ग उठाने लगा । उस समय अकस्मात् उस शिवलिङ्ग को फोड़ कर श्रीनृसिंहदेवजी स्वयं आविर्भूत हुए तथा सपरिकर उस ग्रामाध्यक्ष-पुत्र को मार डाला । जो कि अभी दक्षिणदेश में अति प्रसिद्ध "लिङ्गस्फोट" नामसे विराजमान हैं ।।

अतएव अनन्यभक्तगण शिवजी को वैष्णव करके मानते हैं । कोई कोई कभी कभी उन विष्णु के अधिष्ठान रूप से शिवजी की पूजा करते हैं । अतः आदिवाराह में कहा है--सहस्र जमान्तर में वृषध्वज महादेवजी की आराधना करने पर तथा समस्त पाप क्षय होने पर बुद्धिमान् जन वैष्णवत्व प्राप्त कर लेता है ।। अतएव नृसिंह–तापनी में कहा

केचित्तु वैष्णवास्ततपूजनमावश्यकत्वेनोपस्थितं चेत्तर्हि तस्मिन्नधिष्ठाने श्रीभगवन्तमपि पूजयन्ति । यथा श्रीविष्णु-धर्मोत्तरान्तिमोऽयमितिहासः । विश्वक्सेननामा कश्चिद्विप्र एकान्तभागवतः पृथिवीं विचरन्नासीत् । स कदाचिदेक एव वनान्त एव उपविष्टस्तत्राथ ग्रामाध्यक्षसुतः कश्चिदागत-स्तमुवाच कोऽसीति । ततः कृतस्वाख्यानं पुनस्तमुवाच मम

गया है—अनुपनीत शत ब्राह्मण—बालक के समान एक उपनीत ब्राह्मण बालक है। उपनीत एक सौ ब्राह्मण बालक के समान एक गृहस्थ है। एक सौ गृहीके समान एक वानप्रस्थी है। एक सौ वानप्रस्थी के समान एक संन्यासी है। एक सौ संन्यासी के समान एक रुद्रजापक है। एक सौ रुद्रजापक के समान एक अथर्ववेदान्तर्गत आङ्गिरस शाखा-अध्यापक है तथा एक सौ आङ्गिरस शाखा-अध्यापक के समान एक मन्त्रराज अध्यापक है। यहाँ मन्त्रराज शब्द का तात्पर्य्य नृसिंहमन्त्र है ॥

स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से भजन करने पर दुर्निवार भृगुशाप उपस्थित होता है। (४।२।२८-२९) श्लोक में कहा गया है—जो महादेवजी के ब्रतधारी हैं तथा उनके भक्तों के आनुगत्य में रहते हैं वे सब सच्छास्त्र के अर्थात् वेद तथा वेदानुगत शास्त्र के प्रतिकूल पाषण्डी होवें इत्यादि भृगुशाप है। यहाँ "भवब्रत" का तात्पर्य वेदविहित भवब्रत है। क्यों कि वेद-विरुद्ध भवब्रतधारी स्वतः ही पाषण्डी माने जाते हैं उनके लिये पाषण्डी होने के अभिशाप का कोई प्रयोजन नहीं रहता है। अतः स्वतन्त्र ईश्वर बुद्धि से श्रीशिवजी की उपासना में भृगुमुनि का अभि-सम्पात् दोष उपस्थित होता है यह निश्चय है। क्यों कि उस प्रसंग में भृगु ने जनार्द्दन को वेदमूलत्व करके उल्लेख किया है कि—यह वेदविहित उपाय मानवमात्र का सनातन मङ्गलमय पथ है। पूर्व-पूर्व

शिरःपीड़ाद्य जातेति निजेष्टं देवं शिवं पूजयितुं न शक्नोमीति ततो मम प्रतिनिधित्वेन त्वमेव तं पूजयेति। एतदनन्तरञ्च तत्रत्यं सार्द्धं पद्यम्—एतदुक्तः प्रत्युवाच वयमेकान्तिनः श्रुताः। चतुरात्मा हरिः पूज्यः प्रादुर्भावगतोऽथवा। पूजयामश्च नैवान्यं तस्मात्त्वं गच्छ माचिरमिति। ततस्तस्मिंस्तदनङ्गीकृतवति स खड्गमुन्नमितवान् शिरच्छे-

---

ऋषियों ने अपनी अपनी अभिष्ट-सिद्धि के लिये वेद का आश्रय किया है। जनार्द्दन ही वेद के मूल आश्रय स्वरूप हैं। अतएव अन्वयमुख से (१-२) अध्याय में "सत्त्वं रजस्तम" इत्यादि श्लोक के द्वारा विष्णु-भक्ति की दृढ़ता-प्रतिपादन किया गया है। हरिवंश में शिवजी का वचन है—हे ब्राह्मणगण! सत्त्वभाव वाले आप सब से हरि ही सर्वदा ध्येय होना चाहिये आप सब निरन्तर विष्णु-मन्त्र का जप कीजिये एवं केशव का ध्यान कीजिये। शिवभक्ति के सम्बन्ध में इस प्रकार सिद्धांन्त स्थिर होने पर तब तो वैष्णव—तन्त्रादि में अन्य देवताओं की पूजा में जो विधान है—वे सब भगवान् के बहिरंग आवरण के सेवक तथा अप्राकृत स्वरूप जानना। अथवा भगवान् के लोकसंग्रह परक नरलीला-उपयोगी पार्षदों का पूजा-विधान किया गया है। यहाँ तात्पर्य्य यह है-भगवान् जब नरजगत् में आकर तद्वत् मनुष्यलीला प्रकाश करते हैं तब उन के प्रियपार्षदगण साधारण मनुष्य की भाँति नाना-देवता को आराधना करते रहते हैं एवं वे समस्त देवतागण भगवान् की मनुष्यलीला के परिकर माने जाते हैं। श्रीयुधिष्ठिर महाराज के राजसूय-यज्ञ की भाँति भगवत्सन्तोषार्थ अनुष्ठित यज्ञादि में अन्य-देवतागण को भगवद्विभूति बुद्धि से आराधना करना कर्त्तव्य है। प्रल्हादजी ने इस का यथा पूर्वक अनुष्ठान किया है। यथा-प्रल्हादजी ने भगवत्कला मान कर प्रजापतिगण, अन्यान्यदेवता-

त्तुम् । ततश्चासौ विप्रस्तद्धस्तेन मृत्युमनभीप्सन् विचार्योक्तवान् भद्रं तत्र गच्छाम इति । गत्वा चेदं मनसि चिन्तितम् अयं रुद्रः प्रलयहेतुतया तमोवर्द्धनत्वात्तमोभावः । श्रीनृसिंहदेवश्च तामसदैत्यगणविदारकतया तमोभञ्जनकर्त्तृत्वात्तद्भञ्जनार्थमेव तत्रोदयेत सूर्य्य इव तमोराशेः । अतो रुद्राकाराधिष्ठानेऽपि तदुपासकानामेषां तद्भञ्जनकृते श्रीनृसिंहपूजा-

---

गण,ब्रह्मा एवं महादेवजी की पूजा कर मस्तक से सब की वन्दना की। युधिष्ठिर महाराज ने भी कहा है-हे गोविन्द ! निखिल-यज्ञश्रेष्ठ राजसूय यज्ञके द्वारा तुम्हारी पवित्र-कारिणी विभूतियों की आराधना करूँगा। तुम सर्वसमाधान में समर्थ हो अतः मेरी अभिलाषा पूर्ण करो इत्यादि। इस (१०।१२।३) श्लोक में युधिष्ठिर महाराज ने देवतान्तर को भगवद्विभूति रूप से अर्च्चन करने का अभिप्राय व्यक्त किया है॥ पद्मपुराण के कार्त्तिकमाहात्म्य में श्रीसत्यभामा के प्रति भगवान् ने कहा है—सौर, शैव, गाणेश, वैष्णव तथा शक्तिपूजक ये सब मुझ को प्राप्त करते हैं जिस प्रकार वर्षाकालीन जल सागर में प्रवेश करता है। एक ही मैं क्रीड़ा-पूर्वक नामों से पाँच प्रकार प्रकट होता हूँ। जिस प्रकार एक देवदत्त रामधन के बाबा, श्यामधन के पिता, कृष्णधन के भ्राता, हरिधन के पुत्र इस प्रकार बहु संज्ञा में अभिहित होता है इत्यादि। वस्तुतस्तु सब से वैष्णव श्रेष्ठ हैं। स्कन्दपुराण में ब्रह्म-नारद सम्वाद में तथा अन्यत्र प्रल्हादसंहिता में एकादशी जागरण प्रसंग पर कहा गया है---भागवत के समान न सौर हैं, न शैव हैं, न ब्राह्म हैं, न शक्तिपूजक हैं तथा न अन्यदेवता-भक्त हैं। पद्मपुराण के कार्त्तिक माहात्म्य पर सत्यभामा के निकट श्रीकृष्ण ने सर्व-उपासकों की भगवत्प्राप्ति का जो उल्लेख किया है उस से स्पष्ट ज्ञात होता है कि---उन सूर्य्यादि देवताओं की उपासना भगवत्प्रीति के लिये नहीं है परन्तु

मेवास्मिन् करिष्यामीति । अथ श्रीनृसिंहाय नम इति गृहीत-पुष्पाञ्जलौ तस्मिन् पुनः क्रोधाविष्टेन ग्रामाध्यक्षपुत्रेण खड्गः समुद्यमितः । ततश्चाकस्मात्तदेव-लिङ्गं स्फोटयित्वा श्रीनृसिंहदेवः स्वयमाविर्भूय तं ग्रामाध्यक्षपुत्रं सपरिकरं जघान । दक्षिणस्यां दिश्यतिप्रसिद्धो लिङ्गस्फोटनामा स्वयं तत्र स्थितवानिति । अतोऽनन्यभक्ताः श्रीशिवमपि वैष्णवत्वेनैव मानयन्ति । केचित् कदाचित्तदधिष्ठानत्वेनैव वा । अतएवोक्तमादिवाराहे— जन्मान्तरसहस्रेषु समाराध्य वृषध्वजम् । वैष्णवत्वं लभेद्धीमान् सर्वपापक्षये सतीति । अतएव श्रीनृसिंहशिवभक्त्योरन्तरं बृहदेव । श्रीनृसिंहतापन्यां श्रुतौ —

सूर्य्यादि देवगण की भगवत्प्रीति उद्देश्य में जो उपासना की जाती है उस से जो विशुद्धा भक्ति का आविर्भाव होता है, उस से अथवा विष्णुक्षेत्र में मरणादि-प्रभाव से भगवत्प्राप्ति की संघटना होती है । स्वतन्त्रभाव से सूर्य्यादि देवगण की उपासना से भगवत्प्राप्ति नहीं होती है एसा जानना । सूर्य्यआराधक देवशर्म्मा के तथा चन्द्रशर्म्मा के प्रस्ताव में भगवान् ने सत्यभामा के प्रति वहाँ कहा है- -हे देवि ! उस विष्णु-क्षेत्र के प्रभाव बल से धार्मिक प्रवर देवशर्म्मा एवं चन्द्रशर्म्मा नामक दो सूर्य्यभक्त हम में परम भक्ति-प्राप्त कर हमारे पार्षदों के द्वारा वैकुण्ट धाम में आनीत हुए । उन दोनों ने यावज्जीवन सूर्य्यपूजा की है उस से हमने सन्तोष-लाभ किया है । यहाँ क्षेत्रवास का तात्पर्य्य-मायापुरी निवास है । उस देवशर्म्मा तथा चन्द्रशर्म्मा ने कृष्णावतार में सत्राजित एवं अक्रूरनाम से जन्म ग्रहण किया है वह उस प्रसंग में वर्णित भी है । इस प्रकार पुण्डरीक नामक किसी भक्त की पितृसेवा से भगवत्प्राप्ति का जो उल्लेख है उसकी योजना इस प्रकार से की जाती

अनुपनीतशतमेकमेकेनोपनीतेन तत्समम् उपनीतशतमेकमेकेन गृहस्थेन तत्समं गृहस्थशतमेकमेकेन वानप्रस्थेन तत्समं बानप्रस्थशतमेकमेकेन यतिना तत्समं यतीनान्तु शतं पूर्ण-मेकेन रुद्रजापकेन शतमेकमथर्वाङ्गीरसशाखाध्यापकेन तत्-सममथर्वाङ्गीरसशाखाध्यापकशतमेकमेकेन मन्त्रराजाध्याप-केन तत्सममिति। मन्त्रराजश्च तत्र श्रीनृसिंहमन्त्र एवेति। स्वतन्त्रत्वेन भजने तु भृगुशापो दुरत्ययः। यथा चतुर्थे— भृगुः प्रत्यसृजच्छापं ब्रह्मदण्डं दुरत्ययम्। भवव्रतधरा ये च

है। अर्थात् भगवान् पिता के भीतर अन्तर्य्यामी रूप से विराजमान हैं। इस दृष्टि से पितृसेवा करने पर भगवान् का सन्तोष एवं उस से विशुद्धा भक्तिलाभ और विशुद्धाभक्ति से भगवत्प्राप्ति है। स्वतन्त्रोपा-सना से भगवत्प्राप्ति का निषेध गीतोपनिषद् में किया गया है—भग-वान् ने अर्जुन से कहा है—हे अर्जुन! जो अन्य देबताओं के भक्त श्रद्धायुक्त हृदय से उन उन देवता की उपासना करते हैं वे मेरी ही उपासना करते हैं क्यों कि वे सब देवता मेरी विभूत्ति स्वरूप हैं अथवा उन सब देवताओं में मैं अन्तर्य्यामी रूप से विराजमान हूँ। परन्तु जिस प्रकार उपासना करने पर मोक्षलाभ है उस प्रकार से नहीं करते हैं। वे अविधि पूर्वक उपासना करते हैं अर्थात् स्वतन्त्र रूप से उन की उपासना मानी जाती है॥ स्वतन्त्र रूप से देवता-उपासना करने पर धर्म-अर्थ एवं काम यह त्रिवर्ग लाभ होता है परन्तु मुक्तिलाभ नहीं। श्रीधरस्वामी ने "अविधि-पूर्वकं यजन्ति" यहाँ "मोक्ष-प्रापकं विधिं विना" अर्थात् मोक्ष प्रापक विधि के विना यजन करते है ऐसा कहा है। मेरी उपासना से मुक्ति लाभ होता है अन्य किसी से नहीं, इस का कारण-हम समस्त यज्ञ के भोक्ता हैं, कर्म्मफलों के दाता हैं एवं कर्म प्रवृत्ति के नियामक हैं। वे देवतान्तर-उपासकगण यथा रूप से हमें

ये च तान् समनुव्रताः । पाषण्डिनस्ते भवन्तु सच्छास्त्रपरिपन्थिन इत्यादि । वेदविहितमेवात्र भवव्रतमनूद्यते । अन्यविहितत्वे पाषण्डित्वविधानायोगः स्यात्, पूर्वत एव पाषण्डित्वसिद्धेः । तस्मात् स्वतन्त्रत्वेनैवोपासनायामयं दोषः । यतश्च तत्रैव तेन श्रीजनार्द्दनस्यैव वेदमूलत्वमुक्तम्— एष एव हि लोकानां शिवः पन्थाः सनातनः । यं पूर्वे चानुसंतस्थुर्यत्प्रमाणं जनार्द्दन इति । एष वेदलक्षणो यत्प्रमाणं यत्र मूलमित्यर्थः । अतएवान्वयेनापि श्रीविष्णुभक्तिर्दृढीकृता

न जानने के कारण परमार्थ से भ्रष्ट होते हैं। देवताओं के उपासक देवलोक में, पितृपुरुषों के उपासक पितृलोक में एवं भूतों के उपासक प्रेतलोक में गमन करते हैं और जो हमारी उपासना करते हैं वे हम को ही प्राप्त करते हैं। यहाँ स्वतन्त्ररूप से देवतान्तर उपासना करने पर भगवत्प्राप्ति नहीं है यह स्पष्टतया बतलाया गया है। भगवान् के ये सब प्रिय हैं इस प्रकार से देवतान्तर-उपासना में किसी किसी विषय में गुण होता है परन्तु देवतान्तर की अवज्ञा में दोष माना जावेगा। इस अभिप्राय से (११।३) अध्याय में "भगवत्प्रतिपादक शास्त्रों में श्रद्धा रखें एवं अन्य शास्त्र की निन्दा न करें" ऐसा कहा गया है। प्रबुद्ध-योगीन्द्र ने भी कहा है—श्रीविष्णु में आदर विशेष रखें परन्तु देवतान्तर की निन्दा न करें। पद्मपुराण में कहा है–समस्त देवगण के ईश्वर ब्रह्मा तथा शिवजी के भी आराध्य, श्रीहरि की सर्वदा आराधना करें परन्तु कभी ब्रह्म-रुद्रादि देवतान्तर की अवज्ञा न करें। गौतमीयतन्त्र में भी कहा गया है—जो गोपालदेव की पूजा करता है परन्तु अन्य देवता की अवज्ञा करता है उसकी परधर्म की बात दूर रही समस्त पूर्वधर्म भी नष्ट हो जाते हैं।

श्रीमद्भागवत के (६।८।१७) श्लोक में नारायण-वर्म्म में कहा

सत्त्वं रजस्तम इत्यादिना । तथा श्रीहरिवंशे शिववाक्यमेव-हरिरेव सदा ध्येयो भवद्भिः सत्त्वसंस्थितैः । विष्णुमन्त्र सदा विप्राः पठध्व ध्यातकेशवमिति । तस्माच्छ्रीशिवभवतेरप्ये-वम्भूते स्थिते पराणामपि देवतानां वैष्णवागमादौ तद्बहि-रङ्गावरणसेवकत्वेनाप्राकृतानामेव पूजाविधानं श्रीभगवल्लोक-संग्रहपराणां तल्लीलौपयिकनरलीलापार्षदानां वा भगवत्-प्रीणनयज्ञादौ तु श्रीयुधिष्ठिरराजसूयवत् अन्यासामपि तद्वि-भूतित्वेनैवेति ज्ञेयम् । यथानुष्ठितं श्रीप्रह्लादेन— ततः संपूज्य

गया है–भगवान् हयग्रीव मार्ग में देवतान्तर की अवहेला से हमें रक्षा करें। इस प्रकार से देवतान्तर निन्दा जनित प्रायश्चित्त का उल्लेख है। विष्णुधर्म में एक इतिहास है कि—पहले श्रीअम्बरीष महाराज-ने बहु दिवस तक भगवदाराधनरूप तपस्या का अनुष्ठान किया। अन्त में भगवान् इन्द्ररूप में अवतीर्ण होकर ऐरावतरूपी गरुड-पर आरोहण पूर्वक उन्हें वर देने को कहा। उन्होंने इन्द्र-मूर्त्ति को देखकर नमस्कारादि के द्वारा यथेष्ट आदर किया परन्तु उन से वर लेने को अस्वीकार कर दिया कि हमारे आराध्यदेव भगवान् श्रीकृष्ण हमें वर देंगे। हमारे वर-दाता अन्य कोई नहीं है। अर्थात् अन्य किसी से वर हम नहीं लेंगे। तब इन्द्ररूपी श्रीकृष्णने कहा-तुम्हारे आराध्यदेव श्रीकृष्ण जो वर दे सकते हैं हम उसी को देंगे। उस पर भी महाराज वर-ग्रहण की इच्छा प्रकट न करने से इन्द्ररूपी भगवान् कोपाभिनय कर उन के मस्तक पर वज्र-निक्षेप के लिये समुदयत हुए। उस पर भी जब महाराज ने वर ग्रहण का अङ्गीकार नहीं किया तब इन्द्र-रूपी श्रीकृष्ण उन की भक्ति की गाढ़निष्ठा को देखकर अत्यन्त प्रसन्न हुए एवं इन्द्ररूप का त्यागकर अपने स्वरूप को प्रगट कर यथेष्ट अनुग्रह करने लगे। इत्यादि । यदयपि देवतान्तर की निन्दा दोषावह

शिरसा ववन्दे परमेष्ठिनम् । भवं प्रजापतीन् देवान् प्रह्लादो भगवत्कला इति । तदुक्तं श्रीयुधिष्ठिरेणैव—क्रतुराजेन गोविन्द राजसूयेन पावनीः । यक्षे विभूतीर्भवतस्तत् सम्पादय नः प्रभो इति । पाद्मे कार्त्तिकमाहात्म्ये श्रीसत्यभामां प्रति श्रीभगवता—सौराश्च शैवा गाणेशा वैष्णवाः शक्तिपूजकाः । मामेव प्राप्नुवन्तीह वर्षापः सागरं यथा । एकोऽहं पञ्चधा जातः क्रीड़या नामभिः किल । देवदत्तो यथा कश्चित् पुत्रादिजननामभिरिति । वस्तुतस्तु सर्व्वापेक्षया श्रीवैष्णवा

है तो भी उन में शिवजी की अवज्ञा महान् दोष मानी जाती है । चतुर्थस्कन्ध (२।४) में शिवप्रिय नन्दीश्वर के शिवावमाननकारी के प्रति अभिशाप यह है कि— जो शिवनिन्दाकारी दक्ष-प्रजापति अनुगत होंगे वे सब जन्म-मरणादि दुःखपूर्ण संसार प्राप्त करेंगे । यह अभिसम्पात् यत्किञ्चित् अर्थात् सामान्य है । शिवजी महाभागवत हैं अतः उनकी निन्दा महान् दोष है ऐसा कि दश नामापराध में वह दोष परिगणित होता है । चतुर्थस्कन्ध में ध्रुवचरित-प्रसंग में (११।३३) हे वत्स ! तुम ने महादेवजी के सखा कुबेर की प्रचुर अवज्ञा की है । भ्रातृहत्याकारी बोध से बहुत यक्षों का विनाश किया है । इस प्रकार स्वायम्भुव मनु के द्वारा कहे जाने पर ध्रुवजी ने कुबेर के निकट अपराध-क्षमा प्रार्थना की एवं बार बार कुवेर से भगवद्भक्ति-वर की याचञा की । यहाँ तात्पर्य यह है कि—कुबेरजी महाभागवत महादेवजी के बन्धु होने के कारण भागवत माने जाते हैं । उनके निकट अपराध वैष्णवापराध करके गिना जावेगा । अतः ध्रुवमहाराज अति विनीत भाव से बार बार भक्ति के साथ उन से क्षमा-प्रार्थना करने लगे ॥ इसी अभिप्राय को लेकर भगवान्ने कहा है—जो एकान्त-भाव से मेरी पूजा करता है अथच महादेव की निन्दा करता है वह

एव श्रेष्ठाः। तदुक्तं स्कान्दे ब्रह्मनारदसंवादे तत्रैवान्यत्र प्रह्लादसंहितायामेकादशीजागरणप्रसङ्गे च—न सौरो न च शैवो वा न ब्राह्मो न च शाक्तिकः। न चान्यदेवताभक्तो भवेद्भागवतोपम इति। तादृशसौरादीनां तत्प्राप्तिश्च न केवलं तद्धेतुकैव किन्तु भगवत्प्रीत्यर्थकृततज्जातशुद्धभक्ति-द्वारा वा श्रीविष्णुक्षेत्रमरणादिप्रभावेण वा यथा तत्रैव वर्णितयोर्देवशर्म्मचन्द्रशर्म्मनाम्नोः सूर्यमाराधयतोः। तदुक्तं श्रीभगवता—तत्क्षेत्रस्य प्रभावेण धर्म्मशीलतया पुनः।

निश्चय नरकगामी है। भागवत के चित्रकेतु चरित में भी ऐसा देखा गया है। कपिलदेव ने साधारण प्राणी का अवमान करने की निन्दा बतलाई है। महाभागवतोत्तम शिवजी के बारे में कहना ही क्या है। (३।२६।२१) श्लोक में कपिलदेवजी ने कहा है—मैं सर्वभूतों में सर्वदा अवस्थित हूँ। अतः मेरी अवज्ञा करके जो प्रतिमा में अर्चना करता है उसकी विडम्बना मानी जाती है। यहाँ "भूतेषु" शब्द से वक्ष्यमाणरीति के अनुसार अप्राणभूत जीवसे आरम्भकर ऐकान्तिक भगवद्भक्त पर्य्यन्त जानना। अर्थात् अप्राणीजीव से लेकर भगवद्भक्त तक किसी की अवज्ञा करने पर मेरी अवज्ञा होती है क्यों कि उन सब में अन्तर्यामी रूप से मैं विद्यमान हूँ। इस प्रकार मेरी अवज्ञा करता हुआ जो मेरी प्रतिमा की अर्चना करता है उस की प्रतिमा-अर्चना में विड़म्बना होती है अर्थात् प्रतिमा की ही अवज्ञा होती है। (३।२६।२२)श्लोक में कपिल-देवजी ने कहा है—जो सर्वभूतों में अन्तर्यामीरूप से अवस्थित मुझ ईश्वर का त्याग कर साक्षात् भगवद्बुद्धि अभाव से शिलामयी अथवा काष्ठमयी प्रतिमा की अर्चना करता है वह मूर्ख है वह तो भस्म में आहुति देता है। यहाँ अभिप्राय यह है—सर्वभूत में अन्तर्यामी-रूप से विद्यमान मुझ परमेश्वर के साथ प्रतिमा में एकत्र भावना

वैकुण्ठभवनं नीतौ मत्परौ मत्समीपगैः । यावज्जीवन्तु यत्ताभ्यां सूर्य्यपूजादिकं कृतम् । तेनाहं कर्म्मणा ताभ्यां सुप्रीतो ह्यभवं किलेति । तत्क्षेत्रं मायापुरी । तौ च कृष्णावतारे सत्राजिदक्रूराख्यौ जाताविति च तत्र प्रसिद्धिः । एवं पुण्डरीकस्य पितृसेवया तत्प्राप्तिश्च योजनीया । स्वतन्त्रोपासनायां तत्प्राप्तिः श्रीगीतोपनिषत्स्वेव निषिद्धा । येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् । अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव

न कर जो प्रतिमा-भजन करता है वह तत्त्व-अनभिज्ञ है वह केवल लोकरीतिदृष्टि से प्रतिमा में जलादि अर्पण करता है । अग्निपुराण में महाराज दशरथ के द्वारा मृगभ्रम से अन्धमुनि के पुत्र सिद्धमुनि के मारण प्रसंग में अन्धमुनि का विलाप इस प्रकार था यथा—क्या मैं ने पहले कभी श्रीहरि की प्रतिमा में शिलाबुद्धि की है ? अथवा मार्ग में मिले किसी विष्णुभक्त का जो हरिनामाक्षर-शंखचक्रादि चिन्हों से चिन्हित है उस का मन में अनादर किया है । जिस कर्मविपाक से आज इस प्रकार यह पुत्रशोक उपस्थित हो रहा है ।। शास्त्र में कहा गया है कि---जिस की सेवित विष्णुप्रतिमा में शिलाबुद्धि,गुरु में साधारण मनुष्यबुद्धि, वैष्णवजन में जातिबुद्धि, विष्णु अथवा वैष्णवजनों के कलिमलमथनकारी चरणामृत में साधारण जल-बुद्धि, परम पवित्र समस्त पापहारी भगवन्नाम एवं मन्त्र में साधारण शब्द-बुद्धि, ब्रह्माशिवादि से आराधित श्रीविष्णु में देवता सामान्य बुद्धि है वह निश्चय नारकी है ।। इत्यादि । उस मूर्ख की भगवत्प्रतिमा में भगवद्दृष्टि न रहने के कारण सर्वभूतों में अवज्ञा सम्भावित होती है अतः उस दोष से भस्म में आहुति प्रदान की भाँति कोई फल लाभ नहीं है ।। भगवद्गीता में सप्तदश अध्याय में कहा है---हे कृष्ण ! जो शास्त्रविधि का

च । न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते । यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः । भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि मामिति । तस्मात् तदीयत्वेनोपासनायां क्वचिद्गुणोऽपि भवति । अवज्ञादौ तु दोषः, श्रद्धां भागवते शास्त्रे अनिन्दान्यत्र चापि हीतिवत् । यथा पाद्मे—हरिरेव सदाराध्यः सर्वदेवेश्वरेश्वरः । इतरे ब्रह्मरुद्राद्या नावज्ञेया कदाचनेति । गतिमीये च— गोपालं पुजयेद् यस्तु निन्दयेदन्यदेवताम् । अस्तु तावत् परो धर्म्मः पूर्वधर्मोऽपि नश्यतीति । अतएव, हयशीर्षा मां पथि देवहेलनादिति श्रीनारायणवर्म्मणि तदागःप्रायश्चित्तम् । विष्णु-

---

त्याग कर लौकिक श्रद्धायुक्त हृदय से उपासना करते हैं उन की वह निष्ठा सात्त्विकी है ? अथवा राजसी है ? किम्बा तामसी है ? इत्यादि रीति से लोक परम्परानुसार से यदि प्रतिमापूजा में किञ्चित् श्रद्धा रहती है तो वह कनिष्ट भागवतलक्षण में पर्यवसित होती है । क्यों कि श्रीमद्भागवत के (११।२) अध्याय में कहा गया हे--जो हरिसन्तोषार्थ श्रद्धायुक्त होकर प्रतिमा की पूजा करता है अथच भगवद्भक्तगण में किम्बा साधारणजीव समूह में सम्मान व आदरबुद्धि नहीं रखता है वह प्राकृत भक्त माना जावेगा ।।

यहाँ श्रद्धा से लौकिकी श्रद्धा जानना । यद्यपि यथा कथञ्चित् भजन से फलप्राप्ति अवश्य है तो भी सर्वभूतों में आदरबुद्धि न रहने से सत्त्वर फललाभ नहीं है । (३।२९।२५) श्लोक में भगवान् कपिलदेव ने कहा है-जब तक सर्वभूतों में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझ परमेश्वर का अनुभव नहीं हो तब तक निजवर्णाश्रम उचित धर्म्माविरोध से प्रतिमा में ही मेरी अर्चना करें । इस बचन से प्रतिमा पूजा का साफल्य

धर्म्मे चायमितिहासः—पूर्वं श्रीमदम्बरीषो बहुदिनं भगवदाराधनं तपोऽनुष्ठितवान्। तदन्ते च भगवानेवेन्द्ररूपेणैरावतीकृतं गरुड़मारुह्य तं वरेण च्छन्दयामास। स चेन्द्ररूपं दृष्ट्वा तं नमस्कारादिभिः आदृत्यापि तस्माद्वरं नेष्टवान् उक्तवांश्च ममाराध्याकारो यः स एव मम वरदाता भवेन्नान्य इति। अथ तद्देयं वरमहमेव दास्यामीति पुनरुक्तवत्यपीन्द्रं तं नेष्टवन्तं तं प्रति स वज्रं समुद्यतवान्। तदपि तं वरं नाङ्गीकृतवति तस्मिन् सुप्रसन्नो भूत्वा तद्रूपमन्तर्द्धाप्य स्व-

---

बतलाया गया है। अवज्ञामात्र से यदि इस प्रकार दोष होता है तो सर्वभूतों में द्वेष का कहना ही क्या है। (३।२६।२३) श्लोक में भगवान् कपिलदेव का वचन है—जो सर्वभूतों में अन्तर्यामि रूप से विराजमान मुझ में एकत्वदृष्टि न कर अभिमान से प्राणीगण के प्रति शत्रुभाव रखता है वह कभी शान्तिलाभ नहीं कर सकता है। इस उक्ती का अनुरूप महाभारत में कहा गया है—पुत्र के प्रति करुण-पिता की भाँति जो व्यक्ति किसी को उद्वेग नहीं करता है तो उस पवित्र हृदय भक्त के प्रति भगवान् हृषीकेश अतिसत्वर प्रसन्न होते हैं।।

(३।२६।२४) श्लोक में कपिलदेवजी ने और भी कहा है—हे पवित्र स्नेहमयी जननी! प्रचुर गुण सम्पन्न राशि राशि द्रव्यों से प्रतिमा में अर्चित होकर भी प्राणीमात्र के निन्दाकारी के प्रति किसी भी प्रकार मैं प्रसन्न नहीं होता हूँ। इस निन्दा को द्वेष समझना चाहिये। जैसे कि कहा है—मर्म्मभेदी राशि राशि बाणों से विद्ध होकर मनुष्य उस प्रकार सन्तप्त नहीं होता है कि जिस प्रकार दुष्टजन के मर्म विदारक रुक्ष—वाक्यरूप वाणों से विद्ध होकर सन्तप्त होता है। इस (११।२३।३) श्लोकस्थ भगवदुक्ति के अनुसार द्वेष से निन्दा का दुःखाधिक्य सिद्ध

रूपमाविर्भावयन्ननुजग्राहेति । तत्र च शिवावज्ञादौ महान् एव दोषः । यथा चतुर्थ एव नन्दीश्वरशापः—संसरन्त्विह ये चामुमनु शर्वावमानिनमिति । इदमपि यत्किञ्चिदेव, श्रीशिवस्य महाभागवतत्वेन दोषस्य स्वयमेव सिद्धत्वात् । हेलनं गिरिशभ्रातुर्धनदस्य त्वया कृतमिति स्वायम्भुवोक्त-रीत्या नूनं यत्सख्यमनुस्मृत्यैव कुवेरादपि श्रीध्रुवेण भग-वद्भक्तिस्वभावकृतसर्वविषयकविनयपुनःपुनर्भक्त्यभिलाषाभ्यां युक्तेन सता कृतं भगवद्भक्तिवरप्रार्थनमिति चतुर्थाभिप्रायः ।

होता है । अतः इस उक्ति में द्वेष उल्लेख के बाद निन्दा-प्रसंग का जो उल्लेख है उस में क्रमभङ्ग दोष नहीं है । यहाँ अभिप्राय यह है—सर्वत्र ईश्वर बुद्धि न रहने के कारण भक्ति में अश्रद्धावान जन के पक्षमें सर्वभूत में आदर रहित भाव से भगवत्प्रतिमा पूजा में दोष का उल्लेख किया गया । अनन्तर भक्ति में श्रद्धा आविर्भाव के कारण-रूप सर्वत्र ईश्वर-बुद्धि से स्वधर्म परायण होकर भगवत्प्रतिमा-पूजा के उपदेश के लिये सर्वत्र अनादरबुद्धि से भगवत्प्रतिमा-अर्चना की अव्यर्थता बतलाई गई । अर्थात् वर्ण एवं आश्रमोचित धर्म के प्रतिपालन पूर्वक भगवत्प्र-तिमा की पूजा करते करते क्रम से भक्ति में श्रद्धा एवं सर्वत्र भगवत्सत्ता की उपलब्धि होती है इस अभिप्राय से "अर्च्चादावर्च्चयेत् तावदीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत्" इस प्रकार उल्लेख किया गया है । यहाँ भक्तिपक्ष में अजातश्रद्ध भक्त का शुद्धा-भक्ति में अधिकार नहीं है इसलिये वर्णाश्रम धर्म आचार सम्बलित होकर प्रतिमा-अर्चना का उपदेश किया गया है । इस अभिप्राय से जो मेरी कथादि में जातश्रद्ध है एवं सर्वकर्म्मानु-ष्ठान में दोषदृष्टि से अलंप्रवृत्ति प्राप्त है, अथच निखिलभोग का दुःखरूप जान कर भी त्याग करने में असमर्थ है वह प्रीतियुक्त मानस से श्रद्धालु एवं दृढ़ निश्चय होकर एक मात्र मेरा भजन करे ऐसा कहा गया है ॥

अत एवोक्तम् —यो मां समर्च्चयेन्नित्यमेकान्तं भावमाश्रितः। विनिन्दन् देवमीशानं स याति नरकं ध्रुवमिति। दृष्टश्च तथा चित्रकेतुचरिते। श्रीकपिलदेवेन साधारणानामपि प्राणिनामवमानादिकं निन्दितं, किमुत तद्विधानाम्। [तथाहि— अहं सर्वेषु भूतेषु भूतात्मावस्थितः सदा। तमवज्ञाय मां मर्त्यः कुरुतेऽर्च्चाविडम्बनम्॥ भूतेषु वक्ष्यमाणरीत्या अप्राण-भृज्जीवमारभ्य भगवदर्पितात्मजोवपर्य्यन्तेषु। भूतात्मा तदन्तर्य्यामी। तं मामवज्ञाय। तेषामवज्ञया तदधिष्ठानकस्य ममैवावज्ञां

अतः "सर्वभूतों में भगवान् की सत्ता उपलब्धि के बाद श्रद्धावान् भक्त स्वधर्म्माचार युक्त होकर प्रतिमा-अर्चन करें परन्तु वर्ण एवं आश्रम धर्म परित्याग करके अर्चनादि भक्ति अंग का अनुष्ठान न करें" यह अभिप्राय कपिलदेव की उक्ति से व्यक्त हो रहा है—"तावत्कर्म्माणि कुर्व्वीत" इत्यादि श्लोक से। अर्थात् जब तक भक्त का हमारे कथादि में श्रद्धा का उदय नहीं होता है—एवं ज्ञानी की जब तक ऐहिक पारलौकिक सुखभोग से वितृष्णा नहीं हो जाती है तब तक भक्त एवं ज्ञानी दोनों कर्म्माचरण करें इत्यादि। परन्तु किसी अवस्था में प्रतिमा-पूजा का त्याग नहीं करना चाहिये। क्यों कि—"चाहे प्राण-त्याग अथवा मस्तकछेदन का अंगीकार करलें परन्तु जब तक जीवित रहें तब तक प्रतिष्ठित श्रीमूर्तिपूजा का त्याग न करें" इस हयशीर्ष-पञ्चरात्रोक्त प्रमाण से विरोध आ पड़ता है। अतः प्रतिमापूजा का कभी परित्याग न करें॥

अनन्तर स्वधर्म--अनुष्ठान पूर्वक प्रतिमा-पूजा करते हुए भी यदि सर्वभूतों में दया का उदय नहीं है तो उस पूजा में सिद्धिलाभ नहीं होता है इस बात कोकलिदेव ने (३।२९।२१) श्लोकमें कहा है—जो

कृत्वेत्यर्थः। ततस्तां कृत्वा योऽर्च्चां मत्प्रतिमां कुरुते स तद्विड़म्बनं तस्या अवज्ञामेव कुरुत इत्यर्थः] [यतः, यो मां सर्वेषु भूतेषु सन्तमात्मानमीश्वरम्। हित्वार्च्चां भजते मौढ्याद्भस्मन्येव जुहोति सः। मौढ्यात् शैली दारुमयी वा काचित् प्रतिमेयमिति मूढ़बुद्धित्वात् यः सर्वेषु भूतेषु वर्त्तमानं परमात्मानमीश्वरं मां हित्वा तथा मयैक्यमविभाव्य अर्च्चां मदीयां प्रतिमां भजते केवललोकरीतिदृष्ट्या तस्यै जलादिकम र्पयति] यथाग्निपुराणे दशरथमारितपुत्रस्य तपस्विनो विलापे-

---

निज–पर भेद रखता है अथच सर्वभूतों में विदद्यमान मैं हूँ इस प्रकार दृष्टि नहीं करता है, अतः अन्य की क्षुधा-पिपासा को देखकर भी केवल अपने उदर भरण में तत्पर रहता है उस भेददृष्टिवाले मानव के प्रति मैं मृत्युस्वरूप से भी उत्कट भयविधान करता रहता हूँ॥ पुनः कपिलदेव ने कहा है—सर्वभूत में अन्तर्यामी रूप से अवस्थित मुझ भगवान् में यथायुक्त यथाशक्ति दान करें। दानमें असमर्थ होने पर केवल मित्रभाव से अभिन्नदृष्टि में सर्वप्राणियों का सम्मान करें। यहाँ अथ शब्द हेत्वर्थ-वाची है। ऋषियों के प्रति वैकुण्ठदेव की इस प्रकार उक्ति है कि-घोर पाप से नष्टबुद्धि, सर्प की भाँति कोपन स्वभाव वाले जो हमारे अधिष्ठान स्वरूप ब्राह्मणगण को एव विष्णुमूर्ति सूर्य से समुत्पन्न धेनु-गण को एवं निराश्रय प्राणी-वृन्द को भेद दृष्टि से देखते हैं उन को पापीगण के दण्डकर्त्ता यम के गृध्रतुल्य-किंकरगण क्रोधावेश से चक्षु द्वारा भयानक आघात करते हैं। इत्यादि प्रमाण से भगवदधिष्ठानबोध से ब्राह्मण-गौ-निराश्रय प्राणीमात्र के अनादरकारी के गुरुतर अपराधजनित यमदण्ड का विधान वर्णित है। अथवा भगवान् कपिलदेव से कहे हुए "मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा" यहाँ पर भिन्न-चक्षु से सम्मान करें अर्थात्-अन्यत्र जिस भाव से दृष्टि की जाती है

शिलाबुद्धि कृता किम्वा प्रतिमायां हरेर्म्मया । किं मया पथि दृष्टस्य विष्णुभक्तस्य कर्हिचित् । तन्मुद्राङ्कितदेहस्य चेतसा नादरः कृतः । येन कर्म्मविपाकेन पुत्रशोको ममेदृश इति । यथा चोक्तम्—"अर्च्चे विष्णौ शिलाधीर्गुरुषु नरमतिर्वैष्णवे जातिबुद्धिर्विष्णोर्वा वैष्णवानां कलिमलमथने पादतीर्थेऽम्बुबुद्धिः । शुद्धे तन्नाम्नि मन्त्रे सकलकलुषहे शब्दसामान्यबुद्धिर्विष्णौ सर्वेश्वरेशे तदितरसमधीर्यस्य वै नारकी सः" इति । तस्य च मूढ़स्य मद्दृष्टयभावात् सर्वभूतावज्ञापि

उस से अतिविलक्षण सर्वोत्कृष्ट सम्मान दृष्टि से पूजा करें इस प्रकार जानना। वहाँ समस्त प्राणियों के सम्बन्ध में साधारण भाव से अर्चन का उपदेश है। अतः उन प्राणियों में जिस का जैसा वैशिष्टय है उसे भगवान् कपिलदेवजी कहते हैं यथा---अचेतन पदार्थ से सचेतन पदार्थ श्रेष्ठ है, उस से बोधशक्तिवाला श्रेष्ठ है, उस से इन्द्रिय—वृत्ति-युक्त श्रेष्ठ है, उस से स्पर्शवेदी श्रेष्ठ है, उस से रसज्ञ श्रेष्ठ है, रसज्ञ से शब्दज्ञ एवं शब्दज्ञ से रूपभेदज्ञ श्रेष्ठ है। रूपभेदज्ञ से मुख के नीचे एवं ऊपर दन्त वाला श्रेष्ठ है। उन में से बहुपद, बहुपद से चतुष्पद, उन में से द्विपद मनुष्य श्रेष्ठ है। मनुष्यों में ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य तथा शूद्र ये चार वर्ण श्रेष्ठ हैं। उन में ब्राह्मण श्रेष्ठ है। ब्राह्मणों में वेदज्ञ श्रेष्ठ है। वेदज्ञ से वेद-तात्पर्य–वेत्ता अधिक श्रेष्ठ है। उस से संशयच्छेता श्रेष्ठ है। उस से स्वधर्म आचरणशील श्रेष्ठ है। उस से निष्काम भाव से धर्म्म आचरणशील मुक्तसंगी श्रेष्ठ है। उस से ज्ञानादि साधन में आदर न रख कर अशेष क्रिया एवं क्रिया-फल को मुझ में अर्पण करने वाला भक्त श्रेष्ठ है। हे जननी! मुझ में सर्वप्रकार से आत्मसमर्पण करके निज देह के भरण पोषणादि में चिन्ता न रख कर सर्वदा भगवदधीन भावना से अन्य किसी कर्म

भवति । ततस्तद्दोषेण भस्मनि यथा जुहोति कश्चित्, तथा तस्याश्रद्दधानस्य फलाभाव इत्यर्थः । ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः । इत्याद्युक्तरीत्या लोकपरम्परामात्र-जातयत्किञ्चिच्छ्रद्धा सद्भावे तु कनिष्ठभागवतत्वमेव । अर्च्चा-यामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेऽहते । न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृत इत्युक्तेः । यद्यपि यथाकथञ्चिद्भजन-स्यैवावश्यं फलावसानतास्त्येव तथापि झटिति न भवती-त्येव । तथोक्तं वक्ष्यते च साफल्यम्— अर्च्चादावर्च्चयेत्ताव-

---

को न कर एक मात्र मुझ भगवान् में भक्ति करता है एवं सर्वभूतों में भगवदधिष्ठान बोध से अपने मन की हितकामना करता है, मैं उस भक्त से कोई श्रेष्ठ नहीं देखता हूँ ।। यहाँ पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर में एक एक गुण की अधिकता होने के कारण पूर्व पूर्व से उत्तर उत्तर का आधिक्य जानना । धर्ममदोग्धा का अर्थ निष्काम कर्म है । निरन्तर का अर्थ ज्ञानादि अव्यवहित भक्ति है । अकर्त्तु का तात्पर्य अर्पितात्म होने के कारण स्वभरणादि कर्म में अपेक्षा न करना है । भगवान् में जो भक्ति की जाती है उस में अपने को भगवदधीन जान कर अभिमान-शून्यता है । "समदर्शनात्" का तात्पर्य भगवदधिष्ठान समता से आत्म-वत् पर प्राणियों में हितकामना रखना है । "जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवा-नाम्" इत्यादि वचनों से भेद विवक्षित हो रहा है । इस प्रमाण से देहधारी जीवगणों में ज्ञान-विकाश के अनुसार उत्तम-कनिष्ठादि भेद प्रदर्शन कपिलदेव का अभिप्राय है । समस्त प्राणियों से हमारे भक्तगण में बहुल आदर प्रदान अवश्य कर्त्तव्य है तथा अन्य प्राणियों में यथा योग्य-यथाशक्ति आदर प्रदान कपिलदेव का अभिप्राय है । कपिलदेव-ने कहा है–भगवान् ईश्वर सर्वभूतों में जीव नियामक रूप से प्रविष्ट हैं। अतः समस्त प्राणियों को बहु सम्मान के साथ मन से प्रणाम करें।

दित्यादिना । अवज्ञामात्रस्य तादृशत्वे सुतरान्तु—[द्विषतः परकाये मां मानिनो भिन्नदर्शिनः । भूतेषु बद्धवैरस्य न मनः शान्तिमृच्छति । भिन्नदर्शिनः सर्वत्रान्तर्य्याम्येकदृष्टिरहितस्य अ एव मानिनः अत एव बद्धवैरस्य च । तथा च महा-भारते—पितेव पुत्रं करुणो नोद्वेजयति यो जनम् । विशुद्धस्य हृषीकेशस्तस्य तूर्णं प्रसीदतीति । विश्व—अह-मुच्चावचैर्द्रव्यैः क्रिययोत्पन्नयानघे । नैव तुष्येऽर्चितोऽर्च्चायां भूतग्रामावमानिनः । अवमानिनो निन्दाकर्त्तुः । निन्दापि द्वेषसमा । किम्बा, न तथा तप्यते बिद्धः पुमान् वाणैर्हि मर्म्मगैः । यथा तुदन्ति मर्म्मस्था असतां परुषेषवः । इत्यु-

---

इत्यादि ।"जीवकलया" का अर्थ उस उस कल्पना के द्वारा, उस के अन्तर्यामी रूप से यह तात्पर्यार्थ है । यहाँ यह निर्द्धारित होता है कि–प्रथमउपासना में प्रवृत्त साधक के पक्ष में सर्वभूतों में आदर विधान किया गया । ओर साधु-शास्त्र-तथा गुरुवचन में श्रद्धायुक्त साधकों के सर्वत्र भगवद्वैभव-स्फूर्त्ति होने के कारण स्वतः ही सर्वभूतादर होता है ।।

स्कन्धपुराण में व्याध के प्रति पर्वत-मुनि का वचन यथा—हे व्याध ! तुम्हारें अहिंसा आदि ये समस्तगुण जो प्रकटित हुए हैं उस में कोई आश्चर्य नहीं है । क्यों कि हरिभक्ति में प्रवृत्त जन दूसरे को उद्वेग नहीं देते हैं ।। इस प्रमाण से हरिभक्ति में प्रवृत्त व्याध की सर्वत्र भगवद्स्फूर्त्ति दिखलाई गई है । इस वक्ष्यमाण रीति के अनुसार विशुद्ध बन्धुत्वादि भावयुक्त साधकों के बन्धु–भावसिद्ध गोकुलवासी नित्य परिकरों के अनुसरण के हेतु एवं सर्वत्र बन्धुभावोचित भगवद् गुणों के अनुसरण के हेतु सर्वत्र सर्वजीव में प्रियता बुद्धि, स्वभावतः

क्तरीत्या ततोऽधिकेति नायं व्युत्क्रमः इत्यभिप्रेत्य न द्वेषात् पूर्वमसौ पठिता। तदेवमीश्वरज्ञानाभावात् भक्तावश्रद्दधानस्य दोष उक्तः। अथ तच्छ्रद्धाहेतुतज्ज्ञानस्य स्वधर्म्मसंयुक्तं तदर्च्चनमेव कारणमुपदिशन् तादृशार्च्चनस्याप्यव्यर्थतामङ्गीकरोति। अर्च्चादावर्च्चयेत्तावदीश्वरं मां स्वकर्म्मकृत्। यावन्न वेद स्वहृदि सर्वभूतेष्ववस्थितम् ॥ तावदेव स्वकर्म्मकृत् सन् अर्च्चादावर्च्चयेत् यावत् सर्वभूतेष्ववस्थितं ईश्वरं मां न वेद न जानाति। अत्र स्वकर्म्मसहायत्वमजातश्रद्धस्य शुद्धभक्तावनधिकारात्। ततः प्रतिपादयिष्यते--जातश्रद्धो मत्कथास्वित्यादिना। अतो भगवज्-

---

ही उदय होती है। भगवान् में जिन के भाव अर्थात् रति का उदय हुआ है उन में अहिंसा-उपरति निजस्वभाव अर्थात् असाधारण धर्म है। (१।१८।२२) श्लोक में श्रीसूतजी का वाक्य है कि—भगवान् में अनुरक्त साधुगण देहादि में की हुई आसक्ति का परित्याग कर अन्त्य में भागवत परमहंस पदवी में आरोहण करते हैं जिस में अहिंसा-उपरम स्वधर्म अर्थात् स्वभाव सिद्ध धर्म है। परम सिद्ध महानुभावों की "सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः" इत्यादि वचन से अर्थात् जो चेतन--अचेतन सर्वभूतों में निज अभीष्ट भगवान् की सत्ता का अनुभव करते हैं इत्यादि वचन से हिंसादिदृष्टि का स्वतः ही अभाव होता है। तात्पर्य-परमसिद्ध महाभागवत गण अपने अभिष्ट भगवान् के दास्य-सख्य-वात्सल्यादि भाव से किसी भाव की सत्ता चेतन-अचेतन सर्वभूतों में उपलब्धि करते हैं। परन्तु साधक भक्तों के प्रति "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" अर्थात् वृक्ष के मूल में जलसेचन करने पर उसके स्कन्ध, भुज, उपशाखादि स्वयं ही तृप्तिलाभ करते हैं" इस दृष्टान्तानुसार

ज्ञानादूर्द्ध्वं जातश्रद्धस्तु स्वकर्म्मकृत् सन् न अर्चयेत् किन्तु शुद्धमर्चादिकमेव कुर्वीतेत्यायातम् । तच्च प्रतिपादयिष्यते—तावत् कर्म्माणि कुर्वीतेत्यादिना । नत्वर्च्चां परित्यजेदित्यर्थः । प्रतिष्ठिताच्चर्चा न त्याज्या यावज्जीवं समर्च्चयेत् । वरं प्राणपरित्यागः शिरसो वापि कर्त्तनमिति हयशीर्षपञ्चरात्रविरोधात् । अथ स्वधर्म्मपूर्वकमर्च्चनं कुर्वंश्च भूतदयां विना न सिध्यतीत्याह—[आत्मनश्च परस्यापि यः करोत्यन्तरोदरम् । तस्य भिन्नदृशो मृत्युर्विदधे भयमुल्वणम् । अन्तरोदरम् उदरभेदेन भेदं करोति नतु मदधिष्ठानत्वेनात्मसमं पश्यति । ततश्च क्षुधितादिकमपि दृष्ट्वा स्वोदरादिकमेव केवलं विभर्त्तीत्यर्थः । तस्य भिन्नदृशो मृत्युरूपोऽहमुल्वणं भयं संसारम्] निगमयति—अथ मां सर्वभूतेषु भूतात्मानं

विष्णु उपासना से समस्त देवताओं की उपासना होती है" यह उपदेश किया गया है। अतः विष्णु से भिन्न देवतान्तर की उपासना करने का उपदेश पुनरुक्तिदोष में आजाता है। अर्थात् जब विष्णु की उपासना से समस्त देवताओं की उपासना हो जाती है तब अन्यदेवता की उपासना में प्रयोजन क्या है ? इस का सिद्धान्त-केवल स्वतन्त्र ईश्वर-दृष्टि से पृथक्रूप में देवतान्तर उपासना भक्ति-साधक के पक्ष में दोषावह होती है अतएव अकर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है। इसी प्रकरण में उन समस्त ब्रह्मादि प्राणीबृन्द में भगवान् की उपासना-विधि भी बतलाई गई है। सर्वभूतों में अवश्य आदर रखना कर्त्तव्य है, वह भगवत्सम्बन्ध से हो सकता है। भगवद्दृष्टि से सर्वभूत में आदर करने पर अतिसत्त्वर अन्यत्र राग-द्वेषादि की निवृत्ति हो सकती है इस अभिप्राय से भगवद्दृष्टि से सर्वभूत में आदर का उपदेश है।

कृतालयम् । अर्च्चयेद्दानमानाभ्यां मैत्र्याभिन्नेन चक्षुषा ॥ अथ अतो हेतोः, यथायुक्तं यथाशक्ति-दानेन तदभावे मानेन च, अभिन्नेन चक्षुषा इति पूर्ववत् । तथोक्तं सनकादीन् प्रति वैकुण्ठदेवेन—ये मे तनूर्द्विजवरान् दुहतीर्म्मदीया भूतान्यलब्धशरणानि च भेदबुद्ध्या इत्यादि । यद्वा भिन्नेन चक्षुषान्यत्र या दृष्टिस्ततोऽतिविलक्षणया दृष्ट्या सर्वोत्कृष्टदृष्ट्येत्यर्थः । तत्र सर्वेषां साधारण्येनैवार्हणे प्राप्ते विशेषयति—"जीवाः श्रेष्ठा ह्यजीवानां ततः प्राणभृतः शुभे। ततः सचित्ताः प्रवरास्ततश्चेन्द्रियवृत्तयः । तत्रापि स्पर्शवेदिभ्यः प्रवरा रसवेदिनः । तेभ्यो गन्धविदः श्रेष्ठास्ततः शब्दविदो वराः । रूपभेदविदस्तत्र ततश्चोभयतो दतः । तेषां बहुपदः श्रेष्ठाश्चतुष्पादस्ततो द्विपात् । ततो वर्णाश्च चत्वारस्तेषां ब्राह्मण उत्तमः । ब्राह्मणेष्वपि वेदज्ञो ह्यर्थज्ञोऽभ्यधिकस्ततः । अर्थज्ञात् संशयच्छेत्ता ततः श्रेयान् स्वधर्मकृत् । मुक्तसङ्गस्ततो भूयानदोग्धा धर्म्ममात्मनः । तस्मान्मय्यर्पिताशेषक्रियार्थात्मा निरन्तरः । मय्यर्पितात्मनः पुंसो

अतएव भरत महाराज का केवल भूतानुकम्पा से भगवदर्च्चन त्याग रूप अन्तराय हुआ है । अतः भूतदया ही मुख्य भगवद्भक्ति है अर्च्चनादि नहीं इस प्रकार सिद्धान्त निरस्त हुआ है । भगवान् कपिलदेव के द्वारा निर्गुण भक्ति प्राप्ति का उपायभूत सर्वभूत मे अनादरकारी का जो दोष उल्लेख है उस के अव्यवहित पूर्व में "क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यशः" अर्थात् निर्गुण भक्तियोग को लाभकरने का हेतुरूप निष्कामभाव से सम्यक् अनुष्ठित स्वधर्म में एवं प्रबलतर श्रद्धा के

मयि संन्यस्तकर्म्मणः । न पश्यामि परं भूतमकर्त्तुः समदर्शनात्" । पूर्वस्मादुत्तरोत्तरस्मिन्नेकैकगुणाधिक्येनाधिक्यम् । धर्म्मदोग्धा निष्कामकर्म्मा । निरन्तरो ज्ञानाद्यव्यवहितभक्तिः । अकर्त्तुरर्पितात्मत्वेन स्वभरणादिकर्म्मानपेक्षमानात् । यद्भगवति भक्तिः क्रियते तत्रापि स्वस्य भगवदधीनत्वं ज्ञात्वा तदभिमानशून्याच्च । समदर्शनात् भगवदधिष्ठानतासाम्येनात्मवत् परेष्वपि हितमाशंसमानात्] जीवाः श्रेष्टा ह्यजीवानामित्यादिनाभेदो हि विवक्षितः । ततो मद्भक्तेष्वेवादरबाहुल्यादिकं कर्त्तव्यम् । अन्यत्र तु यथाप्राप्तं यथाशक्ति चेति भावः । तथैवोक्तम्—"मनसैतानि भूतानि प्रणमेद्बहुमानयन् । ईश्वरो जीवकलया प्रविष्टो भगवानिति" इति । जीवकलया तत्तत्कलनया तदन्तर्य्यामितयेत्यर्थः । तदेवं प्रथमोपासकानां सर्वभूतादरो विहितः । सम्बद्धसाधकानान्तु भगवद्वैभवसार्वत्रिकतास्फूर्त्त्या भवत्येवासौ । यथोक्तं स्कान्दे—"एतेन ह्यद्भुता व्याध तवाहिंसादयो गुणाः । हरिभक्तौ प्रवृत्ता ये न ते स्युः परतापिनः" ॥ इति वक्ष्यमाणरीत्या

साथ नित्य अनुष्ठित अतिशय हिंसारहित निष्काम क्रियायोग में मेरी श्रीमूर्त्ति उपासना की अवश्य कर्त्तव्यता का उल्लेख किया गया है। उस उक्ति में "नातिहिंस्रेण नित्यशः" ऐसा जो उल्लेल है उस का तात्पर्य्य अतिशत हिंसा न कर नारदपञ्चरात्रादि के विधानानुसार अर्च्चनादिलक्षण क्रियायोग में पत्र-पुष्पादि अवचयन रूप कुछ हिंसा का विधान है। क्यों कि—"अतिशय हिंसा नहीं करना" इस उल्लेख से कुछ हिंसा करने की सम्मति आ जाती है। वह हिंसा निजइन्द्रिय-

शुद्धबन्धुत्वादिभावसाधकानामपि बन्धुभावसिद्धश्रीगोकुल-वास्यादिशीलानुसरणेन तादृशभगवद्गुणानुसरणेन चासौ जायते । जातभावानां त्वहिंसा चोपरमश्च स्वीय एव स्वभावः । यथा—यत्रानुरक्ताः सहसैव धीरा व्यपोह्य देहादिषु सङ्गमूढ़म् । व्रजन्ति तत् पारमहंस्यमन्त्यं यस्मिन्नहिंसोपरमः स्वधर्म्मः ॥ इत्यनुसारेण, परमसिद्धानाञ्च, सर्वभूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः इत्याद्यनुसारेण सिद्ध एव सः । तत्र साधकानां यत्तु, यथा तरोर्मूलनिषेचनेन इत्यादौ, तदन्योपासनानां पुनरुक्तत्वमुपलभ्यते, तत् पुनः केवलस्वतन्त्रतत्तद्दृष्ट्योपासनानामेव । अत्र तु तत्तदधिष्टानकभगवदुपासनमेव विधीयते । तदादरावश्यकत्वञ्च तत्सम्बन्धनैव सम्पद्यते । तच्चान्यत्र झटिति रागद्वेषनिवृत्त्यर्थमिति ज्ञेयम् । अत एव केवलभूतानुकम्पया श्रीभगवदर्च्चनं त्यक्तवतो भरतस्यान्तरायः । तस्माद्भूतदयैव भगवद्भक्तिमुख्या नार्च्चनमिति निरस्तम् । तथैव तदव्यवहितपूर्वं निर्गुणभक्त्युपायत्वेन क्रियायोगेन शस्तेन नातिहिंस्रेण नित्यश इत्यत्रातिशब्देन पाञ्चरात्रिकार्च्चनलक्षणक्रियायोगार्था पत्र-

---

तर्पण के लिये न होकर भगवद्भक्ति-रक्षा के लिये जितनी आवश्यक है उस परिमाण से सात्त्विकरूप में होनी चाहिये । तब तो वह हिंसा दोषरूप न होकर गुणमय बन जाती है । भक्ति के अनुकूल होने से सात्त्विक रूप में उद्भिज्जजाति की हिंसा न करने पर श्रीविग्रहसेवादि-भक्ति-अनुष्ठान नहीं हो सकता । अतएव "अन्यभूतों का अनादर"

पुष्पावचयादिलक्षणा किञ्चिद्धिंसापि विहिता। तस्मादन्येषा-मनादरो न कर्त्तव्यस्तत्सम्बन्धेनादरादिकञ्च कर्त्तव्यम्। स्वातन्त्रेणोपासनन्तु धिक्कृतमिति साध्वेवोक्तम्—अविस्मितं तमित्यादि। ६॥ ९॥ देवाः श्रीमदादिपुरुषम् ॥१०६॥

तथा—कः पण्डितस्तदपरं शरणं समीयाद्भक्तप्रियादृत-गिरः सुहृदः कृतज्ञात्। सर्वान् ददाति सुहृदो भजतोऽभि-कामानात्मानमप्युपचयापचयौ न यस्य ॥१०७॥

सुहृदो हितकारिस्वभावात्तत्रापि कृतज्ञादुपकाराभासेऽपि बहुमन्वानात् यो भजतो भजमानाय सर्वान् कामानभीष्टानभि

करें, भगवद् अधिष्ठान दृष्टि से सर्वभूतों में आदर रखें" इस कपिल-देव के उपदेश का मर्म्मार्थ ऐसा ही जानना। स्वतन्त्ररूप से देवता-न्तर-उपासना को धिक्कार दिया गया है। अतएव "अविस्मितं तं परिपूर्णकामें" इस श्लोक की व्याख्या अति सुन्दर हुई है ॥१०६॥

श्रीअक्रूर अपने गृह में अभीष्टदेव श्रीकृष्ण को प्राप्त कर यथोचित पूजादि से प्रसन्न कर के कहने लगे—हे प्रभो! कौन पण्डितजन भक्त प्रिय, सत्यवाक्, सुहृदय, एवं कृतज्ञ आप को छोड़ कर देवतान्तर का आश्रय ग्रहण करता है? अर्थात् नहीं। क्यों कि आप अपने भजनकारी सुहृज्जनों को उन के अभिलषित समस्त भोग दान कर के भी उस दान से परितृप्त न होकर आत्म पर्य्यन्त दान करते हैं। अथच उन के लिये आत्मदान करने पर भी आप का कोई उपचय अथवा अपचय नहीं है ॥१०७॥

व्याख्या—सुहृत् अर्थात् हितकारी स्वभाव वाले, उनमें कृतज्ञ अर्थात् उपकार के आभास से भी बहु मनन शील, जो भजनकारी के लिये

सर्वतोभावेन ददाति । तत्र सुहृदः सुहृदे सप्रीतये त्वात्मानमपि ददाति । न च सर्वतोभावेन दाने तादृशेभ्यो बहुभ्यो दाने वा समावेशाभावः स्यादित्याह, उपचयेति ॥१०।४८॥ अक्रूरः श्रीभगवन्तम् ॥१०७॥

तदभक्तमात्रानादरेणाह—येऽभ्यर्थितामपि च नो नृगतिं प्रपन्ना ज्ञानञ्च तत्त्वविषयं सहधर्म्म यत्र । नाराधनं भगवतो वितरन्त्यमुष्य सम्मोहिता विततया वत मायया ते ॥१०८॥

समस्त अभीष्ट को सर्वप्रकार से दान करते हैं । उन में अपनी प्रसन्नता के लिये आत्मदान पर्य्यन्त कर लेते हैं । यहाँ "सुहृदः" यह षष्ठी विभक्ति "सुहृदे" यह चतुर्थी विभक्ति के स्थान में आर्षप्रयोग है। सर्वतोभाव से भोगदान में एवं आत्मदान में जो आवेश है उस का कभी अभाव नहीं इस अभिप्राय से कहते हैं उस का उपचय वा अपचय नहीं है । अर्थात् भगवान् एक हैं भक्तगण अनन्त हैं । वे अनन्त भक्त में किस प्रकार से आत्मदानादि-आवेश की रक्षा कर सकते हैं वा उस में समर्थ हो सकते हैं । उस के उत्तर में कहते हैं—भगवान् अव्यय अखण्डतत्त्व स्वरूप होने के कारण सर्व समाधान में समर्थ हैं तथा सर्वस्वदान से भी उन का कोई अपचय नहीं हैं ॥१०७॥

श्रीब्रह्माजी ने (३।१५।२५) श्लोक में देवताओं के निकट भगवान् के अभक्तमात्र का अनादर करके उससे भगवद्भक्ति का अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यत्व बतलाया है । जो हम सब के अत्यन्त प्रार्थनीय मनुष्य--जन्म का लाभ करके भगवान् की आराधना नहीं करते हैं वे निश्चय उन की सुविस्तृत माया से विमोहित हैं उन के लिये मेरा शोक यह है कि—मनुष्य-जन्म धर्म के साथ तत्त्वज्ञान का साधक स्वरूप है । उस से वे वंचित हैं ॥(श्लोकार्थ)

यत्र यस्यां भगवद्धर्मपर्य्यन्तो धर्म्मो भवति भगवत्पर्य्यन्तस्य तत्त्वस्य ज्ञानञ्च भवतीत्यर्थः। तां प्राप्ता अपि सर्वेषां धर्म्माणां ज्ञानानाञ्च मूलं ये भगवत आराधनं न वितरन्ति न कुर्वन्ति। तदुक्तम्—बिले वतोरुक्रमविक्रमान् ये इत्यादि। तथा च ब्रह्मवैवर्त्ते—"प्राप्यापि दुर्ल्लभतरं मानुष्यं विबुधेप्सितम्। यैराश्रितो न गोविन्दस्तैरात्मा वञ्चितश्चिरम्। अशीतिञ्चतुरश्चैवलक्षांस्तान् जीवजातिषु। भ्रमद्भिः पुरुषैः प्राप्य मानुष्यं जन्म पर्य्ययात्। तदप्यफलतां जातं तेषामात्माभिमानिनाम्। वराकाणामनाश्रित्य गोविन्दचरणद्वयमिति" ॥३।१५॥श्रीब्रह्मा देवान् ॥१०८॥

व्याख्या—जिस मनुष्ययोनि में भगवद्धर्म पर्य्यन्त धर्म्म तथा भगवत्पर्यन्त तत्त्व का ज्ञान हो सकता है उस मनुष्य-योनि को प्राप्त होकर भी समस्त धर्मों के तथा समस्त ज्ञान के मूल भगवान् की आराधना जो नहीं करते हैं उन सब अभक्तजनों की दुर्दशा को देख कर हमारा खेद उपस्थित होता है। जैसे कि कहा गया है।—यदि मनुष्य के दोनों कर्ण भगवान् के प्रभाव-मय चरित्र का श्रवण नहीं करते हैं तो वे गर्त्त के समान हैं, इत्यादि वाक्यों से भगवान् के भजन न करने वालों की बहुनिन्दा की गई है। ब्रह्मवैवर्त्त-पुराण में भी भगवद्भजनकारी के प्रति इस प्रकार आक्षेपोक्ति की गई है कि—जो देवताओं के अभिलषित, दुर्लभतर मनुष्यजन्म प्राप्त कर श्रीगोविन्द-चरणाश्रय नहीं करते हैं वे अनादिकाल से आत्मवञ्चक हैं। चौरासी-लक्ष जीवयोनि में भ्रमण करते करते पर्य्यायक्रम के मनुष्यजन्म लाभ कर आत्माभिमानी, क्षुद्रचेता, मानव यदि गोविन्दचरणयुगल का आश्रय नहीं करता है तो उस को मनुष्य--जन्म विफल है ॥१०८॥

तथा—यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः । हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो वहिः ॥१०६॥

अकिञ्चना निष्कामा गुणैः ज्ञानवैराग्यादिभिः सह सर्वे शिवब्रह्मादयो देवाः सम्यगासते ॥५॥१८॥ भद्रश्रवसः श्रीहयशीर्षम् ॥१०६॥

अत एव तन्मार्गसिद्धमुनीनामप्यनादरः—अन्ह्यापृतार्त्त-करणा निशि निःशयाना नानामनोरथधिया क्षणभग्ननिद्राः । दैवाहतार्थरचना मुनयोऽपि देव युष्मत्प्रसङ्गविमुखा इह संसरन्ति ॥११०॥

उस प्रकार अन्वय—व्यतिरेक मुख से (५।१८।३२) श्लोक में भद्रश्रवा के वंशधरगण श्रीहयशीर्षा भगवान् का स्तवन करते हुए भक्ति के अभिधेयत्व का निर्देश करते हैं—जिस की भगवान् में अकिञ्चना भक्ति है उसके यहाँ देवतागण धर्म-ज्ञानादि समस्त गुणों के द्वारा नित्यवास करते रहते हैं। जो भगवान में भक्ति नहीं करता है उस में वे समस्त महद्गुण किस प्रकार आ सकते हैं ? वह तो असत् विषय-भोग संकल्प की ओर दौड़ता है॥ श्लोकार्थ ॥

अकिञ्चना अर्थात् निष्कामा है। गुणों से अर्थात् ज्ञान-वैराग्यादिकों के साथ, शिव-ब्रह्मादिदेवता गण सम्यक्तया निवास करते हैं ॥१०६॥

अतएव ज्ञानादि मार्ग में सिद्ध मुनियों का अनादर करते हुए (३।६।१०) श्लोक में ब्रह्माजी गर्भोदशायी भगवान् से कहते हैं—हे प्रभो ! भक्तिहीन अविवेकीजन की संसार-दुःख से निवृति नहीं है। जो ऋषिगण आप एवं आप के भक्तगणों की कथा से विमुख हैं वे दिन में तो नाना-व्यापार से नापृत (व्यस्त) रहते हैं तथा उपबासादि के द्वारा

अह्नि आपृतेत्यादिस्वभावा युष्मद्भजनविमुखाः चेत् संसारिणो भवन्ति किं बहुना तत्तन्मार्गसिद्धा मुनयोऽपि युष्मत्प्रसङ्गविमुखाश्चेत् इह जगति तद्वदेव संसरन्ति। अथवा मुनयोऽपि तद्विमुखाश्चेत्तर्हि संसरन्त्येव। कथम्भूताः सन्तः संसरन्तीत्यत्राह--अह्न्यापृतेत्यादि। आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदमित्यादेः। अत उक्तं श्रीधर्मेण—धर्मन्तु साक्षात् भगवत्प्रणीतं न वै विदुर्ऋषयो नापि देवाः। न सिद्धमुख्या असुरा मनुष्याः कुतो नु विद्याधरचारणादयः। स्वयम्भुर्नारदः शम्भुः कुमारः कपिलो मनुः। प्रह्लादो जनको

इन्द्रियगण को क्लेशित करते हैं तथा रात्रि में निद्रा करके भी नाना संकल्पात्मक चित्तविक्षेप से क्षण क्षण में निद्रा-रहित हो जाते हैं अर्थात् उनकी बार बार निद्रा टूट जाती है। अतः दिन एवं रात्रि में किसी समय ऐन्द्रियक सुख लाभ नहीं कर पाते हैं। उन के दुरदृष्ट के कारण अर्थलाभ में कृत सतस्त उद्यम विफल हो जाते हैं। यह श्लोकार्थ है। दिन में नाना व्यापार से व्यस्त एवं उपवासादि के द्वारा इन्द्रियों को दुःखित करने वाले स्वभाव शील यदि आप के भजनविमुख हैं तो वे संसारी माने जाते हैं। अधिक क्या कहना है--उन उन साधनमार्ग में सिद्ध मुनिगण यदि आप के प्रसंग विमुख होते हैं तो वे भी तद्वत् अर्थात् साधारणजीव की भाँति संसारदशा-प्राप्त होते हैं। अथवा मुनिश्वरगण यदि आप के प्रसंग विमुख हैं तो वे भी संसारदशा को प्राप्त होते हैं। वे सब किस प्रकार दशा प्राप्त कर संसार लाभ करते हैं? तो कहते हैं--दिवाभाग में विविधव्यापार में व्यापृत रहते हैं एवं नाना उपासना के द्वारा इन्द्रियगण को क्लेश देकर दुःखित करते हैं रात्रि में भी नानासंकल्प-विकल्प वृत्ति के द्वारा निद्रारहित हो

भीष्मो वलिर्वैयासकिर्वयम् । द्वादशैते विजानीमो धर्मं भाग-
वतं भटाः । गुह्यं विशुद्धं दुर्बोधं यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते । एता-
वानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां धर्म्मः परः स्मृत इत्यादि । एते
धर्म्मप्रवर्त्तका विजानीम एव न तु स्वस्मृत्यादिषु प्रायेणोप-
दिशाम इत्यर्थः । यतः गुह्यमप्रकाश्यं दुर्व्वोधमन्यैस्तथा
गृहीतुमशक्यश्च । गृह्यत्वे हेतुः यज्ज्ञात्वेति । अतएव वक्ष्यते-
प्रायेण वेद तदिदं न महाजनोऽयम् इत्यादि । महाजनो

जाते हैं। इस प्रकार अवस्था प्राप्त कर विषयसुख एवं पारमार्थिक सुख से वञ्चित होते हैं इत्यादि ।। गर्भस्तुति-प्रसंग में भी ब्रह्मादिदेव ने ऐसा ही कहा है—(१०।२)श्लोक में-हे कमललोचन ! जो भक्तिहीन होकर अपने को स्थूल एवं सूक्ष्मदेह से विमुक्त-करके अभिमान रखते हैं उन की आप में भक्ति-अभाव के कारण चित्तशुद्धि नहीं होती है अर्थात् ऐहिक-पारलौकिक सुखभोग में वितृष्णा नहीं होती है। वे भक्तिहीन ज्ञानसाधकगण वहु कष्ट से तपस्या तथा शास्त्रादि के विचार सम्पन्न ब्राह्मणादि कुल में जन्म ग्रहण करके भी आप एवं आपके भक्तों के चरणों का अनादर कर उस अपराध से अधःपतित हो जाते हैं। अत एव (६।३) अध्याय में धर्मराज श्रीयम ने अपने भक्तों के प्रति उपदेश किया है—हे भटगण ! सुनो, साक्षात् भगवान् के द्वारा कहे हुए धर्म को ऋषिगण नहीं जानते हैं तथा देवता, सिद्ध-प्रमुखगण भी नहीं जानते हैं। अतः असुरगण, मनुष्यगण, विद्याधरगण किस प्रकार जान सकते हैं। स्वयम्भू, नारद, शम्भु, कुमार (चतुःसन), कपिल, मनु, प्रह्लाद, जनक, भीष्म, बली, वैयासकि और मैं (धर्मराज यम) ये बारह जन भागवत धर्म को जानते हैं। यह भागवत धर्म अति गुह्य एवं विशुद्ध है तथा दूर्बोध भी है। जिस को जानने पर जन्म मरण दुःख से निष्कृति हो जाती है अथवा भगवत्पार्षद देह प्राप्त होती

द्वादशेभ्यस्तदनुगृहीतसंप्रदायिभ्यश्चान्यो महागुणयुक्तोऽपीत्यर्थः । तस्मात् साधूक्तमह्न्यापृतात्तेत्यादि ॥३॥६॥ ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायिनम् ॥११०॥

तदेवं श्रीभगवद्भक्तेरेव सर्वोद्ध्वंमभिधेयत्वं स्थितम् । तथा च गीतासु —तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्म्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन । योगिनामपि सर्व्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मत इति । सर्व्वशब्दोऽत्र दैवमेवा-

---

है। ये बारह धर्म प्रवर्त्तक हम सब भागवत धर्म को जानते हैं परन्तु निजकृत स्मृत्यादि शास्त्र में उपदेश नहीं करते हैं। श्लोक में "विजानीम" क्रिया का प्रयोग है, उस का तात्पर्य-भागवत-धर्म अति गुह्य अर्थात् अप्रकाशनीय है, दुर्वोध है अर्थात् अन्य सब कथित उपदेश के ग्रहण में असमर्थ है। क्यों गुह्य है ? तो कहते हैं-जिस भागवत धर्म को जानने पर जन्म-मृत्यु धर्म वाले संसार दुःख का अतिक्रमण किया जाता है। श्लोक में महाजन पद का उल्लेख है। यहाँ उन स्वयम्भू आदि द्वादश महाजनों से एवं उनके द्वारा अनुगृहीत सम्प्रदायाचार्यों से पृथक् महागुणयुक्त महाजन भी इस भागवत धर्म को नहीं जानते हैं ऐसा अर्थ करना होगा। अतः "अन्ह्यापृत" इत्यादि श्लोक की व्याख्या अति सुन्दर हुई है ॥११०॥

इस प्रकार सिद्धान्त से भगवद्भक्ति का सर्वोपरि अभिधेयत्व स्थिर हुआ। जैसा कि गीता में कहा गया है कि-हे अर्जुन ! तपस्वीगण से योगीश्रेष्ठ है, ज्ञानियों से भी योगी श्रेष्ठ है, तथा कर्मीगण से भी योगी श्रेष्ठ है, अतएव तुम योगी हो जाओ। पुनः समस्त योगियों में मद्गत चित्त से श्रद्धा युक्त होकर जो मेरा भजन करता है वह युक्ततम सम्मत है। यहाँ सर्वशब्द से "दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः

परे यज्ञं योगिनः पर्य्युपासते इत्यादिना पूर्ब्बपूर्ब्बोक्तान् सर्व्वानप्युपायिनो गृह्णातीति ज्ञेयम् । तदेवमभक्तनिन्दाश्रवणात् श्रीमद्भगवद्भक्तेः सर्व्वेषु नित्यत्वमपि सिद्धम् । उक्तञ्च श्रीभगवता उद्धवं प्रति — भिक्षोर्धर्म्मः शमोऽहिंसा तप ईक्षा वनौकसामित्यादौ सर्व्वेषां मदुपासनमिति । तथा श्रीनारदेन च सार्व्ववर्णिकस्वधर्म्मकथने श्रवणं कीर्त्तनञ्चास्येत्यादि। अकरणे दोषश्रवणञ्चान्यत्र मुखबाहूरुपादेभ्य इत्यादि।

पर्य्युपासते" इत्यादि श्लोक द्वारा योगियों का जो विभेद बतलाया गया है वे समस्त साधक एवं सिद्ध योगीजन जानना । इस प्रकार भगवान् का भजन न करने वालों की जो निन्दा की गई है उस से सर्वप्रकार साधकों के भगवद्भक्ति का नित्य कर्तव्यत्व जानना होगा। भगवान् ने (११।१८।४२) श्लोक में श्रीउद्धवजी से कहा है–हे उद्धव! अन्तःकरण-संयम संन्यासी का धर्म है, क्लेश-सहन एवं ईक्षा ये दो वानप्रस्थ के धर्म हैं, प्राणी-रक्षा एवं यज्ञ ये दो गृहस्थ के धर्म हैं, ब्रह्मचारी का आचार्य-सेवन धर्म है। ऋतुकाल में गृहस्थ का स्त्री-सम्भोग एवं ब्रह्मचारी आदि तीनों आश्रम का तपस्या, ब्रह्मचर्य, शौच, सन्तोष एवं जीव में बन्धुभाव धर्म है। परन्तु चारों आश्रमों में मेरी उपासना अवश्य कर्त्तव्य है। इस प्रमाण से समस्त आश्रमी को भगवान् में भक्ति करना बतलाया जाता है। नारदजी ने समस्त वर्ण के स्वधर्म वर्णन प्रसंग में (७।११।११-१२) श्लोकों में कहा है–हे राजन्! श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, सेवा, अर्च्चन, नमस्कार, दास्य, सौख्य एवं आत्म समर्पण ये नौ प्रकार की कृष्णभक्ति मानव मात्र का **श्रेष्ठ धर्म** है। सत्य-दया आदि पूर्व-वर्णित तीस प्रकार लक्षण से युक्त धर्म के प्रतिपालन से सर्वात्मा भगवान् प्रसन्न होते हैं। इत्यादि। भगवान् में भक्ति न करने पर सर्ववर्णी एवं सर्वाश्रमी का प्रत्यवाय

तथाच महाभारते--मातृवत् परिरक्षन्तं सृष्टिसंहारकारकम् । यो नार्च्चयति देवेशं तं विद्याद्ब्रह्मघातकमित्यादि । श्रीगीतोपनिषत्सु —न मां दुष्कृतिनो मूढ़ाः प्रपद्यन्ते नराधमाः । माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिता इति । आग्नेये-विष्णुधर्म्मे च-दैव आसुर द्विविधो भूतसर्गोऽयं एव च । विष्णुभक्तिपरो दैव आसुरस्तद्विपर्य्ययः ।। अन्यदप्युदाहृतम्---विप्राद्द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभपादारविन्दविमुखादिति, श्वपचोऽपि महीपालेत्यादि च । तथा गारुड़े—अन्तर्गतोऽपि वेदानां सर्वशास्त्रार्थवेद्यपि । यो न सर्व्वेश्वरे

है इस बात को (१११५) "मुख–बाहूरुपादेभ्यः" इत्यादि श्लोक में कहा गया है। महाभारत में कहा गया है—माता की भाँति सर्वजीव की रक्षा करने वाले, सृष्टि-संहार कर्त्ता, देवाराध्य श्रीकृष्ण का जो मानव अर्च्चन नहीं करता है उसको ब्रह्म-घातक जानना। गीता में भी कहा है— हे अर्जुन ! आसुर भावापन्न, माया से अपहृत बुद्धिवाले, दुष्कर्मनिरत मूढ़ नराधमगण मेरा चरणाश्रय नहीं करते हैं ।। आग्नेय में तथा विष्णु-धर्म में कहा गया है—दो प्रकार यह भूतसर्ग है, दैव तथा आसुर। विष्णुभक्तिपरक दैव है और विष्णुभक्ति रहित आसुर है। अग्नि एवं विष्णु-पुराण में विष्णुभक्तिहीन प्राणी को आसुरसर्ग कहा गया है। इस भागवत--शास्त्र में भक्तश्रेष्ठ प्रह्लादजी ने कहा भी है-हे नृसिंह प्रभो ! भगवत्-चरणारविन्द में भक्तिहीन अथच धर्म-सत्यादि द्वादश गुण युक्त ब्राह्मण से श्वपच श्रेष्ठ है, जिसने भगवान् के चरणों में जन, धन, बचन, चेष्टा, अर्थ एवं प्राण समस्त समर्पण किया है। वह भक्तियुक्त श्वपच अपने वंश को पवित्र कर लेता है परन्तु भक्तिहीन ब्राह्मण अपने को ही पवित्र नहीं कर पाता है। (७।९।१०) "श्वपचोऽपि महीपाल" इस श्लोक में

भक्तस्तं विद्यात् पुरुषाधमम् । वृहन्नारदीये—हरिपूजाविहीनाय वेदविद्वेषिणस्तथा । द्विजगोद्वेषिणश्चापि राक्षसाः परिकीर्त्तिता इति । अपरश्चाह—येन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः । आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधो नादृतयुष्मदङ्घ्रयः इति ॥१११॥

प्रथमतस्तावत् त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः, धर्म्मः सत्यदयोपेतो विद्या वा तपसान्विता । मद्भक्त्यापेतमात्मानं न सम्यक् प्रपुनाति हीत्याद्युक्तेः, तथा ज्ञानमार्गमाश्रित्य

भगवान् ने भक्तिहीन की निन्दा की है । गरुड़पुराण में कहा गया है—समस्त वेदों का पारङ्गत एवं समस्त शास्त्रवेत्ता होकर भी जो व्यक्ति सर्वेश्वर भगवान् में भक्ति नहीं करता है, उस को पुरुषाधम जानना । वृहन्नारदीय में कहा है–हरिपूजाविहीन,वेदविद्वेषी तथा द्विजगोद्रोही राक्षस करके परिकीर्त्तित होता है । और भी श्रीभागवत में (१०।२) अध्याय में गर्भस्तुतिप्रसंग में अभक्तजन की निन्दा की गई है–हे कमललोचन ! भक्तिरहित जो अपने को स्थूल-सूक्ष्म देह बन्धन से विमुक्त मान लेते हैं उन की भक्तिहीन दोष से बुद्धि अविशुद्ध है। वे सब ज्ञानीगण तुम्हारे एवं तुम्हारे भक्तों के चरणों में अनादर दोष से श्रुत्यादि सम्पन्न ब्राह्मण कुल में जन्म ग्रहण करके भी अधःपतित हो जाते हैं ।।१११।। (श्लोकार्थ)

व्याख्या–पहले तो आप में भक्तिशून्यता-दोष से वे समस्त ज्ञानी अविशुद्धचित्त के हैं क्यों कि–(११।१४।२२) श्लोक में श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है–सत्य एवं दयायुक्त धर्म, तपस्या-युक्त विद्या प्रभृति मेरे भक्ति-विमुख चित्तवालों को सम्पक् तया शोधन नहीं कर सकते इस में कोई संशय नहीं है । इस प्रकार उक्ति से भक्तिहीन

विमुक्तमानिनः देहद्वयातिरिक्तत्वेनात्मानं भावयन्तः, ततः क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसामित्याद्युक्तेः, कृच्छ्रेण जीवन्मुक्तिरूपामारुह्य प्राप्यापि ततोऽधः पतन्ति भ्रश्यन्ति। कदेत्यपेक्षायामाह—नादृतेति । यदीति शेषः । तेषां भक्तिप्रभावस्याननुवृत्तोरबुद्धिपूर्वकस्य त्वदनादरस्य निवर्त्त-काभावात्, तथापि दग्धानामपि पापकर्म्मणां महाशक्ति-श्रीभगवत्पादपद्मावज्ञया पुनर्विरोहात् । तथाच वासनाभाष्योत्थापितं भगवत्परिशिष्टवचनम्—जीवन्मुक्ता अपि पुनर्बन्धनं यान्ति कर्म्मभिः । यद्यचिन्त्यामहाशक्तौ भगव-

---

ज्ञानियों का चित्त ऐहिक—एवं पारलौकिक सुखभोग से वितृष्ण नहीं हो सकता एवं वे जीव एवं ईश्वर में अभेद भावना करते हुए स्थूल-सूक्ष्मदेह से अपने को अतिरिक्त करके भावना रखते है। उसके बाद "क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्" अर्थात् "हे अर्जुन ! जिनका चित्त निर्व्विशेष ब्रह्म स्वरूप में आसक्त है उनको अधिकतर क्लेश है" इस उल्लेख से ज्ञानीगण बहुकष्ट स्वीकार कर जीवन्मुक्ति दशा प्राप्त कर के भी वहाँ से अधःपतित अर्थात् भ्रष्ट होते हैं जब कि वे आप में तथा आपके भक्तों में अनादर बुद्धि रखते हैं यह सिद्ध होता है। क्यों कि--आप के अनादरकारी उन ज्ञानीगणों के सम्बन्ध में भक्तिवृत्ति का आविर्भाव नहीं होता है। अबुद्धि-- पूर्वक आप के अनादर से देहद्वय में आसक्ति-निवृत्ति असम्भव है। यद्यपि उन ज्ञानियों का पाप कर्म-समूह दग्ध हो जाता है तो भी महाशक्ति-वाले सर्वेश्वर उन भगवान् के पाद-पद्म युगलमें अवज्ञा-दोषसे पुनः भोग-वासना का उद्गम हो उठता है इस विषय में वासना भाष्य के भगवत्परिशिष्ट में उल्लेख है कि—जीवन्मुक्त महापुरुषगण

त्यपराधिनः ।। अतएव तत्रैव—जीवन्मुक्ताः प्रपद्यन्ते क्वचित् संसारवासनाम् । योगिनो वै न लिप्यन्ते कर्म्मभिर्भगवत्परा इति । तथा रथयात्राप्रसङ्गे विष्णुभक्तिचन्द्रोदयादिधृतं पुराणान्तरवचनम्—-नानुव्रजति यो मोहात् व्रजन्तं परमेश्वरम् । ज्ञानाग्निदग्धकर्म्मापि स भवेद् ब्रह्मराक्षस इति । एवमेवोक्तम्—-यो नादृतो नरकभाग्भिरसत्प्रसङ्गैरिति । अतएवोपदिष्टम्—तस्माज्ज्ञानेन सहितं ज्ञात्वा स्वात्मानमुद्धव । ज्ञानविज्ञानसम्पन्नो भज मां भक्तिभावित इति । तस्मात् सुतरामेव सर्व्वेषां श्रीहरिभक्तिर्नित्येत्यायातम् ।।१२।।२।।
देवाः श्रीभगवन्तम् ।।१११।।

यदि अचिन्त्य शक्ति वाले भगवान् में अपराधी होते हैं तब वे कर्मराशि के द्वारा बन्धन दशा प्राप्त करते हैं । अतएव उसी वासनाभाष्य में उल्लेख है कि--जीवन्मुक्त महात्मा-गण संसार वासना प्राप्त होते हैं परन्तु भगवत्परायण योगीगण कभी कर्म के द्वारा लिप्त नहीं होते हैं। रथयात्रा-प्रसंग में विष्णुभक्तिचन्द्रोदयादि-धृत पुराणान्तर वचन यह भी है--जो जन अज्ञानवश रथारोहणकारी भगवान् के पश्चात् गमन नहीं करता है वह ज्ञानाग्नि से दग्धकर्मा होकर भी ब्रह्मराक्षसत्व प्राप्त करता है । अतएव भागवत के (३।६।४) श्लोक में कहा गया है—"तुम असत्प्रसंग-कारी नरकगामीगण के द्वारा अनादृत होते हो" अर्थात् वे तुम्हारा आदर नहीं करते हैं । अतएव भगवान् ने उद्धवजी के प्रति उपदेश किया है-हे उद्धव ! तुम ज्ञान के साथ अपने आत्मा को जानकर, अथच ज्ञान विज्ञान सम्पन्न होकर भक्तिभावित हृदय से मेरा भजन करो, इत्यादि । अतः सब के लिये हरिभक्ति की नित्य कर्त्तव्यता सिद्ध हुई ।।१११।।

भगवत्प्रेम द्वारा कर्माशय-निर्धूत होने के बाद में भी भक्ति-अनुष्ठान की कथा(११।१४।२५)श्लोक में सुनी गई । भगवान् ने उद्धवजी से कहा

प्रेमकृतकर्म्माशयनिर्धुननान्तरमपि भक्तिः श्रूयते——यथाग्निना हेम मलं जहाति ध्मातं पुनः स्वं भजते च रूपम्। आत्मा च च कर्म्मानुशयं विधूय मद्भक्तियोगेन भजत्यथो माम् ॥११२॥

तथैवात्मा जीवो मत्प्रेम्ना कर्म्माशयं विधूय ततः शुद्ध-स्वरूपञ्च प्राप्य मां भजतीत्यर्थः। तदुक्तम्——मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते इति ॥११॥१६॥ श्रीभगवान् ॥११२॥

एवमप्युक्तं स्कान्दे रेवाखण्डे—इन्द्रो महेश्वरो ब्रह्मा परं ब्रह्म तदैवहि। श्वपचोऽपि भवत्येव यदा तुष्टोऽसि

हैं—हे उद्धव ! अग्नि के द्वारा सुवर्ण जिस प्रकार अपनी मलिनता का त्याग कर उज्वलभाव धारण करता है उस प्रकार जीव प्रेमभक्ति के द्वारा कर्मवासना-रूप मालिन्य का त्याग कर शुद्धस्वरूप धारण कर मेरा भजन करता है। सहस्रनाम-भाष्य में "मुक्ता ह्येतमुपासते" इति श्रुति व्याख्या में—"मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते" अर्थात् "मुक्तपुरुषगण भी लीला पूर्वक शरीर धारण करके भगवान् का भजन करते है" ऐसा शंकरपाद का वचन है ॥११२॥

इस प्रकार भागवत के उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वफल, अर्थवाद तथा उपपत्ति इन छै प्रकार लक्षणों द्वारा अवान्तर-तात्पर्य से भी भक्ति का तात्पर्यत्व जानना चाहिये। उन में भागवत के उपक्रम एवं उपसंहार में एक ही अभिधेयत्व अर्थात् एक मात्र भगवान् का ध्यान करने के लिये प्रार्थना की गई है। उपक्रम श्लोक में जिस प्रकार प्रार्थना करने का उल्लेख है उपसंहार श्लोक में भी उसी प्रकार उल्लेख किया गया है। "जन्माद्यस्य यतः" इत्यादि उपक्रम श्लोक में "सत्यं

केशव । श्वपचादपकृष्टत्वं ब्रह्मेशानादयः सुराः । तदैवाच्युत यान्त्येते यदैव त्वं पराङ्मुख इति ॥ तथैवाह—यच्छौचनिःसृतसरित्प्रवरोदकेन तीर्थेन मूर्द्ध्न्यधिकृतेन शिवः शिवोऽभूत् इति ॥११३॥

स्पष्टम् । तस्मात् भक्तेर्महानित्यत्वेनाप्यभिधेयत्वमायातम् । अग्रे स्वकृतपुरेष्वित्यादौ जीवानां स्वभावसिद्धा सैवेति व्याख्येयम् ॥३॥२८॥श्रीकपिलदेवः ॥११३॥

परं धीमहि" इस वाक्य में इस प्रकार भगवद्ध्यान करने की योग्यता-प्रार्थना की गई है । इस ध्यान विषय में भगवद्गीता के द्वादश अध्याय में कहा गया है—"एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासत" इत्यादि-श्लोक से । "हे भगवन् ! इस प्रकार सतत अभियुक्तचित्त से जो तुम्हारी उपासना करता है और जो अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप का चिन्तन करता है उन दोनों में कौन योगवित्तम अर्थात् श्रेष्ठ है ?" इस अर्जुन के प्रश्न से भगवद्ध्यान का सुख—साध्यत्व स्पष्ट ही व्यक्त होता है । उत्तर में भी भगवद् ध्यान—कारी भक्त का युक्ततमत्व रूप से उल्लेख किया गया है "मय्यावेश्य मनो ये मां" इत्यादि वचन से । "ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च" इस श्लोक में भगवद्रूप में ही पारमार्थिक-—श्रेष्ठत्व का पर्यवसान् बतलाया गया है अर्थात् सविग्रह भगवान् ही अन्य निरपेक्ष परतत्त्व है । अतः सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तियुक्त होने के कारण भगवान् ही जगत् के जन्मस्थिति—लय के हेतुभूत हैं । "सत्यं परं धीमहि" इस वाक्य में परशब्द से भगवान् ही अभिहित होते हैं । अतः उन भगवान् के ध्यान की प्रार्थना की गई है । परमात्म-सन्दर्भमें उस श्लोकको विस्तारित किया गया है । "कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरा" इत्यादि उपसंहार-पद्य में भी"सत्यं परं धीमहि"इसप्रकार अविकल एक ही पद का उल्लेख

तदेवमवान्तरतात्पर्य्येण भक्तेरेवाभिधेयत्वं षड्‌विधैरपि लिङ्गै रवगम्यते। तत्रोपक्रमोपसंहारयोरेकत्वेन यथा— जन्माद्यस्य यत इत्यादावुपक्रमपद्ये सत्यं परं धीमहीति। अत्र श्रीगीतासु एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्य्युपासत इत्यादौ श्रीभगवत्येव ध्यानस्याकष्टार्थत्वेन तद्ध्यायिनो युक्ततमत्वेन चोक्तत्वात्। ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहमित्यादौ परत्वस्य श्रीभगवद्रूप एव पर्य्यवसानात, तस्यैव सर्व्वज्ञत्वसर्वशक्तित्वाभ्यां जगज्जन्मादिहेतुत्वात्तत्र श्रीभगवत्येव ध्यानमभिधीयते। तथैव हि तत् पद्यं परमात्मसन्दर्भे विवृतमस्ति। कस्मै येन विभाषितोऽयमतुलो ज्ञानप्रदीपः पुरेत्यादावुपसंहारपद्येऽपि सत्यं

है। अतएव भगवान् ही पर-शब्दवाच्य हैं। इस भागवतशास्त्र के वक्ता भी भगवान् हैं। "तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवये" अर्थात् "सृष्टि के पहले उन्होंने ब्रह्मा के हृदय में वेदार्थ-तात्पर्य का प्रकाश किया है" इस प्रकार उल्लेख है। अभ्यास अर्थात् एक ही विषय के पुनः पुनः उल्लेख से भी भगवद्भक्ति का अभिधेयत्व सिद्ध होता है। यह पहले दिखलाया गया है एवं इस सन्दर्भ में भी अनेक प्रकार से उल्लेख किया जा रहा है। अपूर्वफल के द्वारा भी भक्ति की कर्त्तव्यता दिखलाई गई है। श्रीव्याससमाधि में "अनर्थोपशमं साक्षात् भक्तियोगमधोक्षजे" अर्थात् "जिस भक्तियोग से निखिल अनर्थ की निवृत्ति होती है, अधोक्षज भगवान् में उस भक्तियोग को साक्षात् रूप से देखा है" इस श्लोक में भक्तियोग के निखिल अनर्थ-निवृत्ति रूप अपूर्वफल का उल्लेख है। अभ्यास की भाँति प्रशंसालक्षण वाला अर्थवाद के द्वारा भी भक्ति की बहुप्रकार से इस भागवत में प्रशंसा की गई है। उपपत्ति अर्थात् युक्ति के द्वारा भी भगवद्भक्ति का अभिधेयत्व बतलाया गया

परं धीमहीति । अतएव स्पष्टमेवास्य श्रीभगवत्त्वं श्रीभागवतवक्तृत्वात् । पूर्वञ्च तेने ब्रह्म हृदा य आदिकवय इत्युक्तम् । अभ्यासेनोदाहरणं पूर्वं दर्शितमदर्शितं चानेकविधमेव । अपूर्वतया फलेन च दर्शितं श्रीव्याससमाधौ––अनर्थोपशमं साक्षादित्यादि । प्रशंसालक्षणेनार्थवादेन चाभ्यासवद्बहुविधमेव तत्रास्ति । उपपत्या च––भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादित्यादि अनेकमिति । अत्र गतिसामान्ये च––इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वेत्यादि । तथाह––मुनिर्विवक्षुर्भगवद्गुणानां सखापि ते भारतमाह कृष्ण इत्यादि ॥११४॥

स्पष्टम् ॥३॥५॥ श्रीविदुरः ॥११४॥

इयमेव भक्तिः धर्म्मः प्रोज्झितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सतामित्यत्रोक्ता । अत्र सर्गो विसर्गश्चेत्यादौ दशलक्ष-

---

है । "भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यात्" इत्यादि श्लोक में अनेक प्रकार युक्ति दिखलाई गई है । और गति एवं सामान्य के द्वारा भी भगवद्भक्ति का अभिधेयत्व दिखलाया गया है । "इदं हि पुंसस्तपसः श्रुतस्य वा" इस श्लोक में निखिल साधन के मुख्यफल रूप में तथा "मुनिर्विवक्षुर्भगवत्गुणानां" इस श्लोक में निखिलसाध्य वा पुरुषार्थ के मुख्यफलरूप में कीर्त्तनरूप हरिभक्ति का उल्लेख किया गया है। अतएव भागवत् का मुख्य अभिधेय हरिभक्ति है इस में कोई सन्देह नहीं रहा है ॥११४॥

यह भक्ति इस भागवतशास्त्र में "धर्म्मः प्रोज्भितकैतवोऽत्र परमो निर्मत्सराणां सताम्" अर्थात् "निर्मत्सर साधुओं के मोक्षाभिसन्धि-प्रमुख कपट शून्य परम-धर्म करके वर्णित है" ऐसा इस द्वितीय श्लोक में कहा गया है । और "अत्र सर्गो विसर्गश्च स्थान-पोषणमूतयः"

त्यामपि सद्धर्म इत्येकलक्षणत्वेनोक्ता । तस्या अभिधेयत्वं श्रीभागवतबीजरूपायां चतुःश्लोक्यामप्युदाहृतम्—एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां यत् स्यात् सर्वत्र सर्वदेत्यादि । पूर्वं हि ज्ञानविज्ञ-नरहस्यतदङ्गानि वक्तव्यत्वेन चत्वार्य्येव प्रतिज्ञातानि तत्र चतुःश्लोक्यां प्राक्तनास्त्रयोऽर्था अपि क्रमेणैव प्राक्तनश्लोकत्रये व्याख्याताः । रहस्यशब्देन तत्र प्रेमभक्तिः तदङ्गशब्देन साधन-

---

इत्यादि श्लोक में उक्त परमधर्म का लक्षण भी किया गया है। अर्थात् महापुराण का जो दश लक्षण होना कहा गया है उन में से "ईशानुकथा" व्याख्या में "मन्वन्तराणि सद्धर्म्म" इत्यादि श्लोक में उक्त जो सद्धर्म है एवं भागवत-प्रतिपाद्य जो परम धर्म है वे दोनों एकार्थ वाचक हैं अर्थात् दोनों भक्ति का ही प्रति-पादन करते हैं। इस भागवत के बीजरूप चुतःश्लोकी में भी भक्ति का अभिधेयत्व बतलाया गया है। यथा-"एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः । अन्वय—व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्वत्र सर्वदा" इत्यादि। पहले भगवान्ने ज्ञान-विज्ञान- रहस्य एवं उस का अंग ये चार बात कहने के लिये प्रतिज्ञा की थी। उस चतुश्लोकी में ज्ञान,विज्ञान एवं रहस्य इन तीनों विषयों की क्रम से "अहमेवासमेवाग्रे" "ऋतेऽर्थं यत्प्रतीयते" 'यथा महान्ति भूतानि" इन श्लोक-त्रय में व्याख्या की गई है। उन प्रतिज्ञात चारों पदार्थों में से "रहस्य" शब्द का अर्थ प्रेमभक्ति एवं उस के अंग शब्द का अर्थ साधन-भक्ति है। यहाँ श्रील श्रीधरस्वामी-कृतटीका में-"रहस्यं भक्तिस्तदङ्गं साधनम्" अर्थात् रहस्य शब्द का अर्थ भक्ति एवं अंगशब्दका अर्थ उस प्रेमभक्ति प्राप्तिके उपायरूप श्रवण-कीर्त्तनादि साधनभक्ति है। अतएव क्रमप्राप्त करके "कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं

भक्तिरुच्यते । टीका च—रहस्यं भक्तिस्तदङ्गं साधनम् इत्येषा । ततः क्रमप्राप्तत्वेन, कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता । मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः ॥ इति भगवद्वाक्यानुसारेण च चतुर्थेऽस्मिन् पद्ये साधनभक्तिरेव व्याख्याता । अत्र च पुनर्व्याख्या विवरणायोत्थाप्यते । तथाहि, आत्मनः मम भगवतः तत्त्वजिज्ञासुना प्रेमरूपं रहस्यमनुभवितुमिच्छुना एतावन्मात्रं जिज्ञासितव्यं श्रीचरणेभ्यः शिक्षणीयम् । किन्तत्, यदेव मेव अन्वयेन विधिमुखेन व्यतिरेकेण निषेधमुखेन च स्यादुपपद्यते । तत्रान्वयेन यथा—एता-

---

वेदसंज्ञिता । मयादौ ब्रह्मणे प्रोक्ता धर्मो यस्यां मदात्मकः" अर्थात् हे उद्धव ! प्रलयकाल में विशुद्धभक्ति ग्रहण करने का उपयुक्त पात्र न रहने के कारण यह भक्ति-रूपिणी वेद नाम्नी वाणी अप्रकाशित थी । इस भगवदुपदेश-वाक्यानुसार भी "एतावदेव जिज्ञास्यं" इस चौथे श्लोक में साधन-भक्ति की व्याख्या की गई है । यहाँ पुनः विस्तार-व्याख्या के लिये श्लोक का उत्थापन किया जा रहा है । श्लोक यथा-- "एतावदेव जिज्ञास्यं तत्त्वजिज्ञासुनात्मनः । अन्वय-व्यतिरेकाभ्यां यत्स्यात् सर्व्वत्र सर्वदा" । व्याख्या यथा—आत्मनः अर्थात् भगवान् जो मैं हूँ उस मेरे प्रेम रूप रहस्य-तत्त्व के अनुभव के लिये जो इच्छा करता है वह गुरुचरणके निकट एतावन्मात्र ही जिज्ञासा करे । वह जिज्ञास्य विषय क्या है इस अपेक्षा से कहते हैं—जो एकमात्र बस्तु अन्वय अर्थात् विधिमुख से और व्यतिरेक अर्थात् निषेध-मुख से प्राप्त है । उनमें अन्वय-मुख से प्राप्ति यथा—(३।२५।४४) श्लोक में—"एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां निःश्रेयसोदयः । तीव्रेण भक्तियोगेन मनो मय्यर्पितं स्थिरम्" । इस श्लोक में भगवान् श्रीकपिलदेवजी ने अपनी माता से कहा है—हे मातः ! तीव्रभक्तियोग से मुझ में मन को अर्पण करने पर चंचल मन

वानेव लोकेऽस्मिन्नित्यादि, मन्मना भव मद्भक्त इत्यादि च। व्यतिरेकेण यथा-मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक् । य एषां पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम् । न भजन्त्यवजानन्ति स्थानभ्रष्टाः पतन्त्यधः । न मां दुष्कृतिनो मूढ़ा इत्यादि। यावज्जनो भजति नो भुवि विष्णुभक्तिवार्त्तासुधारसमशेष-रसैकसारम् । तावज्जरामरणजन्मशताभिघातदुःखानि तानि लभते बहुदेहजानी"ति पद्मपुराणे च कुत्र कुत्रोपपद्यते। सर्वत्र शास्त्रकर्त्तृदेशकरणद्रव्यक्रियाकार्य्यफलेषु समस्तेष्वेव। तत्र समस्तशास्त्रेषु यथा स्कान्दे ब्रह्मनारदसंवादे— संसारे-

---

स्थिर हो जाता है जो इस लोक में मनुष्य-मात्र की निःशेष' मङ्गल-प्राप्तिरूप है।"गीतामें भी—"मन्मना भव मद्भक्तोमद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे॥"अर्थात् हे अर्जुन! तुम मद्विषयक संकल्पयुक्त भक्त हों, मेरी पूजा करो, मेरा प्रणाम करो, तब तो मुझ को प्राप्त कर लोगे। मैं तुम से शपथ व प्रतिज्ञा करता हूँ, क्यों कि तुम मेरे प्रिय हो। इस प्रकार भजन करने पर तुम मेरे को प्राप्त करोगे, इत्यादि॥ व्यतिरेक-मुख से यथा—भागवत के (११।५।२-३) श्लोकों में श्रीचमस-योगीन्द्र ने निमिमहाराज से कहा है—हे राजन्! द्वितीय पुरुष के मुख—बाहु—उरु एवं चरणों से यथाक्रम सत्त्वगुण से ब्राह्मण, रजः सत्त्व गुण से क्षत्रिय, रजो तमो गुण से वैश्य तथा केवल तमो गुण से शूद्र ये चार वर्ण उत्पन्न हुए हैं। और उस पुरुष की जघा से गार्हस्थ्य, हृदय से ब्रह्मचर्य, वक्ष स्थल से वानप्रस्थ एवं मस्तक से संन्यास इन चार आश्रमों की उत्पत्ति हुई। इन चार वर्णों एवं चार आश्रमों में से जो

ऽस्मिन् महाघोरे जन्ममृत्युसमाकुले। पूजनं वासुदेवस्य तारकं वादिभिः स्मृतम् ॥ तत्राप्यन्वयेन यथा—भगवान् ब्रह्म कार्त्स्न्येन त्रिरन्वीक्ष्य मनीषयेत्यादि। तथा स्कान्दे— आलोड्य सर्वशास्त्राणि विचार्य्य च पुनः पुनः। इदमेकं सुनिष्पन्नं ध्येयो नारायणः सदेति। व्यतिरेकेण यथा—पारं गतोऽपि वेदानामित्यादिकं सर्वमवगन्तव्यम्। तच्चान्ते दर्शयिष्यते। सर्वकर्त्तृषु यथा—ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायाम् स्त्रीशूद्रहूनशवरा अपि पापजीवाः। यद्यद्भुतक्रमपरायणशीलशिक्षास्तिर्य्यग्जना अपि किमु श्रुतधारणा ये॥ इति। गारुड़े—कीटपक्षिमृगाणाञ्च हरौ सन्न्यस्तचेतसाम्।

भी अपने जनक, ईश्वर तथा परम पुरुष का भजन नहीं करते हैं अथच अवज्ञा करते हैं वे निजस्थान से भ्रष्ठ हो जाते हैं तथा अधः पतित हो जाते हैं॥ भगवद्गीता में भी कहा गया है—नराधम, मूढ़, दुष्कृतिजन माया से अपहृतज्ञान होकर आसुरभाव का आश्रय कर मेरी शरण नहीं ग्रहण करते हैं, इत्यादि। "इस पृथिवी में जन्म ग्रहण करके जब तक मनुष्य अशेष रसों के सार विष्णु-भक्ति-कथा-सुधारस सेवन नहीं करता है तब तक वह जन्म पर्यन्त देह धारण कर जरा-मरण-जन्मादि शत शत दुःख भोग करता है" इस प्रकार पद्मपुराण में कहीं कहीं उल्लेख है। उस प्रकार दोष-कीर्त्तन के द्वारा भगवद्भक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता दिखलाई गई। अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से सर्वत्र भगवद्भक्ति का सम्वाद प्राप्त है यह दिखलाया गया। समस्त शास्त्र में, समस्त कर्त्तृत्व में, समस्त देशों में, सर्वकरण में, सर्वद्रव्य में, समस्त-क्रिया में, समस्त कार्य में तथा समस्त फलों में जो प्राप्त है उसे एक एक प्रमाण के साथ कहते हैं। समस्त शास्त्र में भक्ति की अवश्य

ऊर्द्धमेव गतिं मन्ये किं पुनर्ज्ञानिनां नृणाम् ॥ इति । अत्रैव साचारे दुराचारे ज्ञानिन्यज्ञानिनि विरक्ते रागिणि मुमुक्षौ मुक्ते भक्त्यसिद्धे भक्तिसिद्धे तस्मिन् भगवत्पार्षदतां प्राप्ते तस्मिन्नित्यपार्षदे च सामान्येन दर्शनादपि सार्वत्रिकता । तत्र साचारे दुराचारे यथा—अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् । साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ इति । सदाचारस्तु किं वक्तव्य इत्यपेरर्थः । ज्ञानिन्यज्ञानिनि च—ज्ञात्वाज्ञात्वाथ ये वै मामित्यादि । हरिर्हरति

कर्त्तव्यता का निर्देश यथा-स्कन्दपुराण के ब्रह्मनारद सम्बाद में उल्लेख है--"जन्म--मृत्यु समाकुल इस भयानक संसार में वासुदेव का पूजन ही एक मात्र उद्धारकारी है ऐसा समस्त शास्त्रकर्त्ता ऋषिगण कहते हैं" इत्यादि । उन में अन्वय-मुख से यथा-(२।२।३४) श्लोक में श्री-शुकदेव ने परीक्षत् महाराजसे कहा है-भगवान् ब्रह्मा ने एकाग्रचित्तसे निखिलवेदों का तीनवार विचार कर यह स्थिर किया कि-समस्त वेदोंने जिस से भगवान् हरि में रति का उदय हो उसी का ही अवश्य कर्त्तव्य रूप से निर्देश किया है ॥स्कन्दपुराण में भी कहा गया---समस्तशास्त्रों का आलोड़न करने पर तथा पुनः पुनः विचार करने पर मुख्यतया यह सुनिष्पन्न हुआ है कि सर्वदा नारायण का ध्यान किया जावे, इत्यादि । व्यतिरेकमुख से यथा—"पारं गतोऽपि वेदानां" इस श्लोक में कहा गया है कि---सर्ववेदवित् होकर भी जो व्यक्ति जनार्दन श्रीहरि में भक्तिहीन है उस का समस्त अध्ययन वृथा है । ये समस्त विषय आगे बतलाये जायेंगे । अब सब ही भगवान् भक्ति में अधिकारी हैं उसे बतलाते हैं---श्रीमद्भागवत में (२।७।४६) श्लोक में ब्रह्माजी ने नारदजी से कहा है---स्त्री, शुद्र,हूण,शबरादि ऐसा कि पाप से उत्पत्ति वाले वेश्या-पुत्रादि यदि अद्भुत-पराक्रम--शील हरि के एकमात्र

पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृत इत्यादि । विरक्ते रागिनि च—बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः । प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते । अबाध्यमानस्तु सुतरां नाभिभूयत इत्यपेरर्थः । मुमुक्षौ मुक्ते च—मुमुक्षवो घोररूपान् इत्यादि । आत्मारामाश्च मुनय इत्यादि । भक्त्यसिद्धे भक्ति-सिद्धे च—केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः । अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्कर इति । न चलति भगवत्पदारविन्दाल्लवनिमिषार्द्धमपि स वैष्णवाग्र्य इति ।

आश्रित उन भगवद्भक्तों के स्वभाव का अनुशीलन करते हैं तो वे सब भगवत्तत्त्व जानने में एवं उन की माया का अतिक्रमण करने में निश्चय समर्थ होते हैं ।। अधिक क्या कहेंगे-- सुनो, हंस—गज—शुक-सारी-सर्पादि यदि भक्तसंग में रह कर उन के स्वभाव-आचार का अनुसरण कर सकते हैं तब वे भी भगवत्तत्त्व जानने में एवं माया से उत्तीर्ण होने में समर्थ हो जाते हैं । जब ऐसा ही है तो गुरुमुख से भगवान् के नाम-जपादि का उपदेश प्राप्त कर श्रवण-कीर्त्तनादि करने वाले मनुष्यों के बारे में कहना ही क्या है। गरुड़पुराण में कहा गया है--जब कि भगवान् में चित्त समर्पण करने पर कीट-पक्षी-मृग प्रभृति को भी उद्ध्वंगति लाभ होती है तब ज्ञानी मानवों के बारे में कहना ही क्या है ।। इत्यादि । सदाचारी, दुराचारी, ज्ञानी-अज्ञानी, विरक्त-विषयासक्त, मुमुक्षु-मुक्त, भक्ति सिद्ध भक्ति में असिद्ध, भगवत्पार्षदत्वप्राप्त एवं नित्यपार्षद सब में सामान्यरूप में भक्ति की व्याप्ति देखी जाती है, अतः भक्ति का सर्वत्राधिकार सिद्ध होता है । उन में सदाचारी एवं दुराचारी में यथा—गीता में कहा-दुष्कर्मरत सुदुराचारी यदि अन्य देवता का भजन न कर केवल मेरा

भगवत्पार्षदतां प्राप्ते—मत्सेवया प्रतीतं ते सालोक्यादि-चतुष्टयम् । नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः किमन्यत् कालविप्लुतम् ॥ इति । नित्यपार्षदे—वापीषु विद्रुमतटास्वमलामृताप्सु प्रेष्यान्विता निज-ने तुलसीभिरीशम् । अभ्यर्चती स्वलकमुन्नसमीक्ष्य वक्त्रमुच्छेषितं भगवतेत्यमताङ्गयच्छ्रीरिति । सर्वेषु वर्षेषु भुवनेषु ब्रह्माण्डेषु तेषां वहिश्च तैस्तैः श्रीभगवदुपासनायाः क्रियमाणायाः श्रीभागवतादिषु प्रसिद्धिः सिद्धैवेति सर्वदेशोदाहरणं ज्ञेयम् । सर्वेषु करणेषु यथा । मानसेनोपचारेण परिचर्य्य हरिं मुदा । परेऽवाङ्मनसागम्यं तं साक्षात्

ही भजन करता है तो साधु करके माना जावेगा और उसका यह व्यवहार उत्तम कहा जावेगा" ॥ यदि ऐसा ही है तो सदाचारी भक्त का कहना ही क्या है ? ॥ ज्ञानी एवं अज्ञानी में यथा—(११-११-३३) श्लोक में भगवान् ने आदेश किया है—"हे उद्धव ! मैं जिस परिमापक तथा यत्स्वरूपक हूँ उसे जानकर अथवा न जानकर ही अनन्य भाव से जो मेरा भजन करते हैं वे भक्ततम करके सम्मत हैं" ॥ अन्यत्र भी कहा गया है—दुष्टचित्त वाले मनुष्यगण यदि श्रीहरि का स्मरण करते हैं तब श्रीहरि उनके समस्त पापों का विनाश कर देते हैं ॥ यहाँ पापियों का भी हरिभक्ति में अधिकार बतलाया गया है । विरक्त एवं विषयासक्त में यथा—(६।१४।१७) श्लोक में भगवान् ने उद्धवजी से कहा—"हे उद्धव ! मेरा भक्त प्रारम्भ में विषयों से बाधित एवं अजितेन्द्रिय होने पर भी प्रायः समर्थ भक्ति के प्रभाव से विषयों से अभिभूत नहीं होता है एवं इन्द्रियों को जीत लेता है ।" श्लोक में "बाध्यमानोऽपि" शब्द प्रयोजित है । यहाँ अपि शब्द से तथा मुमुक्षु एवं मुक्तपुरुषकी भक्तिबृत्ति बतलाई जाती है । विषयासक्तजन का भी

प्रतिपेदिर इत्यादि । एवम्भूतवचने हि अस्तु तावद्बहिरिन्द्रियेण मनसा वचसापि तत्सिद्धिप्रसिद्धिः । सर्वद्रव्येषु यथा—पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति । तदहं भक्तुपहृतमश्नामि प्रयतात्मन इति । सर्वक्रियासु यथा—श्रुतोऽनुपठितो ध्यात आदृतो वानुमोदितः । सद्यः पुनाति सद्धर्म्मो देवविश्वद्रुहोऽपि हीति । यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोसि ददासि यत् । यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरुष्व मदर्पणमिति । एवं भक्त्याभासेषु भक्त्याभासापराधेष्वपि अजामिलमृषि-

---

भक्ति में अधिकार बतलाया जाता है । श्रीसूतजी ने शौनक के प्रति कहा है—हे शौनक ! अविद्या-बन्धन से मुक्त होने के लिये इच्छुक मुमुक्षु मानवगण भैरवादि घोरमूर्त्ति का परित्याग कर शान्तमूर्ति श्रीनारायण की विभूतियों की उपासना करते हैं अथच किसी अन्य देवता के प्रति दोषदृष्टि नहीं करते हैं ।। (१।२।२६) श्लोक में मुक्त-पुरुषों की भी हरिभक्ति में बृत्ति दिखलाई गई है । हे शौनक ! अहङ्कार रूप ग्रन्थि से निर्म्मुक्त आत्माराम मुनीश्वरगण भी हरिगुण से आकृष्ट होकर अहैतुक भक्ति करते हैं, श्रीहरि के गुण ऐसे ही हैं ।। भक्ति असिद्ध एवं भक्तिसिद्ध में यथा—"वासुदेव परायण कोई कोई केवला भक्ति-प्रभाब से सूर्य जिस प्रकार कुहासा को नष्ट कर देता है उस प्रकार निखिल पाप-राशि को विनष्ट कर लेते हैं ।" (६।१।१५) श्लोक में शुकदेवजी की परीक्षित् महाराज के प्रति यह उक्ति है ।। श्रीहरियोगीन्द्र ने निमिमहाराज से कहा है—(११।२।५१) श्लोक में-हे राजन् ! त्रिभुवन वैभव प्राप्ति की सम्भावना में भी हरिचरणगत जीवन वाला जिस का चित्त देवताओं से अन्वेषणीय भगवच्चरणारविन्द से लव निमषार्द्ध के लिये भी चलायमान नहीं होता है वह

कादयो दृष्टान्ता गम्याः। सर्वेषु कार्य्येषु यथा—यस्य स्मृत्या च नामोक्त्या तपोयज्ञक्रियादिषु। नूनं सम्पूर्णतां याति सद्यो वन्दे तमच्युतमिति। सर्वफलेषु यथा—अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीरित्यादि। यथा तरोर्मूल-निषेचनेनेत्यादिवाक्येन हरिपरिचर्य्यायां क्रियमाणायां सर्वेषामन्येषामपि देवादीनामुपासना स्वत एव सिध्यतीत्य-तोऽपि सार्वत्रिकता। यथोक्तं स्कान्दे ब्रह्मनारदसंवादे—

वैष्णवों में श्रेष्ठ है। प्रथम श्लोक में अजातरति-भक्त को द्वितीय श्लोक में जातरति वाले भक्तों की भक्ति-वृत्ति दिखलाई गई है।

भगवत्पार्षद देह प्राप्त भक्त में यथा-(९।४।६७) श्लोक में भगवान् वैकुण्ठेश्वर ने दुर्वासाजी के प्रति कहा है—हे मुनिवर! मेरे निष्कामी भक्तगण भक्तिप्रभाव से सालोक्यादि चार प्रकार मुक्ति स्वयं उप-स्थित होने पर भी वे उन में किसी की भी इच्छा नहीं करते हैं। क्यों कि वे मेरे सेवानन्द में परिपूर्ण रहते हैं। काल-नष्ट पदार्थों के इच्छा के बारे में कहना ही क्या है॥ नित्यपार्षदगण में भक्ति की वृत्ति यथा—(३।१५।२२) श्लोक में ब्रह्माजी देवगण के प्रति कह रहे हैं—हे देवगण! जहाँ के समस्त सरोवरों का जल अति स्वच्छ है तथा अमृत के समान स्वाद है, तट समूह प्रवालमय है। श्रीलक्ष्मी उस तट के निकटवर्त्ती अपने वन में उपवेशन करके दासियों के साथ तुलसी से श्रीविष्णु की पूजा कर रही हैं। अर्च्चन के समय सरोवर-जल में प्रतिविम्बित अपनी सुकुञ्चित सुन्दर केशावली एवं नासिका-युक्त श्रीमुख को देखकर मन में विचार करने लगती कि भगवान् नारायण मेरे मुख का चुम्बन कर रहे हैं॥ इस प्रमाण से नित्यसिद्धा लक्ष्मी में भक्ति का सम्बाद पाया जाता है। समस्त वर्षों में, समस्त भुवनों में, समस्त ब्रह्माण्डों में और ब्रह्माण्डों के बाहर समस्त

अर्च्चिते देवदेवेशे शङ्खचक्रगदाधरे । अर्च्चिताः सर्वदेवाः स्युर्यतः सर्वगतो हरिरिति । एवं यो भक्तिं करोति यद्गवादिकं भगवते दीयते येन द्वारभूतेन भक्तिः क्रियते यस्मै श्रीभगवत्प्रीणनार्थं दीयते यस्माद्गवादिकात् पय आदिकमादाय भगवते निवेद्यते यस्मिन् देशादौ कुले वा कश्चिद्भक्तिमनुतिष्ठति तेषामपि कृतार्थत्वं पुराणेषु दृश्यते इति कारकगतापि । एवं सार्वत्रिकत्वं साधितम् । सदातनत्वमाह

आवरणों में जितने मानव-गण हैं वे सब भगवान् की उपासना करते हैं वह बात भागवतादि शास्त्र में स्पष्टतया वर्णित है इस से सर्वदेश में हरिभक्ति की बृत्ति मौजूद जानना । अब सर्वकरण में भक्ति की बृत्ति यथा "आनन्द के साथ मानस उपचार से श्रीहरि का अर्च्चन करके महाभाग्यवान् मानवगणने अवाङ् मानस गोचर उन हरि का साक्षात् रूप से लाभ किया है" ॥ यहाँ अन्तःकरण के द्वारा भगवदुपासना का उल्लेख है । इस प्रकार वचन से बहिरिन्द्रिय, मन एवं वचन के द्वारा उनकी उपासना करने पर निश्चय भक्तिसिद्धि होती है ऐसी प्रसिद्धि है । सर्वद्रव्य में भगवद्भक्तिसिद्धि की उपयोगिता यथा—गीता में कहा है-"हे अर्जुन ! जो व्यक्ति भक्तियुक्त होकर भक्ति से संग्रहीत पत्र-पुष्प-फल-जल मुझ में अर्पण करता है मैं विशुद्ध चित्त से उस भक्तदत्त पत्र-पुष्पादि का भोजन करता हूँ" ॥

समस्त क्रियाओं में यथा–नारदजी (११।२।१२) श्लोक में भगवान् वासुदेव से कह रहे हैं—"हे वासुदेव ! भागवत धर्म के श्रवण से, गुरु-मुख से सुन कर पाठ करने से, ध्यान करने से, आदर करने से, अथवा अनुष्ठानकारी के अनुमोदन से विश्वद्रोही जन भी उसी क्षण पवित्र हो जाता है" ॥ भगवद्गीता में भी कहा है—"हे अर्जुन ! तुम जो करते हो तथा जो भोजन, जो हवन, जो दान एवं जो तपस्यादि करोगे उन सब

सर्वदेति । तत्र सर्गादौ यथा—कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं वेदसंज्ञिता इत्यादि । सर्गमध्ये बहुत्रैव । चतुर्विधप्रलयेष्वपि–तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदन्विति विदुरप्रश्ने । सर्वेषु युगेषु—कृते यद्ध्यायतो विष्णुं त्रेतायां यजतो मखैः । द्वापरे परिचर्य्यायां कलौ तद्धरिकीर्त्तनादिति । किं बहुना, सा हानिस्तन्महच्छिद्रं स मोहः स च विभ्रमः । यन्मुहूर्त्तं क्षणं वापि वासुदेवो न चिन्तयत इति वैष्णवे । सर्वावस्थास्वपि गर्भे श्रीनारदकारितश्रवणेन प्रह्लादे प्रसिद्धम् । बाल्ये श्रीध्रुवादिषु । यौवने श्रीमदम्बरीषादिषु । वार्द्धक्ये धृतराष्ट्रादिषु । मरणेऽजामिलादिषु । स्वर्गितायां श्रीचित्र-

---

को मुझ में अर्पित करे ।। इस प्रकार भक्ति-आभासों में तथा भक्त्याभासजात अपराधों में अजामिल एवं मूषिकादि का दृष्टान्त जानना । मरने के समय अजामिल निजपुत्र नारायण को प्लुतस्वर से आह्वान करने के कारण भक्ति प्राप्य वैकुण्ठधाम गमन करने लगा । यहाँ भक्त्याभास बतलाया गया है । भक्त्याभासजात अपराध का उदाहरण-एक चूहा दैववश भगवन्मन्दिर में निवास करता था तथा वह प्रतिदिन भगवान् की आरती की घृत संयुक्त बत्ती को अपने मुख से चुरा कर ले जाता था दैवात् एक दिन बत्ती ले जाने के समय मन्दिर के प्रदीप से लग जाने के कारण उस बत्ती में आग लग गई । वह तो मुख में आग लगने के कारण छटपटाने लगा तथा दाँतों से बत्ती को न छोड़ सका । उस से उसकी भगवान् के समक्ष मानो आरती करना बन गया । फल रूप में वह मर कर राजमहिषी हुआ । तब तो उसने बहुल दीपावली उत्सव कर भगवान् को प्रसन्न करने के फल से मरकर भगवद्धाम को प्राप्त किया । यहाँ भगवान् का

केत्वादिषु । नारकितायामपि—यथा यथा हरेर्नाम कीर्त्त-
यन्ति स्म नारकाः । तथा तथा हरौ भक्तिमुद्वहन्तो दिवं
ययुरिति श्रीनृसिंहपुराणात् । अतएवोक्तं दुर्वाससा—मुच्यते
यन्नाम्न्युद्यदिते नारकोऽपीति । तथा—एतन्निर्विद्यमानाना-
मिच्छतामकुतोभयम् । योगिनां नृप निर्णीतं हरेर्नामानु-
कीर्त्तनमित्यत्रापि । तत्र तत्र व्यतिरेकोदाहरणानि च
कियन्ति दर्श्यन्ते——किं वेदैः किमु शास्त्रैर्वा किम्बा तीर्थ-
निषेवनैः । विष्णुभक्तिविहीनानां किन्तपोभिः किमध्वरैः ॥
इति । किन्तस्य बहुभिः शास्त्रैः किन्तपोभिः किमध्वरैः ।
वाजपेयसहस्रैर्वा भक्तिर्यस्य जनार्द्दने ॥ इति बृहन्नारदीय-

आरत्रिक रूप भक्त्याभास तथा बत्ती चोरी जात अपराध दिखलाया गया । समस्त वैदिक तथा तान्त्रिक अनुष्ठान में भी भक्ति की वृत्ति मौजूद है यथा—जिनके स्मरण से तथा नाम ग्रहण से तपस्या-यज्ञादि समस्त क्रियाऐं सम्पूर्ण होती हैं उन अच्युत परमेश्वर को हम नमस्कार करते हैं ॥

समस्त फलप्राप्ति में भी भक्ति की वृत्ति यथा—उदार-बुद्धि वाले भगवान् के एकान्त भक्तगण निष्कामी हों अथवा सर्व कामना-विशिष्ट हों किम्बा मोक्ष की कामना करते हो वे तो तीव्र भक्तियोग से परम पुरुष का यजन करते रहते हैं ।

"यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादि वाक्य से हरि की परिचर्य्या किये जाने पर समस्त अन्य-देवताओं की उपासना स्वतः ही हो जाती है अतः इस से भक्ति की सार्वत्रिकता सिद्ध हुई । जैसा कि स्कन्दपुराण में ब्रह्मा तथा नारद-संबाद में-कहा गया है—शंख-चक्र-

पाद्मवचनादीनि । तथा—तपस्विनो दानपरा यशस्विनो मनस्विनो मन्त्रविदः सुमङ्गलाः । क्षेमं न विदन्ति विना यदर्पणं तस्मै सुभद्रश्रवसे नमो नमः ॥ न यत्र वैकुण्ठकथा-सुधापगा न साधवो भागवतास्तदाश्रयाः । न यत्र यज्ञेश-

---

धारी देवदेवेश श्रीहरि अर्च्चित होने पर समस्त देवगण स्वतः ही अर्च्चित हो जाते हैं । क्यों कि श्रीहरि सर्वगत हैं ॥ इस प्रकार जो भक्ति करता है, भगवान् के लिये जो गवादि दी जाती है, जिस द्वार-भूत से (अवलम्बन से)भक्ति की जाती है,भगवत्प्रसन्न के लिये जिसको दिया जाता है, जिन गौओं से दुग्ध लेकर भगवान् के लिये निवेदन किया जाता है, और जिस देश में अथवा जिस कुल में कोई भक्ति-अनुष्ठान करता है उन सब की कृतार्थता है, यह समस्त बात पुराणों में लिखी गई है अतः भक्ति की कारकगता सिद्ध हुई तथा सार्वत्रि-कत्व भी साधित हुआ । अब हरिभक्ति पहले थी, तथा वर्त्तमान में भी है एवं भविष्य में भी रहेगी इस बात को कहते हैं—स्वर्गादि में भक्तिबृत्ति यथा—"कालेन नष्टा प्रलये वाणीयं" इत्यादि (११।१४।३) श्लोक में प्रलय के पहले भागवत धर्म था यह उल्लेख है । स्वर्ग में भगवद्भक्ति की बातें बहुस्थल में कही गई हैं । चार प्रकार के प्रलय में भक्तिबृत्ति यथा—"तत्रेमं क उपासीरन् क उ स्विदनुशेरत" अर्थात् प्रलयकाल में परमेश्वर के शयन करने पर उनकी उपासना कौन करता है और उन में कौन कौन लीन होते हैं ?" इस श्लोक में विदुर प्रश्न से प्रलय समकाल में भी भगवद्भक्ति विद्यमान थी यह सिद्ध होता है । समस्त युगों में भी भगवद्भक्ति प्रवर्त्तित है इस बात को कहते हैं—भागवत के (१२।३।५२) श्लोक में कहा गया है—सत्ययुग में विष्णु के ध्यान से जो फल प्राप्त है, त्रेता में यज्ञों से भगवदाराधना में जो फल लाभ है तथा द्वापर में भगवान् की अर्चना से जिस फ़ल की

मखा महोत्सवाः सुरेशलोकोऽपि न वै स सेव्यताम् ॥ यथा च आनम्य किरीटकोटिभिः पादौ स्पृशन्नच्युतमर्थसाधनम्। सिद्धार्थ एतेन विगृह्यते महानहो सुराणाञ्च तमोऽधिगाढ्यताम् । सालोक्यसार्ष्टिसारूप्येत्यादि । न दानं न तपो नेज्ये-

उपलब्धि है, कलियुग में केवल भगवद् नाम कीर्त्तन से वह समस्त फल प्राप्त होता है। अधिक तो क्या कहना--"वही परम हानि है, वह ही परम छिद्र है, वही मोह है तथा वही महाविभ्रम है कि जिस मुहूर्त्त में किम्बा जिस क्षण में वासुदेव का चिन्तन नहीं किया जाता है।" इस विष्णुपुराण के श्लोक से सर्वक्षण ही हरिस्मरण की व्यवस्था की गई है। सर्वावस्था में भी भक्ति की वृत्ति यथा—गर्भावस्था में नारदजी ने प्रह्लादजी को हरिकथा का स्मरण कराया है। बाल्यावस्था से ध्रुवादि में हरिभक्ति देखी गई है। यौवन में अम्बरीष महाराज की, बार्द्धक्य में श्रीधृतराष्ट्र की तथा मरण समय में अजामिल की भक्तिवृत्ति स्पष्ट है। स्वर्ग प्राप्त होकर भी श्रीचित्रकेतु आदि ने भगवान् के नामादि का कीर्त्तन किया है। नारकी-अवस्था में भी हरिभक्ति की अनुवृत्ति शास्त्र में लिखी गई है। नृसिंहपुराण में कहा है—नारकी जीव गणों ने जिस जिस भाव से हरिनाम कीर्त्तन किया है उस उस भाव से स्वर्ग में गमन करने लगे।" यहाँ स्वर्ग पद का अर्थ वैकुण्ठ है। दुर्वासाजी ने भी कहा है—जिन के नाम ग्रहण से नारकी जीव भी मुक्त हो जाता है॥ और भी (२।१।११) श्लोक में कथन है—हे राजन् ! श्रीहरि का नाम-कीर्त्तन, फलाकांक्षी पुरुषों की फल प्राप्ति कराने में परम साधन है, मुमुक्षुओं का भी मोक्षसाधन एवं ज्ञानियों के ज्ञान का फल स्वरूप है। अतः साधक एवं सिद्ध किसी के पक्ष में नामकीर्त्तन से अन्य परम मंगल नहीं है॥ यहाँ विषयी, मोक्षार्थी एवं ज्ञानी-अवस्था में भगवद्भक्ति का अनुवर्त्तन है यह सूचित हो रहा

त्यादि । नैष्कर्म्म्यमप्यच्युतभाववर्जितमित्यादि । नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते इत्यादि च । अथ सदा सर्वत्र यदुपपद्यते इत्यादियोजनिकार्थो युगपद्यथा—तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदेत्यादि । अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदा यदुप-

---

है। हरिभक्ति की सर्वत्र एवं सर्वदा अनुवृत्ति जो है उसे व्यतिरेक अर्थात् निषेध मुख से बतलाते हैं—उस सम्बन्ध में यहाँ कुछ शास्त्र-प्रमाण दिये जा रहे हैं। विष्णु-भक्तिरहित जनों को वेदों से, शास्त्रों से, अथवा तीर्थ सेवन से, तपस्या से एवं यज्ञों से प्रयोजन क्या है? यहाँ विष्णु-भक्ति जिस की नहीं है उसके लिये वेद-शास्त्रादि फलप्रद नहीं है यह बतलाया जाता है।। इस बात को अन्वयमुख से कहते हैं—जिस की जनार्दन में भक्ति है उस के लिये बहु शास्त्रों से, तपस्याओं से, यज्ञों से तथा हजारों बाजपेयों की क्या आवश्यकता है? अर्थात् नहीं है। ये सब प्रमाण बृहन्नारदीयपुराण में तथा पद्म-पुराण में विद्यमान हैं। इस भागवत शास्त्र में भी उल्लेख है--(२।४।१७) श्लोक में शुकदेवजी ने कहा है—हे नाथ! तुम्हारे चरणों में भक्तिहीन जनों की समस्त साधनाएँ विफल मानी जाती हैं। ज्ञानी-गण, दानपरायण कर्म्मीगण, यशोलिप्सु कर्म्मीगण, मनस्वी योगीगण, मन्त्रजापकगण, सदाचारनिष्ठगण आप में तपस्यादि साधन का सम-र्पण न करने पर उन अनुष्ठित साधनाओं के फल-लाभ से वञ्चित होते हैं तथा विविध विघ्नों से उपद्रुत हो जाते हैं, उन सुमंगल यशः वाले भगवान् को नमस्कार है।। भागवत के (५।१९।२४) श्लोक में भक्ति के विना समस्त देश का हेयत्व बतलाया गया है। यथा—जहाँ हरिकथा-रूपी सुधा स्वधुनी प्रवाहित नहीं है, जहाँ हरिकथारसिक सदाचारी भगवद्भक्त निवास नहीं करते हैं, जहाँ यज्ञेश्वर प्रवर्त्तित यज्ञ अर्थात् हरिनाम संकीर्त्तन रूप महोत्सव नहीं होता है यदि वह स्वर्गलोक

पद्यत इत्यत्र यथा—स्मर्त्तव्यः सततं विष्णुर्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्करा इति। अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदा सर्वत्र यदुपपद्यत इति साकल्येन यथा—न ह्यतोऽन्यः शिवः पन्था इत्युपक्रम्य तदुपसंहारे,

---

भी हो तो उस की सेवा न करें ।। भागवत में भगवान् में भक्तिहीन-जन की निन्दा की गई है—(१०।५०।३०) श्लोक में श्रीशुकदेवजी कहते हैं—हे राजन् सुनो, देवराज इन्द्र की पहले नरकासुर को मारकर हमारी माता अदिति के कुण्डलादि को लाइये इस प्रकार प्रार्थना से श्रीकृष्ण नरकासुर को मार कर कुण्डलादि को लाकर अदिति को देने लगे । जब कि श्रीकृष्ण सत्यभामा की प्रार्थना से पारिजात बृक्ष को उखाड़ कर गरुड़ के ऊपर रखने लगे तो देवगण जिन्होंने कि अपनी स्वार्थसिद्धि के लिये किरीट कोटि के द्वारा चरण-स्पर्श कर प्रार्थना की थी वे देवगण आज साधारण पारिजात बृक्ष के लिये श्रीकृष्ण के साथ युद्ध में प्रवृत्त हुए । अहो देवताओं के ऐश्वर्यजनित तमोगुण को देखिये तो ।। (३।२९।१३) श्लोक पर कपिलदेवजी अपनी माता से कहने लगे—हे मातः ! हमारे भक्तगण दीयमान सालोक्य-सार्ष्टि-सारूप्य, सामीप्य एवं एकत्व ये पांच प्रकार मुक्ति का नहीं ग्रहण करते हैं वे तो केवल मेरी सेवा की प्रार्थना करते हैं ।।

(७।७।५२) श्लोक में श्रीप्रह्लादजी दैत्य-बालकों से कह रहे हैं—हे बालकगण ! दान, तपस्या, यज्ञ, शौच एवं ब्रत समूह श्रीहरि को सन्तोष नहीं कर सकते हैं । एक मात्र विशुद्ध भक्ति के द्वारा हरि प्रसन्न होते हैं, और अन्य साधनाओं को विडम्बना मात्र जानना ।। (१।५।१२) श्लोक में देवर्षि नारदजी श्रीकृष्ण-द्वैपायन से कहते हैं—निष्कर्मता रूप निरुपाधि ज्ञान भी यदि अच्युत-भाव-वर्ज्जित है तो वह शोभायमान नहीं होता है इत्यादि । (३।१५।४८) श्लोक में सन-

तस्मात् सर्वात्मना राजन् हरिः सर्वत्र सर्वदा। श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान्नृणामिति। नृणां जीवानामिति नृगतिं विविच्य कवय इतिवत्। एतदुक्तं भवति। यत् कर्म्म तत् सन्न्यासभोगशरीरप्राप्त्यवधि योगः सिद्धच-वधिः सांख्यमात्मज्ञानावधि ज्ञानं मोक्षावधि। तथा तथा

कादि-ऋषिगण वैकुण्ठनाथ से कहते हैं—जो तुम्हारे चरणों में एकान्त शरणागत हैं तथा जग-पवित्रकारी एवं रमणीयत्व के कारण कीर्त्तनीय कथा के आस्वादन में लम्पट हैं वे आत्यन्तिक प्रसाद रूप मुक्ति का आदर नहीं करते हैं अतः भययुक्त स्वर्गादि सुख के प्रति आदर की बात कहना ही क्या है॥ इन समस्त प्रमाणों के द्वारा अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से भगवद्भक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता एवं सर्वत्र और सर्वदा अनुवृत्ति दिखलाई गई है। अनन्तर (२।२।३६) श्लोक में "सदा सर्वत्र" यह जो दोनों पदों का युगपद् उल्लेख है उस से हरिभक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है। अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से "सदा" इस पद का अर्थ योजित कर जिसकी अवश्य-कर्त्तव्यता का प्रतिपादन है वह गुरुचरण समीप से अवश्य शिक्षणीय है इस प्रकार अर्थ का प्रमाण यथा—"स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु-र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित्" इत्यादि श्लोक। अर्थात् सर्वदा विष्णु का स्मरण करना कर्त्तव्य है, कभी विस्मरण नहीं होवे। निखिल कर्त्तव्य उपदेश एवं निषेध उपदेश विष्णुस्मरण एवं विस्मरण के किंकर हैं अर्थात् अनुगत हैं। इस श्लोक में अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से "सतत" यह पद योजित करके विष्णुभक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है। अन्वय एवं व्यतिरेक मुख से "सदा सर्वत्र" इन दो पदों को योजित करके साकल्य से भक्ति की जो अवश्य-कर्त्तव्यता दिखलाई गई उस विषय में प्रमाण यथा—(२।२।३३) श्लोक में शुक-

तत्तद्योग्यतादिकानि च सर्वाणि । एवं तेषु कर्मादिषु शास्त्रादिव्यभिचारिता ज्ञेया । हरिभक्तेस्तु अन्वयव्यतिरेकाभ्यां सदा सर्वत्र तत्तन्महिमभिरुपपन्नत्वात् तथाभूतस्य रहस्यस्याङ्गत्वं युक्तम् । अतो रहस्याङ्गत्वेन च ज्ञानरूपार्थान्तराच्छन्नतयैवेदमुक्तमिति । तदेवं श्रीभागवतं संक्षेपेणोपदेक्ष्यन्तं श्रीनारदं श्रीब्रह्मापि तथैव सङ्कल्पं कारितवान् ।

देवजी ने परीक्षित् महाराज से कहा है—हे राजन् ! संसार-सागर में प्रविष्ट जनों की मुक्ति के लिये तपस्या, अष्टांगयोगादि अन्य समस्त मार्ग समीचीन नहीं है परन्तु यह भक्तिमार्ग सर्वप्रकार से सुखमय एवं समीचीन है, जिसके अनुष्ठान से भगवान् वासुदेव में प्रेमलक्षणा भक्ति उत्पन्न होती है, इत्यादि उपक्रम करके "तस्मात् सर्वात्मना राजन् ! हरिः सर्वत्र सर्वदा । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त्तव्यो भगवान् नृणाम्" अर्थात् हे राजन् ! अतएव सर्वभाव से 'सर्व्वत्र एवं सर्वदा' भगवान् हरि की कथा का श्रवण करना, कीर्त्तन करना एवं स्मरण करना मानव मात्र का अवश्य कर्त्तव्य है" । इस उपसंहार श्लोक में "सदा एवं सर्वत्र" पद योजित करके हरिभक्ति की अवश्य-कर्त्तव्यता का प्रतिपादन किया गया है । श्लोक में "भगवान् नृणाम्" ऐसा कहा गया है । यहाँ "नृ" पद का अर्थ "इति नृगतिं विविच्य कवयो निगमावपनम् । भवत उपासतेऽङ्घ्रिमभवं भुवि विश्वसिताः" इस (१०।८७।२०) श्लोकोक्त प्रमाणानुसार जीवमात्र है । क्योंकि कर्म एवं ज्ञानमार्ग की भाँति भक्तिमार्ग में अधिकारीगत कोई भेद नहीं है। ऐसा कहा जाता है कि जो कर्म है वह तो संन्यास लक्षण त्यागमार्ग आश्रय पर्यन्त है अथवा अनुष्ठित कर्म के फल-भोग उपयोगी देहप्राप्ति तक है, योगसाधन सिद्धिप्राप्ति पर्यन्त है, सांख्यसाधन आत्मज्ञान पर्यन्त है एवं ज्ञान मोक्षप्राप्ति पर्यन्त है । उस उस भाव से उस उस

यथा हरौ भगवति नृणां भक्तिर्भविष्यति । सर्वात्मन्यखिलाधार इति सङ्कल्पय वर्णय ॥११५॥

सङ्कल्पय नियमेनाङ्गीकृत्य ॥२।७॥श्रीब्रह्मा नारदम्॥ ११५॥

श्रीनारदेनापि तन्महापुराणाविर्भावार्थं यथैवोपदिष्टम्—

अथो महाभाग भवानमोघदृक् शुचिश्रवाः सत्यरतो धृतव्रतः । उरुक्रमस्याखिलबन्धमुक्तये समाधिनानुस्मर तद्विचेष्टितम् ॥११६॥

साधनानुष्ठान की योग्यता प्रभृति की अपेक्षा रहती है एवं उन उन कर्मादियों की शास्त्रादि में व्यभिचारिता देखी जाती है। अर्थात् शास्त्रों में आरम्भ एवं परिसमाप्ति तथा योग्यतालाभ का उल्लेख किया गया है। परन्तु हरिभक्ति का आरम्भ एवं परिसमाप्ति नहीं है तथा अधिकारीगत योग्यता की कोई अपेक्षा नहीं है। अतः इस प्रकार हरिभक्ति प्रेमलक्षण वाले रहस्यतत्त्व के अंग रूप होने में उपयुक्त है। इसी लिये रहस्यवस्तु के अंग रूप होने के कारण ज्ञानरूप अर्थान्तर के द्वारा आच्छन्न करके भक्तिसाधन का उल्लेख किया गया है। क्यों कि— रहस्य शब्द का अर्थ गोपनीय है, जो गोपनीय बस्तु है उस का साधन भी गोपनीय होना चाहिये। ब्रह्माजी ने भविष्य में जगत् को उपदेश करने वाले नारदजी को उसी प्रकार संकल्प कराया है कि यथा— (२।७।५२)श्लोक में—हे वत्स तुम जो जगत् में भागवत के मर्म्मार्थ का उपदेश करोगे उस में अखिलाधार सर्वात्मा श्रीहरि में भक्ति का उदय हों इस प्रकार संकल्प अर्थात् नियम को अङ्गीकार करके करना ॥११५॥

श्रीनारदजी ने भी उस महापुराण के आविर्भाव के लिये ब्रह्मा के द्वारा आदेश प्राप्त संकल्पानुसार उसी प्रकार उपदेश किया है।

अथो अतः । नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितमित्याद्युक्तेः कारणात् । अत्र विचेष्टितानुस्मरणेनाखण्डैव भक्तिर्लक्ष्यते । अन्ते च——त्वमप्यदभ्रतश्रु विश्रुत विभोः समाप्यते येन विदां बुभुत्सितम् । प्रख्याहि दुःखैर्मुहुरर्दितात्मनां संक्लेशनिर्वाणमुशन्ति नान्यथा ॥११७॥

विदां विदुषाम् ॥१॥५॥श्रीनारदः श्रीव्यासम् ॥११६॥ ११७॥

(१।५।१३) श्लोक में देवर्षि नारदजी ने श्रीकृष्णद्वैपायन से कहा है— हे महाभाग ! आप अमोघ दृष्टिवाले हैं आपका पवित्रयश सर्वत्र फैला हुआ है एवं आप सत्य-निरत तथा धृतव्रत भी हैं। अतएव उरुक्रम भगवान् की अखिललीलाओं को समाधि-रूप-चित्त-एकाग्रता से अखिल जीवों के मायाबन्धन-बिमोचन के लिये निरन्तर स्मरण कीजिये ।११६।

श्लोक में "अथ" शब्द का अर्थ अतएव है । अर्थात् "नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्ज्जितम्" इस श्लोकोक्ति के कारण से श्रीहरिकथा-वर्णन ही मानव-मात्र का अवश्य कर्त्तव्य है यह बतलाया जा रहा है। यहाँ विविध-लीलाओं का निरन्तर अनुस्मरण करने के उपदेश के कारण अखण्ड भक्ति लक्षित हो रही है। श्रीनारदकृत उपदेश के अन्त में भी कहा गया है—हे अप्रतिहतज्ञानवाले ! आप भगवान् के सुविमल यशः का वर्णन कीजिये, जिस के अनुभव करने पर विज्ञ-जन—मात्र की जो बस्तुतत्त्व जानने की बलवती आकांक्षा है उस की परिसमाप्ति हो जाती है। भगवान् के कथा-कीर्त्तन से ही राशि-राशि दुःखों से पीड़ित मानवों की सम्यक् प्रकार से क्लेश-शान्ति हो सकती है ॥११७॥

श्लोक में "विदां" शब्द का अर्थ विदुषों का है। श्रीनारदजी ने श्रीव्यास के लिये कहा है ॥११७॥

श्रीव्यासोऽपि तन्महापुराणप्रचारणारम्भे भक्तिमेव परम-[श्रे]यःप्रदत्वेन समाधावनुभूतवानिति प्रथमसन्दर्भे दर्शितं [भ]क्तियोगेन मनसीत्यादिप्रकरणे । तथैव—को लाभ इति [प्र]श्नानन्तरं श्रीभगवतैव सम्मतम्—भगो मे इत्यादौ लाभो [म]द्भक्तिरुत्तम इति ॥११८॥

स्पष्टम् ॥११॥१९॥ श्रीभगवान् ॥११८॥

स्वगतं विचारयति स्म—किम्वा भागवता धर्मा न [प्रा]येण निरूपिताः । प्रियाः परमहंसानां त एव ह्यच्युत-[प्रि]याः ॥११९॥

स्पष्टम् ॥ १ ॥ ४ ॥ श्रीव्यासः ॥११९॥

श्रीव्यासजीने उस भागवत नामक महापुराण के प्रचारारम्भ में [भ]क्ति को ही परम मङ्गलप्रदरूप से समाधि के द्वारा अनुभव किया है [य]ह बात पहले तत्त्व-सन्दर्भ में दिखलाई गई है। "भक्तियोगेन मनसि" [इ]त्यादि विचार प्रकरण में। उस प्रकार "को लाभः" इस उद्धदजीकृत [प्र]श्न के उत्तर में भगवान् ने "भगो में ऐश्वरो भावो लाभो मद्भक्ति-[रु]त्तमः" अर्थात् "हे उद्धव ! मेरा ऐश्वर्य्यादि षाड्गुण्य भगवाची है, [मे]रे चरणों में भक्ति ही उत्तमलाभ है" इस प्रकार भक्ति का परम लाभ [रू]र के उल्लेख किया है ॥११८॥

अर्थ स्पष्ट है ॥११८॥

श्रीवेदव्यासजी ने भी अपने मन मन में इस प्रकार विचार किया [है] कि—मैंने तो भागवत-धर्म का बहुल रूप से वर्णन नहीं किया है, [इ]सी लिये मेरा चित्त प्रसन्नता को नहीं प्राप्त होरहा है। क्यों कि—[प]रमहंस आत्मारामों का तथा भगवान् का भी वह भागवत धर्म एकान्त [प्रि]य है ॥११९॥

अशेषोपदेष्टुरपि तदुपदेशेनैव भगवतः परम उत्कर्ष उच्यते। यथा—जितमजित तदा भगवन् यदाह भागवतं धर्म्ममनवद्यमिति ॥१२०॥

जितमित्यत्र भवतेति ज्ञेयम्। आहेत्यत्र तु भवानिति ॥६॥१६॥ चित्रकेतुः श्रीसङ्कर्षणम् ॥१२०॥

तदेवं भक्तेरेवाभिधेयत्वं स्थितम्। तत्र यद्बहुत्र कर्मादि-मिश्रत्वेन तद्धर्म उपदिश्यते, तत्तु तत्तन्मार्गनिष्ठान् भक्ति-सम्बधेन कृतार्थयितुं तानेव कांश्चिद्भक्त्यास्वादनेन शुद्धाया-मेव भक्तौ प्रवर्त्तयितुं चेति ज्ञेयम्। पुनश्च सर्वत्र तस्या

अशेष कर्त्तव्य उपदेश के कर्त्ता भगवान् के द्वारा ही भागवत-धर्म के उपदेश के कारण वह भागवत-धर्म परम उत्कर्ष लाभ कर रहा है। चित्रकेतु महाराजने भी अपने प्रभु संकर्षणदेव से कहा है-हे अजित! हे भगवन्! आप ने जब इस जगत् में आकर विशुद्ध भागवत-धर्म का उपदेश किया है तब तो निष्काम भक्ति-रसिक भक्तों को जीत लिया है ॥१२०॥

इस प्रकार अशेष-विशेष विचार के द्वारा भक्ति का अभिधेयत्व सिद्ध हुआ है। उन में से बहुशास्त्र में कर्म-ज्ञानादि मिश्ररूप से भाग-वत-धर्म का जो उपदेश देखने में आता है वह तो कर्मज्ञानादि-साधन-मार्ग में निष्ठाप्राप्त साधकों को भक्ति सम्बन्ध से कृतार्थ कराने के लिये एवं उन में से किसी किसी साधक को भगवद्भजनजनित आनन्दा-स्वादन के द्वारा विशुद्ध भक्ति में प्रवर्त्तित कराने के लिये उस प्रकार उपदेश हैं। पुनः समस्त शास्त्र में उस भक्ति का अभिधेयत्व प्रतिपादन करने के लिये यद्यपि भक्ति की व्याख्या की गई है तो भी अब क्रम-रीति से उस की व्याख्या होगी। सब के पक्ष में विशेष करके भक्तों के लिये भक्ति के विना अन्य कुछ करना कर्त्तव्य नहीं है इस अभिप्राय से

एवाभिधेयत्वं वक्तुं तदीयमहिमा पूर्वत्र व्याख्यातोऽपि क्रमेण व्याख्यायते। सर्वैरेव विशेषतः भक्तैरन्यत्तु न कर्त्तव्यमित्यभिप्रायेण। तत्र तस्याः परमधर्म्मत्वं सर्वकामप्रदत्वं च एतावानेव लोकेऽस्मिन्नित्यादौ अकामः सर्वकामो वा इत्यादौ सर्वासामपि सिद्धीनामित्यादौ च दर्शितमेव। स्कान्दे च सनत्कुमारमार्कण्डेयसंवादे—विशिष्टः सर्वधर्माणां धर्मो विष्ण्वर्चनं नृणाम्। सर्वयज्ञतपोहोमतीर्थस्नानैश्च यत् फलम्॥

है। (२।२५।४४) एतावानेव लोकेऽस्मिन् पुंसां" इस श्लोक में (२।७।१०) "अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम" इस श्लोक में एवं (१०।८१।१६) "सर्वासामपि सिद्धीनां" इत्यादि श्लोक में व्याख्या के द्वारा भक्ति का परमधर्मत्व तथा सर्वकामप्रदत्व दिखलाया गया है। स्कन्दपुराण में सनत्कुमारमार्कण्डेयसंवाद में कहा गया है–मनुष्यों के समस्त धर्मों का यह विशेष धर्म है कि–भक्ति पूर्वक भगवान्विष्णु का अर्च्चन किया जावे। समस्त यज्ञ-तपस्या-होम-तीर्थस्नानादि से जो फल मिलता है उस से कोटिगुण फल विष्णु-पूजन से प्राप्त है। उसलिये सर्व प्रयत्न से नारायण की अर्च्चना करें॥ ब्रह्मनारदसंवाद में भी—सहस्र सहस्र अश्वमेध करने पर जो फल प्राप्त है वह फल भक्तों की भक्ति से प्राप्त है। परन्तु भक्तिफल के समक्ष वह फल सामान्य माना जाता है॥ भगवद्भक्ति का निखिल अशुभ-विनाश में सामर्थ्य है। (६।१।१७) श्लोक में श्रीशुकदेवजी ने वर्णन किया है—यह पथ लोक में उपयुक्त है अर्थात् समिचीन है क्यों कि वह मङ्गलप्रद है, इस में कोई भय की शंका नहीं है, इस भक्तिमार्ग में विचरण करने वाले परम कृपालु एवं निष्कामी तथा नारायण-परायण होते हैं, इत्यादि॥

टीका—"इस भक्ति-मार्ग में ज्ञान-मार्ग की भाँति असहायता के हेतुभूत न भय है, न कर्ममार्ग की भाँति मत्सरादिवालों से भय है यह

तत् फलं कोटिगुणितं विष्णुं संपूज्य चाप्नुयात् । तस्मात् सर्वप्रयत्नेन नारायणमिहार्च्चयेत् ।। ब्रह्मनारदसंवादे च—अश्वमेधसहस्राणां सहस्रं यः करोति वै । न तत् फलमवाप्नोति मद्भक्तैर्यदवाप्यत इति ।। अशुभघ्नत्वमपि सघ्नोचिनो ह्ययं लोके पन्था इत्यादौ दर्शितम् । टीका च—अतो न ज्ञानमार्ग इवासहायतानिमित्तं भयं नापि कर्ममार्गवन्मत्सरादियुक्तेभ्यो भयमिति भाव इत्येषा । तथाच स्कान्दे द्वारकामाहात्मेच परमेश्वरवाक्यम्—मद्भक्ति वहतां पुंसाम् इह लोके परेऽपि वा । नाशुभं विद्यते लोके कुलकोटिं नयेद्दिवमिति । श्रीविष्णुपुराणे—स्मृते सकलकल्याणभाजनं यत्र जायते । पुरुषन्तमजं नित्यं व्रजामि शरणं हरिमिति । सर्वान्तरायनिवारकत्वमाहुः—तथा न ते माधव तावकाः क्वचिद्भ्रश्यन्ति मार्गात्त्वयि बद्धसौहृदाः । त्वयाभिगुप्ता विचरन्ति निर्भया विनायकानीकपमूर्द्धसु प्रभो ।।१२१।।

भावार्थ है ।" स्कन्दपुराण के द्वारकामाहात्म्य में परमेश्वर का वचन है कि—मेरी भक्ति को वहन करने वाले पुरुषों का इस लोक में अथवा परलोक में कोई अशुभ नहीं है । वह भक्ति तो कोटिकुलतक को स्वर्ग में ले जाती है । विष्णुपुराण में भी कहा है—"जिनके स्मरण से समस्त कल्याण उत्पन्न होता है उन अजमहान् पुरुष की मैं नित्य प्रति शरण लेता हूँ इत्यादि ।।

अब समस्त अन्तराय-निवारकत्व वारे में कहते हैं—(१०।२।३३) श्लोक पै । अर्थात्—हे माधव ! ज्ञानिगण जिस प्रकार साधनमार्ग से भ्रष्ट होते हैं उस प्रकार आप के जन परमार्थ से भ्रष्ट नहीं होते

पूर्वं येऽन्येरविन्दाक्ष इत्यादिना मुक्तानामपि भगवदनादरेण परमार्थभ्रंश उक्तः। भक्तानां स नास्ति इत्याह—तथेति। यथा पूर्वं आरूढ़परमपदत्वावस्थातोऽपि भ्रश्यन्ति तथा तावका मार्गात् साधनावस्थातोऽपि न भ्रश्यन्तीत्यर्थः। श्रीवृत्रगजेन्द्रभरतादीनां सज्जन्मतो भ्रंशेऽपि भक्तिवासनानुगतिदर्शनात्। "मुक्ता अपि प्रपद्यन्ते पुनः संसारवासनाम्।

है, क्यों कि उन का आप में बन्धुभाव अत्यन्त सुदृढ़ होता है एवं आप के द्वारा वे समस्तविघ्नों से रक्षित होकर अथच विघ्नों से जो महान् प्रबल हैं उनके मस्तक पर पाँव धरकर विचरण करते हैं।।१२१।।

पहले "योऽन्येऽरविन्दाक्षः" इत्यादि श्लोक के द्वारा जीवन्मुक्त महापुरुषों के भगवदनादररूप अपराध से परमार्थ-बस्तु से भ्रंश होने की बात कही गई है। परन्तु भक्तों का वह भ्रंशत्व नहीं है यह "तथा न ते माधव !" इस श्लोक से वतलाया रहे हैं। अर्थात् जैसा कि पहले कथित-परमपद में आरूढ़ अवस्था से ज्ञानिगण भ्रष्ट होते हैं उस प्रकार आप के भक्तगण मार्ग से अर्थात् साधनावस्था से भी भ्रष्ट नहीं होते हैं। श्रीवृत्र, गजेन्द्र, भरतादियों के सज्जन्म से अर्थात् भगवद्भजनोपयोगि शरीर से भ्रष्ट होना दिखा गया है परन्तु उन में भक्तिवासना की अनुगति रहने के कारण वह पतनत्व नहीं माना जावेगा। और 'मुक्ता अपि प्रपद्यन्ते पुनः संसारवासनाम्। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः" अर्थात् जीवन्मुक्त महापुरुषगण यदि अचिन्त्य महाशक्तिवाले भगवान् में अपराधी होते हैं तो वे पुनः कर्मराशि के द्वारा संसारबन्धन प्राप्त करते हैं" इस वचन से जीवन्मुक्तों की संसारवासना की अनुबृत्ति दिखी गई है। यहाँ एक बात और भी है कि—जीवन्मुक्त योगिपुरुषगण कभी कभी संसारदशा प्राप्त होते हैं परन्तु भगवत्परायण

यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिन:" ॥ इति तेषां तु पुन: संसारवासनानुगते: । यतस्त्वयि बद्धसौहृदा: सौहृदमत्र श्रद्धामार्गादिति साधकत्वप्रतीतेरेव । त्वद्बद्धसौहृदत्वादेव त्वयेत्यादि । तथोक्तम्—त्वां सेवतां सुरकृता इत्यादौ धाव-

---

भक्तगण कभी भी कर्म से लिप्त नहीं होते हैं । "जीवन्मुक्ता: प्रपद्यन्ते क्वचित्संसारवासनाम् । योगिनो न विलिप्यन्ते कर्मभिर्भगवत्परा:" यह श्लोक है । और भी—"नानुव्रजति यो मोहात् व्रजन्तं जगदीश्वरम् । ज्ञानाग्निदग्धकर्मापि स भवेद् ब्रह्मराक्षस:" अर्थात् "जो जन मोहान्ध होकर रथारूढ़ जगदीश्वर का अनुगमन नहीं करता है वह ज्ञानाग्नि से दग्धकर्मा होकर भी ब्रह्मराक्षस माना जावेगा ॥" इत्यादि वहु वाक्य विदद्यमान हैं । भक्तगण के अपतन होने का कारण वे आप में वद्ध-सौहृद हैं । यहाँ सुहृद्भाव का तात्पर्य श्रद्धामार्ग है । अर्थात् आप के प्रति उन का दृढ़विश्वास है अत: वे साधक माने जावेंगे अर्थात् उन की साधकत्व की प्रतीति हो रही है । (११।४।१०) श्लोक पर कहा गया है—हे प्रभो ! जो सब यज्ञस्थल में देवताओं के प्रति हवि प्रदान करते हैं उन सब कर्मियों के प्रति वे देवतागण कोई विघ्नाचरण नहीं करते हैं परन्तु जो देवतान्तर की अर्च्चना न कर केवल एकमात्र आप की अर्च्चना करते हैं उन के प्रति वे देवतागण नाना-विघ्न पौंचाते हैं । क्यों कि देवतागण विचार कर लेते हैं कि—अब तक तो ये सव हमारे पांव के नीचे रहै अब तो हरिभजनबल से हमारे मस्तक पर हो कर वैकुण्ठ जा रहे हैं । जिससे वे वैकुण्ठ में नहीं जाने पावें अत: उस में हम वाधा डारें ॥ भगवद्भक्तगण कभी विघ्नों से अभिभूत नहीं होते हैं । उस विषय में (११।२।३५) श्लोक पर कवियोगीन्द्र ने निमि—महाराज से कहा है—हे राजन् ! जिस भागवत् धर्म का आश्रय करने पर मनुष्य कभी विघ्नों से पराभूत नहीं होता है और श्रुति-स्मृति

निमील्य वा नेत्रे न स्खलेन्न पतेदित्यादौ च ॥ १० ॥ २ ॥
ब्रह्मादयो भगवन्तम् ॥१२१॥

तथा—न वै जातु मृषैव स्यात् प्रजाध्यक्ष मदर्हणम् ।
भवद्विधेष्वतितरां मयि सगृभितात्मनाम् ॥१२२॥

मयि संगृभितः संगृहीतो बद्धः आत्मा येषाम् । तथा बाध्यमानोऽपीत्यादिकमप्यत्रोदाहरणीयम् । अत्र प्रायो बाध्यमानत्वं कदाचित्तद्ध्यानादित आकृष्यमाणत्वमवगम्यते ।

ज्ञान रूप नेत्रद्वय का निमीलन कर धावित होने पर भी उस का भागवतधर्म से कभी स्खलन व पतन नहीं होता है ॥१२१॥

भगवान् ने कर्द्दमऋषि से कहा है—हे प्रजाध्यक्ष ! जिन्होंने मुझ में चित्त अर्पण किया है उन का अर्च्चन कभी विफल नहीं होता है, उन में आप जैसे महानुभावों की अर्च्चना के बारे में कहना ही क्या है ? ॥

व्याख्या—हे प्रजापते ! मुझ में संगृहीत अर्थात् बद्ध आत्मा जिन की। जैसा कि—(११।१४।१८) श्लोक में भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव ! हमारे अजितेन्द्रिय भक्तगण विषयों से बाध्यमान होकर भी प्रगल्भा भक्ति के प्रभाव से उन विषयों से अभिभूत नहीं होते हैं। यहाँ "बाध्यमान" पद वर्त्तमानकाल में प्रयोजित है और "अभिभूयते" यह क्रिया-पद भी वर्त्तमान-प्रयोग है। "न" निषेध में है अर्थात् जिस समय बाधित होते हैं उस समय विषयों से अभिभूत नहीं होते हैं। जिस प्रकार कि—ज्वरप्रतिषेधक औषध के सेवन से उस दिन ज्वर तो आता ही है परन्तु उस प्रकार अर्थात् पूर्वदिवस की भाँति अभिभूत नहीं कर पाता है। उसी प्रकार प्रायतः बाधित होने पर भी भगवद्ध्यानादि-प्रभाव से चित्त भगवान् के प्रति आकृष्ट रहता है। चित्त आकर्षण के प्रति विषय-वासना की क्षमता कम हो

तथाप्यनभिभूतत्वं, वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वर इत्यादिन्यायेन । तत्रापि भगवन्तं प्रति निजदैन्यादिनिवेदनादिना भक्तेरेवानुवृत्तिरिति ज्ञेयम् ॥३॥२१॥ श्रीशुकः कर्दमम् ॥१२२॥

दुष्टजीवादिभयनिवारकत्वमाह—दिग्गजैर्द्दन्दशूकेन्द्रैरभिचारावपातनैः । मायाभिः सन्निरोधैश्च गरदानैरभोजनैः । हिमवाय्वग्निसलिलैः पर्वताक्रमणैरपि । न शशाक यदा हन्तुमपापमसुरः सुतम् । चिन्तां दीर्घतमां प्राप्तस्तत् कर्त्तुं नाभ्यपद्यत: ॥१२३॥

जाती है एवं भगवान् के प्रति चित्त खिच जाता है ऐसा तात्पर्य है। यद्यपि विषयवासना चित्त को आकर्षित करती है तो भी "वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः" अर्थात् विषयभोग दुःख का कारण है यह जान लेता है परन्तु परित्याग में कुछ असमर्थ रहता है। उस अवस्था में भगवान् के प्रति वह अपने दैन्यादि का निवेदन करता है जिस से कि हरिभक्ति की अनुबृत्ति रहती है ॥१२२॥

अब भगवद्भक्ति दुष्टजीवादि के भय को निवारण करती है इस विषय में कहते हैं---हिरण्यकशिपु ने अपने पुत्र प्रह्लाद का बध करने के लिये नाना उपाय किये। दिग्गजों के द्वारा, विषधरसर्पसमूह के द्वारा, अभिचार-यज्ञों के द्वारा, पर्वतपातन के द्वारा, आसुरिकमायासमूह के द्वारा, गर्त्तावरोधन के द्वारा, विषभक्षण के द्वारा हिम-वायु-अग्नि-जल के बीच निक्षेप के द्वारा, अनाहार के द्वारा, पर्वत-क्षेपणादि के द्वारा अपने निष्पाप, भक्त, पुत्र प्रल्हाद का जब बध नहीं कर सका तब वह प्रतिकार का कोई उपाय न देखकर अत्यन्त चिन्तित हुआ ॥ (७।५।४३-४४)॥१२३॥

अत्र दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुरा इत्यादिकं वैष्णव-वचनजातमनुसन्धेयम् । न यत्र श्रवणादीनि इत्यादिकञ्च । यथा बृहन्नारदीये—यत्र पूजापरो विष्णोस्तत्र विघ्नो न बाधते । राजा च तस्करश्चापि व्याधयश्च न सन्ति हि । प्रेताः पिशाचाः कुष्माण्डा ग्रहा बालग्रहास्तथा ।। डाकिन्यो राक्षसाश्चैव न बाधन्तेऽच्युतार्च्चकमिति ।।७।।५।। श्रीनारदः श्रीयुधिष्ठिरम् ।।१२३।।

यहाँ "दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुरा" इत्यादि वैष्णव-वचन समूह का अनुसन्धान किया जावेगा । अर्थात् जब हस्ती प्रह्लादजी को वज्र से भी कठिन दांतों से निपीड़ित करने लगे तब कोमला भक्ति-शक्ति प्रभाव से वह कठिन दन्त-समूह तूल (रूई) से भी अति कोमल हो गया । इस प्रकार अग्नि चन्द्र से सुशीतल, विष अमृत से स्वादु इत्यादि समस्त विरुद्ध धर्म प्राप्त हुए । इस से भक्ति-शक्ति के निकट निखिल मायामयी जड़ाशक्ति पराभव प्राप्त हो जाती है यह दिखलाया जाता है ।। (१०।६।७) श्लोक में शुकदेवजी ने परीक्षित् महाराज से कहा है—हे राजन् ! जहाँ भक्तवत्सल श्रीहरि के राक्षस-विनाशकारी श्रवण-कीर्त्तनादि नहीं होता है वहाँ राक्षसीगण अपने प्रभाव विस्तार करने में समर्था होती हैं । इस प्रकार बृहन्नारदीय में कहा है—जहाँ विष्णु-पूजक भक्तगण अवस्थान करते हैं वहाँ विघ्न-समूह किसी प्रकार से बाधा-उत्पन्न नहीं कर सकता । न वहां कोई राजभय रहता है न तस्करभय । वहाँ कोई व्याधि भी नहीं ठहरती और प्रेतगण, पिशाचगण, कुष्माण्ड-ग्रहगण बालग्रहगण, डाकिनीगण, तथा राक्षसगण अच्युतप्रियके लिये कोई बाधा नही पहुँचा सकते हैं । (७।५) श्रीनारदजी ने युधिष्ठिर महाराज से कहा है ।।१२३।।

तथा—शारीरा मानसा दिव्या वेयासे ये च मानुषाः।
भौतिकाश्च कथं क्लेशा बाधेरन् हरिसंश्रयम् ॥१२४॥

एवमप्युक्तं गारुड़े—न च दुर्वाससः शापो वज्रश्चापि शचीपतेः। हन्तुं समर्थं पुरुषं हृदिस्थे मधुसूदन इति ॥३॥२२॥ श्रीमैत्रेयो विदुरम् ॥१२४॥

अथ पापघ्नत्वे तावदप्रारब्धपापघ्नत्वमाह——यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्। तथा मद्विषया भक्ति-रुद्धवैनांसि कृत्स्नशः ॥१२५॥

और भी-मैत्रेयजी ने विदुरजी से कहा है—हे व्यासनन्दन विदुर! शरीर, मानस (आध्यात्मिक), दिव्य (आधिदैविक), मानुष (आधि-भौतिक) आदि क्लेश-समूह हरिचरणाश्रित भक्तों के प्रति क्या बाधा-उत्पन्न कर सकता है ? अर्थात् नहीं ॥ गरुड़पुराण में भी कहा गया—"जिस पुरुष के हृदय में भगवान् मधुसूदन अवस्थान करते हैं उस पुरुष का दुर्व्वासाशाप एवं इन्द्र का भयंकर वज्र भी निधन नहीं कर सकता ॥ १२४ ॥

भगवद्भक्ति सर्वप्रकार--पापों को विनष्ट कर देती है। उन में अप्रारब्ध अर्थात् जिस का फलभोग-प्रारम्भ नहीं हुआ है उस पाप के बारे में कहते हैं—(११।१४।१९) श्लोक में भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव ! प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठ-समूह को भस्मीभूत कर लेती है उस प्रकार मद्विषयक भक्ति निखिल पापराशि को विनष्ट कर देती है ॥

टीका की व्याख्या—"जिस प्रकार पाक-कार्यादि सम्पादन के लिये प्रज्वलित अग्नि काष्ठ समूह को भस्मीभूत कर लेती है उस प्रकार वागादि इन्द्रियों के द्वारा किसी प्रकार प्रयोजित मद्विषयक-भक्ति समस्त पापों को विनष्ट कर देती है। यहाँ भगवान् अपनी

टीका च–"पाकाद्यर्थमपि प्रज्वालितोऽग्निर्यथा काष्ठानि भस्मं करोति तथा वागादिनापि कथञ्चिन्मद्विषया भक्तिः समस्तपापानीति भगवानपि स्वभक्तिमहिमाश्चर्य्येण सम्बोधयति, अहो उद्धव, विस्मयं शृण्वित्येषा।" पाद्मपातालखण्डस्थ–वैशाखमाहात्म्ये च—यथाग्निः सुसमिद्धार्चिः करोत्येधांसि भस्मसात्। पापानि भगवद्भक्तिस्तथा दहति

भक्तिमहिमा से स्वयं चमत्कृत होकर उद्धवजी को सम्बोधित करके कह रहे हैं हे उद्धव ! बड़ी विस्मय की बात है, सुनो" इत्यादि ॥ पद्मपुराण के पातालखण्ड के वैशाखमाहात्म्य में कहा गया है। "जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठ-समूह को भस्मीभूत कर लेती है उस प्रकार से भगवद्विषयक भक्ति पाप-समूह को उसी समय विनष्ट करती है"। यद्यपि अजामिलने संकल्प पूर्वक हरिनाम ग्रहण नहीं किया अर्थात् हरिनाम-ग्रहण से निखिल-पाप विनष्ट होगा इस प्रकार अनुसन्धानात्मक संकल्प उसका नहीं था तो भी पुत्रस्नेहवश उसने नारायण नाम का ग्रहण किया और जिस से उसने वैकुण्ठधाम की प्राप्ति की। विना-संकल्प व विनानुसन्धान से जो भगवन्नामादि ग्रहण करता है वह यम-यातना को प्राप्त नहीं होता है। नामादि ग्रहण में वर्णाश्रमादि का कोई नियम नहीं है जैसा कि—किसी प्रासाद (छत्त) से गिर कर, मार्ग में स्खलित होकर, भग्नगात्र होकर, सर्पादियों से दंशित होकर, ज्वरादि से सन्तप्त होकर अथवा दण्डादि से आहत होकर भी इस प्रकार विनानुसन्धान से कृष्ण नाम लेता है वह किसी प्रकार से यातना-प्राप्त नहीं होता है ॥

इस श्लोक में लिंगादि प्रत्यय का प्रयोग नहीं है। जिस प्रकार पूर्वमीमांसा में "पूषा प्रविष्टभागो यदाग्नेयाष्टाकपालो भवतीत्यादि वेद विधित्वमस्ति" अर्थात् पूषा प्रविष्ट भाग भी आग्नेय याग में अष्ट-

तत्क्षणादिति । यद्यपि हरिरित्यवशेनापि पुमान्नार्हति यातना-मित्यादौ लिङादिप्रत्ययविरहेऽपि पूषाप्रविष्टभागो यदाग्नेया-ष्टाकपालो भवतीत्यादिवद्विधित्वमस्ति, तस्माद् भारत सर्वात्मा भगवान् हरिरीश्वरः । श्रोतव्यः कीर्त्तितव्यश्च स्मर्त-व्यश्चेच्छताभयमित्यादौ साक्षाद्विधिश्रवणमप्यस्ति,तस्मादिति हेतुनिर्देशश्चाकरणे दोषं क्रोड़ीकरोति,तथापि विधिसापेक्षेयं न भवतीति, तथाभूतस्वभावाग्निलक्षणवस्तुदृष्टान्तेन सूचितम् ।

कपाल होता है यहाँ विधिलिङ्ग प्रयोग के अभाव में भी जिस प्रकार विधि-धर्म मौजूद है अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यता का बोधकत्व मौजूद है उस प्रकार यहाँ विधिलिङ्ग प्रयोग के अभाव में भी विधित्व-प्रति-बोधक है। विशेष करके (२।१।५) श्लोक में शुकदेवजी ने परीक्षित् महाराज से कहा है—हे भारत ! अतः सर्वात्मा भगवान् ईश्वर श्रीहरि मोक्षवाञ्छाकारी मनुष्यों के लिये अवश्य कीर्त्तितव्य हैं और स्मर्त्तव्य हैं। इत्यादि श्लोक में साक्षात् विधित्व मौजूद भी है। यहाँ "तस्मात्" यह हेतु निर्देश है अतः अकरण में प्रत्यवाय सूचित होता है। तो भी अननुसन्धान में दहनस्वभावक-अग्निलक्षण-बस्तु के दृष्टान्त के द्वारा वह भक्ति विधि-सापेक्ष नहीं हो सकती। अर्थात् विधि पूर्वक भक्ति-अनुष्ठान से फललाभ होगा ऐसा सिद्धान्त नहीं कर सकते हो। क्यों कि जिस तिस प्रकार से भी भक्ति-अनुष्टान किये जाने पर फललाभ अवश्य होता है। अतएव "यानास्थाय नरो राजन् !" इत्यादि श्लोक में "स्खलेन्न पतेदिह" एवं "नेत्रं निमील्य" इत्यादि वचन से अर्थात् श्रुतिज्ञान-स्मृतिज्ञान रहित होकर तात्पर्य विधि-अतिक्रमण करके भी यदि भक्ति-अनुष्ठान करता है तो वह स्खलित तथा पतित नहीं होगा इस प्रकार उल्लेख है। विशेष करके—"यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः" इस प्रकार दृष्टान्त के द्वारा भगवद्भक्ति के साधनान्तर का सापेक्षत्व,

अतएव यानास्थाय नरो राजन्नित्यादिकमपि दृश्यते। सुसिद्धार्चिरित्यनेन साधनान्तरसापेक्षत्वमशक्यसाध्यत्वं विलम्बितत्वञ्च निराकृतम्। तदेवं व्यक्तं पाद्मात्तत्क्षणादिति ॥११॥१४॥ श्रीभगवान् ॥१२५॥

तथा च—केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः। अघं धुन्वन्ति कार्त्स्न्येन नीहारमिव भास्करः ॥१२६॥

टीका च—"केचिदित्यनेनैवंभूता भक्तिप्रधाना बिरला इति दर्शयति। केवलया तपआदिनिरपेक्षया। वासुदेवपरायणा

अशक्य-साध्यत्व एवं विलम्बितत्व का निराकरण किया जाता है। अर्थात् भक्ति स्वयं अचिन्त्य-प्रभाव-शालिनी होने के कारण अन्य किसी साधन की अपेक्षा नहीं रखती, अपने साध्य प्रेम-प्रदान में सामर्थ्यहीना नहीं होती एवं प्रेमप्रदान में विलम्ब नहीं करती।

अतएव पद्मपुराण के पातालखण्ड के वृन्दावन-माहात्म्य में स्पष्ट उल्लेख है कि—"पापानि भगवद्भक्तिस्तथा दहति तत्क्षणात्" इत्यादि, अर्थात् भगवद्भक्ति उसी समय पापों को दहन कर देती है ॥१२५॥

और भी—(६।१।१५) श्लोक में शुकदेवजी ने परीक्षित् महाराज से कहा है—हे राजन्! कोई कोई सौभाग्यवान् वासुदेव-परायण भक्तजन निरपेक्षा-भक्ति प्रभाव से सूर्य जिस प्रकार कुहासा को नष्ट कर देता है उस प्रकार सम्पूर्ण रूप में पाप-राशिको नष्ट करते हैं ॥१२६॥

टीका की व्याख्या—"केचित्" इस पद से इस प्रकार भक्तिमार्ग-सम्प्रदायी अतिविरल हैं यह दिखलाया गया है। "केवला" शब्द से तपस्यादि निरपेक्षा भक्ति बतलाई जाती हे। "वासुदेवपरायणाः" यह पद अधिकारी-विशेषण नहीं है परन्तु अन्य साधारणजनों के भक्ति-

इति नाधिकारिविशेषणमेतत्, किन्तु अन्येषामश्रद्धया तत्रा-प्रवृत्तीरर्थात्तेष्वेव पर्य्यवसानादनुवादमात्रमित्येषा"। अत्र भास्करो हि केवलेन स्वरश्मिना स्वभावत एव नीहारं निःशेषं धुनोति न तदर्थं प्रयत्नतस्तथा वासुदेवपरायण अपि भक्त्येति ज्ञेयम्। किञ्च—न तथा ह्यघवान्राजन् पूयेत तपआदिभिः। यथा कृष्णार्पितप्राणस्तत्पुरुषनिषेवया॥१२७॥

टीका च—"एतच्च ज्ञानमार्गादपि श्रेष्ठमित्याह। न तथा पूयेत शुध्येत तत्पुरुषनिषेवया कृष्णे अर्पिताः प्राणा येने-त्येषा। अत्र प्रायश्चित्तं विमर्षणमिति ज्ञानस्यापि

मार्ग में अविश्वास रहने के हेतु उन की प्रबृत्ति नहीं है तथा वासुदेव-परायण जनों की अन्य-निरपेक्षा भक्ति में प्रबृत्ति है यह व्यक्त करता है जिसेकि अनुवाद मात्र जानना।" यहाँ तक टीका की व्याख्या है॥ सूर्य ही केवल अपनी रश्मि के द्वारा स्वभावतः ही नीहार (कुहासा) को विशेषरूप से नष्ट कर देता है, उस के लिये उस को पृथक् यत्न नहीं करना पड़ता है उस प्रकार वासुदेवपरायण भी भक्ति के द्वारा अघ नष्ट करते हैं—ऐसा जानना।

और भी कहते हैं—(६।१।१६) श्लोक में—हे राजन्! पापीजन तपस्या आदि के द्वारा उस प्रकार पवित्र नहीं होते हैं जिस प्रकार कि—श्रीकृष्ण में अर्पित-प्राण भक्तजन भगवद्भक्त की सेवा के द्वारा पवित्र हो जाते हैं॥१२७॥

टीका—"यह भक्तिमार्ग ज्ञानमार्ग से भी श्रेष्ठ है इसे कहते हैं—श्रीकृष्ण में प्राण-समर्पणकारी जिस प्रकार पवित्रता लाभ करता है तपस्यादि के द्वारा उस प्रकार नहीं।" इत्यादि। इस श्लोक के पहले "प्रायश्चित्तं विमर्षणं" इस श्लोक में ज्ञान का प्रायश्चित्त रूप से

[प्रा]यश्चित्तत्वं पूर्वमुक्तम् । तत एव टीकोक्तमेतच्चे त्यादि । [त]दा ऋतम्भरध्याननिवारिताघ इत्याद्युक्तया भगवद्ध्याननि-[वा]रितवृत्रहत्यापापस्येन्द्रस्य तस्वे ध्यादौ पुनरश्वमेधविधानं [सा]धारणलोके पापप्रसिद्धेरेव निवारणार्थमिति ज्ञेयम् । ननु [क]थं तदानीमप्याविर्भूतभगवत्प्रेमत्वात् परमभागवतस्य [वृ]त्रस्य हत्या भगवदाराधनेनापि गच्छतु, महदपराधोऽपि [भो]गैकनाश्यस्तत्प्रसादनाश्यो वेति मतम् । उच्यते––तथापि [भ]गवत्प्रेरणया तत्र प्रवृत्तस्येन्द्रस्य न तादृशो दोष इति तदाराधनमेव तत्र प्रायश्चित्तं विहितम् । श्रीभगवतापि तदासुरभावनिवारणायैव तथोपदिष्टमित्यनवद्यम् ॥ ६॥१॥ श्रीशुकः ॥१२६॥१२७॥

उल्लेख है । अतएव टीका में "यह ज्ञानमार्ग से भी श्रेष्ठ है" इस प्रकार कहा गया है । तब तो "ऋतन्तरध्याननिवारिताघः" (६।१३।१७) इस वचन से श्रीहरि के ध्यान से वृत्रासुरबधजात-पापनिबृत्ति होने पर भी इन्द्र के प्रति ब्रह्मर्षिगण ने अश्वमेधयज्ञ में प्रबृत्ति दी है उसे तो साधारणलोग में प्रसिद्ध पाप-प्रबृत्ति के लिये जानना । अर्थात् भगवद्-ध्यान से जो पाप निबृत्ति हुई है वह साधारण जन के गोचर नहीं है, उस के बोध के लिये अश्वमेधयज्ञ की प्रबृत्ति दी गई । यदि कहो कि–असुरदेह प्राप्ति के समय वृत्र का भगवान् में प्रेमाविर्भाव हो गया था, अतः उस की हत्या से किस प्रकार भगवदाराधन के द्वारा अपराध की निबृत्ति हो सकती है ? क्यों कि महदपराध तो भोग से तथा महदनु-ग्रह से नाश हो सकता है । इस का उत्तर यह है-यदयपि उस प्रकार शास्त्रसिद्धान्त है तो भी भगवत्प्रेरणा से वृत्रवध में प्रवृत्त इन्द्र का उस प्रकार दोष नहीं था, इसी लिये इन्द्र के प्रति उस समय भगवदाराधन

क्वचित् प्रारब्धपापपरिहारित्वमप्याह द्वाभ्याम्—यन्नाम-
धेयश्रवणानुकीर्त्तनाद्यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नुदर्शनात्।
अहो वत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्।
तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्य्या ब्रह्मानूचुर्णाम गृणन्ति ये
ते ॥१२८॥

टीका च—यन्नामधेयस्य श्रवणमनुकीर्त्तनञ्च तस्मात् क्वचित् कदाचिदपि श्वानमत्ति इति श्वादः स्वपचः सोऽपि

का विधान बतलाया गया है। भगवान् ने भी वृत्र के आसुरभाव निवारणार्थ इन्द्र के प्रति उस को वध करने का आदेश दिया है ॥१२७॥

कहीं भगवद्भक्ति प्रारब्धपाप का परिहार कर लेती है उस बात को दो श्लोकों से कहते है—भगवान् कपिलदेव के प्रति माता देवहूति-ने कहा है—हे भगवन् ! तुम्हारे नाम-श्रवण-कीर्त्तन से, चरणों में प्रणाम से तथा स्मरण से कहीं श्वाद अर्थात् कुत्ते को खाने वाला भी सवनयाग करने की योगयता लाभ करता है तो साक्षात् दर्शन का कहना ही क्या है ? अहो ! जिन के जिह्वाग्र में तुम्हारा नाम विद्यमान है वे श्वपच भी गुरुजन की भाँति पूजनीय तथा आदरणीय हैं। मानो उन्होंने समस्त तपस्या, सर्वयज्ञ, समस्त तीर्थस्नान, समस्त भगवत्स्वरूप का अर्च्चन एवं निखिल वेदाध्ययन किये हैं ॥

टीका—जिन के नाम के श्रवण अनुकीर्त्तन से कुत्ते को खाने वाला श्वाद अर्थात् श्वपच भी सवन-याग के लिये योग्य होता है। क्यों योग्य होता है उस का प्रतिपादन करते हैं—"अहो बत" इस श्लोक से। जिन के जिह्वाग्र में तुम्हारा नाम विद्यमान है वे श्वपच गरीयान हैं अर्थात् गुरु के समान पूज्य हैं, क्यों पूज्य हैं तो कहते हैं-

स्रवनाय कल्पते योग्यो भवति। तदुपपादयति अहो वत इत्याश्चर्य्ये यस्य जिह्वाग्रे तव नाम वर्त्तते स श्वपचोऽपि अतो अस्मादेव हेतोर्गरीयान् यद्यस्मात् वर्त्तते इति वा। कुत इत्यत आह त एव तपस्तेपुरित्यादिका। त्वन्नामकीर्त्तने तपआद्यन्तर्भूतमतस्ते पुण्यतमा इत्यर्थ इत्यन्ता। उद्धवं प्रति श्रीभगवता चोक्तम्—भक्तिः पुनाति मन्निष्ठा श्वपाकानपि सम्भवादिति। अत्र जातिदोषहरत्वेन प्रारब्धहारित्वं स्पष्टम्। एवं प्रारब्धपापहेतुव्याध्यादिहरत्वञ्च स्कान्दे—आधयो व्याधयो यस्य स्मरणान्नामकीर्त्तनात्। तदैव विलयं यान्ति तमनन्तं नमाम्यहमिति। उक्तञ्च नामकौमुद्यां प्रारब्धपापहरत्वं क्वचिदुपासकेच्छावशादिति ॥३॥ ३३॥ श्रीदेवहूतिः ॥१२८॥

उन्हों ने समस्त तपस्यादि की है। तपस्यादि समस्त तुम्हारे नाम—कीर्त्तन के अन्तर्भूत है। अतः वे पुण्यतम हैं।" यहाँ तक टीका की व्याख्या हुई। भगवान् ने उद्धवजी के प्रति कहा है--(११।१४ अध्याय) हे उद्धव ! निष्ठादशाप्राप्त मेरी भक्ति श्वपाक को भी जाति-दोष से शोधित कर लेती है। यहाँ जातिदोष हरण के कारण प्रारब्ध-हारित्व स्पष्ट है। इस प्रकार प्रारब्ध-पापहेतुक व्याध्यादिहरणत्व का उल्लेख स्कन्दपुराण में है यथा—जिन के स्मरण से, कीर्त्तन से आधि-व्याधि समस्त विलय प्राप्त होते हैं उन अनन्त भगवान् को हम नमस्कार करते हैं ॥ नामकौमुदीग्रन्थ में कहा गया है—कभी किसी अधिकारी विशेष को लेकर उपासक की इच्छा से ही भगवद्भक्ति के प्रारब्धपाप-हारित्व का उल्लेख है ॥१२८॥

तद्वासनाहारित्वमाह—तैस्तान्यघानि पूयन्ते तपोदान-व्रतादिभिः । नाधर्म्मजं तद्धृदयं तदपीशाङ्घ्रिसेवया ॥१२९

अधर्म्माज्जातं तेषामघानां हृदयं संस्काराख्यं न शुध्यति तदपीशाङ्घ्रिसेवया शुध्यतीत्यर्थः । पाद्मे च—अप्रारब्ध-फलं पापं कूटं वीजं फलोन्मुखम् । क्रमेणैव विलीयन्ते विष्णु-भक्तिरतात्मनाम् ॥ इति । अप्रारब्धफलं वक्ष्यमाणेभ्यो-ऽन्यत् । वीजत्वोन्मुखं कूटं, वीजं प्रारब्धत्वोन्मुखं फलोन्मुखं प्रारब्धमित्यर्थः ॥६॥२॥ श्रीविष्णुदूता यमदूतान् ॥१२९॥

अविद्याहरत्वमाह—त्वं प्रत्यगात्मनि तदा भगवत्यनन्त आनन्दमात्र उपपन्नसमस्तशक्तौ । भक्तिं विधाय परमां

अब हरिभक्ति पापप्रवृत्ति को नष्ट कर देती है इस बारे में कहते हैं—(६।२।१७) श्लोक में श्रीविष्णुदूतगण यमदूत से कहते हैं—हे यमदूत-गण ! तपस्या, दान एवं व्रतादि के द्वारा उन के समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं परन्तु अधर्म से उत्पन्न पापी का मलिनचित्त शोधित नहीं होता है अर्थात् उन पापों का संस्कार नष्ट नहीं होने पाता है । वह तो हरिचरण की सेवा में होता है । पद्म-पुराण में कहा है-अप्रारब्ध फल वाला पाप, कूट, बीज एवं फलोन्मुख ये समस्त पाप विष्णुभक्तिनिष्ठ जनों के क्रम से बिलय होते हैं । अप्रारब्धफल का अर्थ वक्ष्यमाण पाप-राशि से भिन्न पाप है । बीजत्व उन्मुख अवस्था कूट है, बीजशब्द का अर्थ प्रारब्ध-उन्मुख-अवस्था है ॥१२९॥

अविद्याहरत्व का उदाहरण यथा—तुम अनन्त स्वरूप, विशुद्ध-आनन्दमूर्तिवाले, सर्वशक्तियुक्त, परमात्मा भगवान् में परमा भक्ति लाभकर क्रम से "मैं एवं मेरा" इस भाव से बंधी हुई अविद्या-ग्रन्थि

ज्ञानकैरविद्याग्रन्थिं विभेत्स्यसि ममाहमिति प्ररूढ़म् ॥१३०॥

तथा च पाद्मे — कृतानुयात्रा विद्याभिर्हरिभक्तिरनुत्तमा । अविद्यां निर्दहत्याशु दावज्वालेव पन्नगीमिति ॥४॥११॥ श्रीमनुध्रुवम् ॥१३०॥

सर्वप्रीणनहेतुत्वमुक्तं यथा तरोर्मूलनिषेचनेन इत्यादि । तथाह—सुरुचिस्तं समुत्थाप्य पादावनतमर्भकम् । परिष्वज्याह जीवेति वाष्पगद्गदया गिरा । यस्य प्रसन्नो भगवान् गुणैर्मैत्र्यादिभिर्हरिः । तस्मै नमन्ति भूतानि निम्नमाप इव स्वयम् ॥१३१॥

का भेदन करने में समर्थ होगे ॥ (४।९।४६-४७) श्लोकों में मैत्रेयजी विदुरजी से ध्रुवप्रसंग को लेकर कह रहे हैं ॥ पद्मपुराण में भी इस प्रकार उल्लेख है कि–स्वायम्भुवमनु ने ध्रुव से कहा है । वत्स ! जब भक्तहृदय में उत्तमा भक्ति आ जाती है तब विद्यादि शुभ-वृत्तियाँ उस के पीछे-पीछे अनुगमन करती हैं । जिस प्रकार दावानल सर्पिणी को भस्मसात् कर लेता है उस प्रकार उत्तमा-भक्ति अविद्या को निःशेष रूप से दहन करती है ॥१३०॥

सर्वप्रीणनहेतुत्व "यथा तरोर्मूलनिषेचनेन" इत्यादि श्लोक में कहा गया है । जैसा कि—जब कि ध्रुव भगवद्दर्शन के उपरान्त लौट कर गृह में आ रहा है उस समय मार्ग में समागत विमाता सुरुचि प्रणत ध्रुव को उठा कर आलिङ्गन कर वाष्परुद्ध कण्ठ से जीते रहो इस प्रकार कहने लगी । क्यों कि जिस के प्रति मैत्र्यादि गुणों से भगवान् श्रीहरि प्रसन्न होते हैं उस को समस्त प्राणी निम्नगामी जल की भाँति प्रणाम करते हैं ॥ पद्मपुराण में कहा है—जिस ने हरि का

सुरुचिर्निजविद्वेषिणी मातुः स्वपत्न्यपि । तं भगवदाराधनतः आगतं श्रीध्रुवम् । यथा पाद्मे---येनार्चितो हरिस्तेन तर्पितानि जगन्त्यपि । रज्यन्ति जन्तवस्तत्र जङ्गमाः स्थावरा अपीति ॥४॥६॥श्रीमैत्रेयः ॥१३१॥

ज्ञानवैराग्यादिसर्वसद्गुणहेतुत्वमुक्तम् । यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः । हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणाः इत्यादिना । स्वर्गापवर्गभगवद्धामादि-

---

अर्च्चन किया है उसने समस्त जगत् को तृप्त करलिया है। उस के प्रति स्थावर जङ्गम समस्त जन्तु अनुरञ्जित होते हैं ॥१३१॥

अब भक्ति के ज्ञान-वैराग्यादि सर्व साद्गुण्यहेतुत्व के बारे में कहते हैं—(३।१८।१२ श्लोक में) हे असुरगरा ! जिसकी भगवान् में अकिञ्चना भक्ति है बहाँ समस्त गुरा उपस्थित रहते हैं और जो हरिभक्त नहीं है उसमें वे सब महान् गुण कैसे आ सकते हैं ? ॥ और भी कहते हैं—स्वर्ग-अपवर्ग एवं भगवद्धामदि समस्त आनन्दमय रूप से अनुभूत होते हैं। "यत्कर्म्मभिर्यत्तापसा" इत्यादि श्लोक में वह कहा गया है।

भगवद्भक्ति स्वतः ही परमानन्द प्रदान करती है, जिस से कर्म ज्ञान, योग आदि साधन के प्रति तथा उन साधनाओं के प्राप्य बस्तु में तुच्छता बुद्धि उत्पन्न हो जाती है। जैसा कि—(११।१४।१७) श्लोक में श्रीकृष्णने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव ! हम में आत्म-समर्पणकारी हम से अतिरिक्त पारमेष्ठ्यसुख, इन्द्रसुख, सार्वभौमसुख, रसातलाधिपत्यसुख, अष्टांगयोग से अठारह सिद्धि-सुख तथा ब्रह्मकैवल्यसुख कुछ ही नहीं चाहते हैं अधिक क्या कहेंगे—अन्य जो भी कुछ साध्य वस्तु है उन सब को नहीं चाहते हैं वे तो अकिञ्चना भक्ति—प्राप्य

सर्वानन्दहेतुत्वमप्युक्तम् । यत् कर्म्मभिर्यत्तपसा इत्यादिना । स्वतः परमसुखदानेन कर्मादिज्ञानान्तसाधनसाध्यवस्तूनां हेयत्वकारितामाह—न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्व-भौमं न रसाधिपत्यम् । न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत् ॥१३२॥

रसाधिपत्यं पातालादिस्वामित्वम् । अपुनर्भवं ब्रह्मकैवल्यरूपं मोक्षम् । किं बहुना यत्किञ्चिदन्यदपि साध्यजातं

निखिल-पुरुषार्थश्रेष्ठ मुझको चाहते हैं। क्यों कि उन्होंने तो मुझ में आत्मसमर्पण किया है ॥१३२॥

अनन्तर भक्ति के निर्गुणत्व प्रति-पादनार्थ भगवदर्पित कर्म से आरम्भकर समस्त साधनों का सगुणत्व प्रतिपादन करते हुए कह रहे हैं। (११।२५।२३) श्लोक में श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव ! सुनो, मुझमें अर्पित कर्म, ऐहिक-पारलौकिक सुखभोग में कामना-रहित निजकृत कर्म सात्त्विक है, फल संकल्पयुक्त कर्म राजस है और हिंसा-दम्भ-मात्सर्यादि वशवर्त्ती होकर जो किया जाता है वह तामस है। अब अन्यान्य अनुष्ठान-समूह को त्रिगुणान्तर्गत कहने के लिये चतुर्थ-कक्षामें साक्षात् भक्ति का निगुर्णत्व बतलाते हैं। हे उद्धव ! बाल-मूकादि के समान ज्ञान तामस है, देहादि विषयक ज्ञान राजस है, कैवल्य ज्ञान अर्थात् निर्विशेष ब्रह्म के साथ शुद्धजीव की अभेद-भावना सात्त्विक-ज्ञान है। परन्तु मन्निष्ठ ज्ञान निर्गुण जानना चाहिये। केवल "त्वं" पदार्थ जीवचैतन्यज्ञान में कैवल्य की सम्भावना नहीं हो सकती "तत्" पदार्थज्ञान के विना। सत्त्वयुक्त-चित्त में पहले शुद्ध सूक्ष्म जीव-चैतन्य प्रकाश पाता है। उसके बाद उस चित्त में चैतन्यसाम्य में अभेद एकाकार रूप से पूर्ण ब्रह्म-चैतन्य अनुभूत होता है।

तत् सर्वं नेच्छत्येव किन्तु मत् मां विना तादृशभक्तिसाध्यं मामेव सर्वपुरुषार्थाधिकमिच्छतीत्यर्थः । मय्यर्पितात्मा कृतात्मनिवेदनः ॥११॥१४॥ श्रीभगवान् ॥१३२॥

अथ साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वं वक्तुं भगदर्पितकर्मारभ्य सर्वेषां तावत् सगुणत्वमाह एकेन—मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं

यद्यपि जीव-चैतन्य अणु है एवं ब्रह्म-चैतन्य विभु है, इस कारण से दोनों में भेद है तो भी चैतन्यांश में दोनों के अभेद के हेतु ब्रह्म-चैतन्य के साथ जीवचैतन्य का एकाकार अनुभव होता है। अतः सत्त्वगुण में कैवल्यज्ञान की प्रचुरता के कारण कैवल्यज्ञान को सात्त्विक कहा जाता है। भगवद्गीतोपनिषद् में भी "सत्वात् संजायते ज्ञानं" अर्थात् "सत्त्वगुण से ज्ञान की उत्पत्ति होती है" इस प्रकार उल्लेख है। परन्तु सत्वादि के विद्यमानत्व में भी भगवद्विषयक ज्ञान का अभाव देखने में आता है। (६।१४।२) एवं (५) वें श्लोक में परीक्षित महाराज ने श्रीशुकदेवजी से कहा है—हे प्रभो! देवगण एवं शुद्धसत्त्ववाले अमलात्मा ऋषिगणों में प्राय करके मुकुन्दचरण की भक्ति का उदय नहीं होता है। सहस्र सहस्र मुक्त-महापुरुषों में किसी एक की सिद्धि होती है और कोटि कोटि सिद्ध प्रशान्तात्मा महापुरुषों में से नारायण-सेवा परायण भक्त सुदुर्लभ होता है। अतएव देवगण एवं ऋषिगण में सत्वादि सद्गुण की सत्ता रहने पर भी भक्ति का अभाव है। (६।१४।१) श्लोक में "हे ब्रह्मन्! रजस्तमः स्वभाववाले पापात्मा वृत्त की भगवान् नारायण में किस प्रकार रति हुई?" इस परीक्षित् महाराज की उक्ति में सत्वादि सद्गुण के अभाव में भी भगवान् में भक्ति-सत्ता देखने में आती है। अतः सत्व, रज एवं तमोगुण भगवद्भक्ति का कारण नहीं है यह स्पष्ट है। परन्तु इस प्रश्न के उत्तर में श्रीशुकदेवजी ने वृत्रासुर का पूर्वजन्म में (चित्रकेतु जन्म में) श्रीनारद, अङ्गिरा आदि साधुओं

निजकर्म्म तत्। राजसं फलसङ्कल्प हिंसाप्रायादि तामसम् ॥१३३॥

मयि अर्पणं यस्य मदर्पितमित्यर्थः। निष्फलं निष्कामम्। फलं सङ्कल्पचते यस्मिन् तत्। आदिशब्दाद्दम्भमात्सर्य्या-

का संग होना बतला कर "नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि" इस श्लोक से अर्थात् जब तक निष्किञ्चन महापुरुषों की चरणधूलि से अपने को अभिषिक्त करने की प्रार्थना नहीं की जाती तब तक इन सब गृहव्रतीगण की मति श्रीगोविन्दचरण में स्पर्शित नहीं हो सकती" इस प्रह्लाद के वचन से भगवत्कृपा-परिमल के पात्र श्रीमहत् जन का संग ही भक्ति उदय का कारण बतलाया गया है। वह साधुसंग–"तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः" अर्थात्—हे सुत! भगवान् में गाढ़आसक्ति वाले भक्तों के लव काल संग से जो अपार आनन्द-सिन्धु उच्छलित होता है स्वर्ग में अथवा मोक्ष में उस की एक कणिका नहीं है" इस वचन से निर्गुण अवस्था से भी अधिकत्व के कारण भक्ति को परम निर्गुण—रूप माना जाता है। सप्तमस्कन्ध के प्रथम में भी–"समः प्रियः सुहृद् ब्रह्मन्!" इत्यादि श्लोक के द्वारा सगुणी देवादि में भगवान् की वास्तविक कृपा नहीं है परन्तु प्रह्लादादि भक्तजन में वह है इस प्रकार प्रतिपादन से—महापुरुष भगवद्भक्तगण की निर्गुणत्व-अभिव्यक्ति दिखलाई गई है। अतः भगवद्भक्तगण गुणातीत हैं और उन का संग भी निर्गुण—स्वरूप है यह सिद्धान्त स्थिर हुआ। और भी सत्त्व, रजः एवं तमोगुण की निवृत्ति के बाद में भी भगवद्भक्ति की गंगास्रोत की भांति निर्बाधगति सुनी गई है। उद्धवजी के प्रति भगवान् ने कहा है—"अतः ज्ञानविज्ञान-सम्भवित इस शरीर का लाभ कर गुणसंग का परित्याग कर विचक्षण जन मेरा भजन करें"॥ परमेश्वर का ज्ञान नैर्गुण्य हेतु

दिभिः कृतम् । अथानुष्ठानान्तराणां त्रिगुणान्तर्गतत्वं वदन् चतुर्थकक्षायां साक्षाद्भक्तेर्निर्गुणत्वमाह चतुर्षु । कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकन्तु तत् । प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम् ॥१३४॥

होने के कारण अर्थात् परमेश्वर में भक्ति-उदय होने पर निर्गुणावस्था की प्राप्ति होती है इस लिये भगवद्भक्ति को निर्गुण करके कहा जाता है वस्तुतः भक्ति निर्गुणा नहीं है उस में तो लक्षणामय कष्ट-कल्पना की जाती है। क्यों कि कैवल्यज्ञान में भी नैर्गुण्य-हेतु मौजूद है अर्थात् कैवल्तज्ञान में सत्त्व, रजः एवं तमोगुण की निवृत्ति होती है। तब तो कैवल्यज्ञान मे भगवद्भक्ति का कोई वैशिष्ट्य नहीं रहता है, जब प्रार्थक्य नहीं है तब "कैवल्य सात्त्विकं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्" इस प्रकार भेदोल्लेख नहीं हो सकता। अतएव भगवद् विषयकज्ञान स्वरूप से ही निर्गुण है यह निश्चय हुआ। इसी लिये—"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम् । तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुण्यं मदपाश्रयम्" अर्थात्—"त्वं" पदार्थ रूप अणुचैतन्य जीवस्वरूप के अनुभव से जात सुख सात्त्विक है, विषयानुभवजात सुख राजस है,मोह एवं दैन्यादि से उत्थितसुख तामस है परन्तु मेरे अनुभव—जनित सुख निर्गुण है"इस श्लोक से भगवद्सुख का निर्गुणत्व है यह आगे कहा जावेगा ।इस प्रकार श्रवण-कीर्त्तनादि लक्षणवाली क्रियारूपा भक्ति भी निर्गुण ही जानना। क्यों कि-"शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्राः पुण्यतीर्थ-निषेवनात्"इस श्लोक पर श्रीसूतजी ने शौनकादि ऋषियों से कहा है "हे विप्रगण ! पुण्यतीर्थोंके सेवन से प्रायतः महज्जनों का संगलाभ होताहै। उन महतों की सेवा से वासुदेव की कथा में रुचि उत्पन्न होती है" इस प्रकार उक्ति से भगवत्कथा-श्रवण—कीर्त्तनादि में प्रवृत्ति का एकमात्र मूलकारण सत्संग है यह स्पष्ट है। वह सत्संग भी गुणातीत है अतः

प्राकृतं बालमूकादिज्ञानतुल्यम् । वैकल्पिकं देहादिविषयं तद्रजः राजसम् । केवलस्य निर्विशेषस्य ब्रह्मणः शुद्धजीवाभेदेन ज्ञानं कैवल्यम् । त्वम्पदार्थमात्रज्ञानस्य कैवल्यत्वानुपपत्तिः, तत्पदार्थज्ञानसापेक्षत्वात् । सत्वयुक्ते हि चित्ते प्रथमतः शुद्धं सूक्ष्मं जीवचैतन्यं प्रकाशते । ततश्चिदेकाकारत्वाभेदेन तस्मिन् शुद्धं पूर्णं ब्रह्मचैतन्यमप्यनुभूयते । ततः सत्त्वगुणस्यैव तत्र कारणताप्राचुर्य्यात् सात्त्विकत्वम् । तथाच गीतोपनिषदः—सत्त्वात् संजायते ज्ञानमित्यादि ।

गुणातीता है। अच्छा ! यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि—ब्रह्मज्ञान भी भगवत्प्रसाद से आविर्भूत होता है, सत्यव्रतमहाराज के प्रति (८।२४।३८) श्लोक में मत्स्यदेव का वाक्य है—मेरी महिमा अर्थात् महत्त्व (विभुत्व) परब्रह्म शब्द से अभिहित है। वह तत्त्व तो हम से अनुगृहित है, तुम सम्यक् प्रश्नादि के द्वारा विस्तारतया अपने हृदय में अनुभव कर सकते हो इत्यादि । तब वह ब्रह्मज्ञान किस प्रकार सगुण हो सकता है ? जब सत्संग व सत्कृपा से उत्थित होने के कारण क्रियारूपा साधनभक्ति निर्गुणा है तब भगवत्कृपा से आविर्भूत ब्रह्मज्ञान निर्गुण क्यों नहीं ? इस प्रश्न का उत्तर यह है—उपासकों के हृदय में दो प्रकार से ब्रह्मज्ञान आविर्भूत होता है, उनमें भगवदुपासकों के हृदय में जो ब्रह्मज्ञान है वह आनुषङ्गिक अर्थात् अप्रधान भाव से है और ब्रह्मज्ञानियों के हृदय में जो ब्रह्मज्ञान है वह स्वतन्त्र रूप से अर्थात् प्रधान रूप से है। भगवदुपासकगण भगवच्छक्तिरूपा भक्ति के द्वारा "त्वं" पदार्थ जीव-चैतन्य के साथ कुछ भेदरूप में ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते हैं उस विषय में भगवद्गीता में उल्लेख

भगवज्ज्ञानस्य तु,देवानां शुद्धसत्त्वानामृषीनाममलात्मानाम्। भक्तिर्मुकुन्दचरणे न प्रायेणोपजायते। मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने ॥ इत्युक्त्वा, सत्त्वादिसद्भावेऽप्यभावात्, रजस्तमःस्वभावस्य ब्रह्मन् वृत्रस्य पाप्मनः। नारायणे भगवति कथमासीद्दृढ़ा मतिरित्युक्त्वा,तदभावेऽपि सद्भावात्, न तत्कारणत्वं, किन्तु तदुत्तरत्वेन तस्य पूर्वजन्मनि श्रीनारदादिसङ्गवर्णनया, नैषां मतिस्तावदुरुक्रमाङ्घ्रि स्पृशत्यनर्थापगमो

है कि—"ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न कांक्षति। समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्" इत्यादि। अर्थात् कोई कोई भक्तिसाधक क्रममुक्तिरीति के अनुसार मुक्तिसुख अनुभव की इच्छा से ब्रह्मस्वरूप में अवस्थित होकर सर्वदा चित्त में प्रसन्नता लाभ करते हैं, नष्टबस्तु के लिये न कोई शोक करते हैं न अप्राप्य बस्तु में उनकी कोई आकांक्षा रहती है। वे सर्वत्र ब्रह्मसत्ता की उपलब्धि के कारण समभावापन्न होते हैं, इस प्रकार से वे हम में पराभक्ति लाभ करते हैं। पुनः भागवत के "आत्मारामाश्च मुनय" इत्यादि वचन से हरिगुण में आकृष्ट होकर वे हरि में अहैतुकी भक्ति करते हैं, इत्यादि प्रमाणानुसार भक्तिसाधक भगवान् की पराख्य शक्ति के परिकर रूप से ब्रह्मानुभव करते हैं, परन्तु ब्रह्मोपासकगण जीवचैतन्य के साथ अभेदरूप में ब्रह्मस्वरूप का अनुभव करते हैं। "नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसादम्" अर्थात् "जो तुम्हारे चरणों में एकान्त शरणागत हैं वे मोक्षनामक आत्यन्तिक तुम्हारे प्रसाद का आदर नहीं रखते हैं" इस उक्ति के द्वारा अन्य मोक्षार्थियों के द्वारा आत्यन्तिक रूप से

यदर्थः। महीयसां पादरजोऽभिषेकं निष्किञ्चनानां न वृणीत यावत्॥ इत्युक्त्या च, भागवत्कृपापरिमलपात्र भूतस्य श्रीमतो महतः सङ्ग एव कारणम्। तत्सङ्गश्च— तुलयाम लवेनापि न स्वर्गं नापुनर्भवम्। भगवत्सङ्गिसङ्गस्य मर्त्यानां किमुताशिषः॥ इत्युक्त्या, निर्गुणावस्थातोऽप्यधि-कत्वात्, परमनिर्गुण एव। सप्तमस्य प्रथमे च, समः प्रियः सुहृद्ब्रह्मन्नित्यादौ, सगुणे देवादौ तस्य कृपा वास्तवी न भवति, किन्तु श्रीमत्प्रह्लादादिष्वेवेति प्रतिपादनान्महतां

समादृत जीव-चैतन्य तथा ब्रह्म-चैतन्य के अभेदानुसन्धान रूप मोक्ष-फल को परमविज्ञ वे भक्तिरसिकगण आदृत नहीं करते हैं। वरं भक्ति-विरुद्ध होने के कारण–"स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः" अर्थात् स्वर्ग-अपवर्ग तथा नरक में भी तुल्यभाव देखते हैं इस रीति के अनु-सार अभेदानुसन्धान रूप ज्ञानसाध्य-मोक्ष में प्रसादाभास मान कर नरकादि की भाँति हेयता-भाव रखते हैं। यदि कोई निज मति के अनुसार मोक्ष को भगवत्प्रसाद रूप मानता है तो वह निज मति-कल्पित होने के कारण सगुण माना जावेगा। विशेष करके मोक्षरूप कैवल्यज्ञान का गुण-सम्बन्ध के कारण जन्म रूप माना जाता है। परमविज्ञ, भक्तिरसिक श्रीनारद, प्रह्लाद, ध्रुव, उद्धवादि तथा ज्ञानियों के आदिगुरु, परावस्था-प्राप्त सनकादि ऋषिगण ने इस प्रकार अभेद ब्रह्मानुभवात्मक मोक्ष को भगवत्प्रसाद करके स्वीकार नहीं किया है। कोई कोई मोक्षार्थीगण मोक्ष को भगवत्प्रसाद करके अभिमान मात्र रखते हैं, परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है। जब भगवान् में द्वेष रखने वाले दैत्यों के हरिहस्त से निहत होने पर सायुज्य

निर्गुणत्वाभिव्यक्त्या तत्सङ्गस्यापि निर्गुणत्वं व्यक्तम् । तथा भक्तेरपि गुणसङ्गनिर्धूननानन्तरञ्चानुवृत्तिः श्रूयते । यदुक्त-मुद्धवं प्रति श्रीभगवता—तस्माद्देहमिमं लब्ध्वा ज्ञानविज्ञान-सम्भवम् । गुणसङ्गं विनिर्धूय मां भजन्तु विचक्षणाः ॥ इति परमेश्वरज्ञानस्य नैर्गुण्यहेतुत्वेन निर्गुणत्वोक्तिस्तु लक्षणा-मयकष्टकल्पना । तथा कैवल्यज्ञानस्यापि नैर्गुण्यहेतुत्वाद-वैशिष्ट्येनोदाहरणभेदाप्रवृत्तिश्च स्यात् । तस्मात् स्वत एव निर्गुणं भगवज्ज्ञानम् । अतएव सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विष-योत्थन्तु राजसम् । तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रय-मित्यत्र तत्सुखस्यापि निर्गुणत्वं वक्ष्यते । एवं श्रवणादि-

---

मुक्तिलाभ है तो बहुकाल श्रवण, मनन, निदिध्यासनादि से प्राप्त सायुज्यादि मुक्ति को भगवत्प्रसाद करके किस प्रकार कहा जा सकता ? यहाँ वादी इस प्रकार प्रश्न उठा सकता है कि—मनुष्यों के अन्तर एवं बाहरी इन्द्रिय समूह गुणमय है, अर्थात् गुणविकार स्वरूप है। तो गुणविकारी इन्द्रियों से उत्थित ज्ञान एवं क्रिया द किस प्रकार निर्गुण हो सकते हैं ? इसका उत्तर यह है—ज्ञानशक्ति अथवा क्रियाशक्ति त्रिगुणमय जड़धर्म स्वरूप नहीं है जिस प्रकार जड़ीयघट में ज्ञान वा क्रियाशक्ति का अभाव है। यह भी नहीं कहा जा सकता कि—ज्ञान वा क्रियाशक्ति चैतन्य-स्वरूप जीव का धर्म है। क्योंकि जीव-चैतन्य की स्वतन्त्र रूप में कुछ करने की क्षमता नहीं है। ईश्वर प्रेरणाधीन रूप से जीव के ज्ञान वा क्रियाशक्ति का प्रकाश होता है। वह प्रकाश मुख्यरूप से नहीं गौणरूप में है। किसी देवता

लक्षणक्रियारूपाया अपि भक्तेः, शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य वासुदेवकथारुचिः। स्यान्महत्सेवया विप्रा इत्युक्त्या, तदेकनिदानत्वेन निर्गुणत्वमेव। ननु मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदीति श्रीमत्स्यदेवस्य वचनेन ब्रह्मज्ञानमपि श्रीभगवत्प्रसादोत्थं श्रूयते, तत् कथं तस्य सगुणत्वम्, उच्यते—ब्रह्मज्ञानं द्विविधानां जायते। तत्र भगवदुपासकानामानुषङ्गिकत्वेन ब्रह्मोपासकानां स्वतन्त्रत्वेन। भगवदुपासकैस्तु भगवच्छक्तिरूपया भक्त्या किञ्चिद्भेदेनैव गृह्यते। तच्च, ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति। इत्यादि श्रीगीतोक्त्यनुसारेण,

---

के द्वारा आविष्ट पुरुष की भाँति ईश्वर-प्रदत्त चिदाभास संक्रमित होकर ज्ञान एवं क्रियाशक्ति का विकाश करता है। ज्ञान एवं क्रियाशक्ति परमात्म-चैतन्य स्वरूप का मुख्यधर्म है यह स्थिर हुआ। श्रीमद्भागवत के "देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी यदंशबिद्धाः प्रचरन्ति कर्म्मसु" इत्यादि श्लोक में देह, इन्द्रिय, प्राण, मन एवं बुद्धि ये समस्त परमात्म-चैतन्यशक्ति से आविष्ट होकर अग्नि-शक्ति आविष्ट लौह की भाँति अपने अपने कार्य-सम्पादन में समर्थ होते हैं अर्थात् स्वतन्त्र रूप से कुछ नहीं कर पाते हैं ऐसा कहा गया है। श्रुति में भी ऐसा देखने में आया है। "प्राणस्य प्राणमुत चक्षुषश्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्रं मनसो मन इति न ऋते तत्क्रियते किञ्च नारे" अर्थात् बह परमात्मा प्राणों के प्राण, चक्षुः के चक्षु, श्रोत्रों के श्रोत्र, मनः के मन है, उस परमात्मा-चैतन्य के भिन्न कोई कुछ नहीं कर सकता है" इत्यादि। तब तो वह क्रिया एवं ज्ञानशक्ति जब त्रियुगमय-कार्य में प्रधानरूप से प्रवर्त्तित

आत्मारामाश्च मुनय इत्याद्यनुसारेण च भगवतः पराख्य-भक्तिपारकरो भवतीति। ब्रह्मोपासकैस्तु पूर्ववदभेदेनैव गृह्यते। तत्फलस्य, नात्यन्तिकं विगणयन्त्यपि ते प्रसाद-मित्युक्तदिशा, परैरात्यन्तिकत्वेन मतस्यापि, परमविद्वद्भिर-नादृतत्वात्। तथा भक्तिविरुद्धत्वेन स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि हेयत्वात्, प्रसादाभास एवासौ। स्वमत्यनुसारेण प्रसादतया गृह्यमाणश्चेन्मतिकल्पितत्वात् सगुण एव। ततः कैव-ल्यज्ञानमपि तथा। विशेषतस्तस्य गुणसम्बन्धेन जन्माङ्गी-कृतमिति। ननु अन्तर्बहिश्च करणं पुरुषस्य गुणमयमेव। तदुद्भवयोः ज्ञानक्रिययोः कथं निर्गुणत्वम्? उच्यते— ज्ञान-शक्तिः क्रियाशक्तिर्वा न तावज्जड़स्य त्रैगुण्यस्य धर्म्मः, घट-स्येव। न च चिद्रूपस्यापि जीवस्य ईश्वराधीनशक्तित्वेना-

---

होती है तब वहाँ उन दोनों को गुणमय धर्म करके उल्लेख होता है और जब वे ज्ञान-क्रिया त्रिगुणातीत परमेश्वर को प्रधानरूप से लक्ष्य कर अनुष्ठित होते हैं तो स्वाभाविक गुणातीत माने जाते हैं। इस अभिप्राय को लेकर श्रीशुकमुनि ने (८।९।२९) श्लोक में देवताओं के अमृतपान प्रसंग पर कहा है—हे राजन्! मानवगण प्राण, धन, कर्म, मनः वाक्यसमूह के द्वारा देह, पुत्र प्रभृति के लिये जो कुछ करते हैं वह समस्त असत् अर्थात् वृथा ही है। क्योंकि सर्वाश्रय परमात्म-स्वरूप के प्रति दृष्टि न रहने से शाखा में जल सींचने की भाँति वह अनुष्ठान करने पर भी आत्मप्रसाद नहीं प्राप्त कर सकते हैं। मूलश्लोक में "पृथक्त्वात्" शब्द का तात्पर्य—परमात्मभिन्न-

मुख्यत्वात्, देवताविष्टपुरुषस्येव। ततः परमात्मचैतन्यस्यै-वेत्यायाति। तथोक्तं, देहेन्द्रियप्राणमनोधियोऽमी यदंशविद्धा प्रचरन्ति कर्म्मस्विति। तथाच श्रुतिः-प्राणस्य प्राणमुत चक्षुष-श्चक्षुरुत श्रोत्रस्य श्रोत्र मनसो मन इति न ऋते तत् क्रियते किञ्चनारे इत्यादिका। तदेवं सति त्रैगुण्यकार्य्यप्राधान्येन भवन्तयौ ते गुणमयत्वेनोच्यते। परमेश्वरप्राधान्येन तु स्वतो गुणातीते एव। तदुक्तं देवामृतपानाध्याये श्रीशुकेन—यद्युज्यतेऽसुवसुकर्म्ममनोवचोभिर्देहात्मजादिषु नृभिस्तदसत् पृथक्-त्वात्। तैरेव सद्भवति यत् क्रियतेऽपृथक्त्वात् सर्वस्य तद्भवति मूलनिषेचनं यदिति। पृथक्त्वात् परमात्मेतराश्रयत्वात् अपृ-थक्त्वात्तदेकाश्रयत्वादित्यर्थः। अतो युक्तमेव ज्ञानक्रियात्म-

---

बस्तु का आश्रय करके प्रवृत्त होने के कारण असत् है और "अपृथक्त्वात्" शब्द का अर्थ एकमात्र परमेश्वर का आश्रय करके प्रवृत्त होने के कारण सत् है। अतएव निखिल ज्ञान एवं क्रियाशक्ति परमेश्वर के चित् आभास से सम्बलित होकर प्रकाश पाती है। स्वतन्त्र रूप से जड़ीय-देहादि को विकाश करने में दोनों का सामर्थ्य नहीं है। अतः परमेश्वर निखिल ज्ञान एवं क्रियाशक्ति के प्रवर्त्तक सिद्ध हुए। अथच वह ज्ञान एवं क्रियाशक्ति यदि परमेश्वर उद्देश्य में प्रयोजित होती है तो निर्गुण क्यों नहीं होगी। अतः ज्ञान एवं क्रिया-स्वरूपा हरिभक्ति निर्गुण है यह युक्ति-युक्त है। विशेष करके हरि-भक्ति का आविर्भाव सत्त्वादि-सम्बन्ध से नहीं है परन्तु ब्रह्मज्ञान सत्त्वगुण सम्बन्ध से आविर्भूत हैं। वह निर्गुणभक्ति भगवान् के

काया हरिभक्तेर्निर्गुणत्वम् । विशेषतस्तस्यागुणसम्बन्धेन जन्माभावश्चाङ्गीकृतः; न तु ब्रह्मज्ञानस्येव गुणसम्बन्धेन जन्मभाव इति । अतोऽसौ भक्तिस्तस्यापि प्रीणनत्वादिगुणैरुदाहरिष्यते । यत्तु श्रीकपिलदेवेन भक्तेरपि निर्गुणसगुणावस्थाः कथितास्तत् पुनः पुरुषान्तःकरणगुणा एव तस्यामुपचर्य्यन्त इति स्थितम् । तदेवमभिप्रेत्य ज्ञानरूपायाः भक्तेर्निर्गुणत्वमुक्त्वा क्रियारूपायाः व्याचष्टे । तत्राप्यस्तु तावत् श्रवणकीर्त्तनरूपायाः, भगवत्सम्बन्धेन वासमात्ररूपाया आह—

वनन्तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते । तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम् ॥१३५॥

वनं वास इति तत्सम्बन्धिनी वसनक्रियेत्यर्थः । वान-

सुखद गुणसमूह से अलंकृता है वह आगे सप्रमाण विवेचित होगा। तृतीयस्कन्ध में कपिलदेव ने भक्ति की निर्गुण एवं सगुण-अवस्था वर्णन की है, उसे भक्तिसाधक पुरुष के अन्तःकरण में स्थित सत्त्व, रजः एवं तमोगुण के भक्ति में उपचरित होने के कारण से जानना। भगवान् इस अभिप्राय से ज्ञानरूपा भक्ति का निर्गुणत्व वर्णन कर क्रिया-रूपा भक्ति का निर्गुणत्व कथन करते हैं अतः श्रवण-कीर्त्तन-रूपा भक्ति निर्गुण है इस में कोई सन्देह नहीं है। वह बात तो दूर रही—भगवत्सम्बन्ध के कारण भगवन्मन्दिर में निवास रूप भक्ति का निर्गुणत्व वर्णन करते हैं—"वनन्तु सात्त्विको वासो ग्राम्यो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्" इस श्लोक से ॥१३५

वानप्रस्थाश्रमीगण की वनसम्बन्धिनी वासक्रिया सात्त्विक है। उस प्रकार गृहस्थगण का ग्रामवास राजस और दुराचारियों का

प्रस्थानामिति ज्ञेयम् एवं ग्राम्य इति गृहस्थानाम् तामसमिति दुराचारणाम् । द्यूतसदनमित्युपलक्षणम् । मन्निकेतमिति भगवत्सेवापराणाम् । वनादीनां वासेन सहायुर्घृतमितिवदेकाधिकरणत्वम् । वनस्य वृक्षषण्डरूपस्य रजस्तमःप्राधान्यात् । अतएव विविक्तत्वलक्षणतदीयसात्त्विकगुणस्यापि तद्युगलमिश्रत्वेन गौणत्वम् । वासक्रियायास्तु सत्त्वोत्पन्नत्वात्तद्वर्द्धनत्वाच्च सात्त्विकत्वे मुख्यत्वमिति तस्या एवाभिधेयत्वमुचितम् । अतएव ग्राम्य इति तद्धितान्त एव पठितः । एवं द्यूतसदनमित्यत्र च वासक्रियैव विवक्षिता ।

द्यूतक्रीडन, मद्यपान, मिथ्या प्रवञ्चनादि तामस हैं परन्तु भगवत्सेवापरायण भक्तों का भगवन्मन्दिर में निवास निर्गुण जानना। यहाँ ज्ञातविषय यह है—वन, ग्राम और द्यूतसदन आदि में बास-क्रिया के साथ एकाधिकरणत्व व्यक्त हो रहा है। अर्थात् "वनं वासः" इस प्रकार उल्लेख से "वन में वास सात्त्विक है" इस प्रकार आधार-आधेय-भाव न कह कर "वन तथा वास" क्रिया को एकाधार में उल्लेख कर अर्थ किया गया है। जैसा कि—"आयुर्घृतम्" अर्थात् आयु ही घृत है आपाततः इस प्रकार अर्थ व्यक्त होता है। वस्तुतः घृत ही अवश्य आयुर्बृद्धिकर है, अर्थात् कार्यरूप आयुः का कारणरूप घृत के साथ अभेद उल्लेख है उस प्रकार। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि—बृक्षसमष्टि वन है। वह बृक्षसमूह रजः एवं तमोगुण प्रधान हैं। तब रजः तमोगुण प्रधान वाले वन का सात्त्विकत्व किस प्रकार सिद्ध होगा? इस का उत्तर यह है कि—यद्यपि वन रजस्तमः प्रधान विशिष्ट है तो भी निर्जनता के हेतु उस में सात्त्विकगुण अवश्य रहता

मन्निकेतमित्यत्रापि । किन्तु भगवत्सम्बन्धमाहात्म्येन निकेतस्यापि निर्गुणत्वं भवेत् स्पर्शमणिन्यायेन । तादृशत्वन्तु तादृशभक्तिचक्षुर्भिरेवोपलब्धव्यं, दिविष्ठास्तत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजानितिवत् । एवमेव टीका च—भगवन्निकेतन्तु साक्षात्तदाविर्भावान्निर्गुणं स्थानमित्येषा । एवं वासमात्रस्य तादृशत्वमुक्त्वा सर्वासामेव तत्क्रियाणामाह—सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः । तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः ॥१३६॥

है परन्तु रजस्तमोगुण से मिश्रित के कारण वह सात्त्विकगुण गौण है अथच वासक्रिया रूप सत्त्वगुण से उत्पन्न होने के कारण तथा सत्त्वगुण वर्द्धित होने के कारण सात्त्विक धर्म का मुख्यत्व है । साधक के हृदय में जब सत्वगुण प्रकाश पाता है तब वह निर्जन वन में वास करने की इच्छा करता है । तब वन में निवास से सत्त्वगुण की बृद्धि होती है । अतः वन में निवास मुख्य-सात्त्विक है और वासक्रिया का अभिधेयत्व अर्थात् अवश्य-कर्त्तव्यत्व समुचित है । इसीलिये "ग्राम्य" यह पद तद्धितान्तरूप से उल्लेखित है । "ग्रामे वासः ग्राम्यः" अर्थात् गावें में निवास ग्राम्य इस प्रकार उल्लेख है । भोगवासना रूप रजोगुण के उद्‌गम के कारण ग्राम्यनिवास रजोगुण है, अर्थात् हृदय में रजोगुण के रहने पर गाँव में वास करने की प्रवृत्ति होती है । उस प्रकार तमोगुण प्रधान द्यूत-सदन जानना । अर्थात् जब हृदय में तमोगुण प्रबल होता है तब द्यूत सदनादि में रहने के लिये प्रवृत्ति होती है । मन्निकेतन अर्थात् मेरा मन्दिर निर्गुण जानना । प्राकृत इष्टकादि के द्वारा निर्म्मित मन्दिर स्पर्श-मणि स्पर्श से लौह की भाँति सच्चिदा-

अत्र च क्रियायामेव तात्पर्यं न तदाश्रये द्रव्ये। सात्त्विककारकस्य शरीरादिकं हि गुणत्रयपरिणतमेव। तदेवं क्रियामात्रस्य तादृशत्वमुक्त्वा तत्प्रवृत्तिहेतुभूतायाः श्रद्धाया अप्याह—सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा ॥१३७॥

नन्द स्वरूप भगवत्सम्बन्ध माहात्म्य से निर्गुणता प्राप्त कर लेता है। उस प्रकार का अनुभव निर्गुणाभक्ति रूप नेत्र से है, प्राकृत चक्षुः से नहीं। जैसा कि क्षेत्रमाहात्म्य प्रसंग में कहा है—"दिविष्ठास्तत्र पश्यन्ति सर्वानेव चतुर्भुजान्" अर्थात् देवगण उस क्षेत्र के समस्त जनों को चतुर्भुज स्वरूप में देखते हैं इत्यादि। इस प्रकार मूलश्लोक में टीका भी बतलाती है। "भगवन्निकेतन्तु साक्षात्तदाविर्भावान्निर्गुणं स्थानम्" अर्थात् भगवान् का मन्दिर किन्तु साक्षात् उनके आविर्भाव के कारण निर्गुण स्थान है इत्यादि। अब भगवत्सम्बन्धी निखिल क्रिया निर्गुण है उस बारे में कहते हैं—श्रीकृष्ण ने उद्धवजी से कहा है—अनासक्त भाव से कम करने वाला सात्त्विक है, फलप्राप्ति के लिये अभिनिविष्ट राजस है, अनुसन्धान रहित जन तामस है और मेरे शरणागत निर्गुण है। यहाँ क्रिया में ही सात्त्विकादि का तात्पर्य है परन्तु क्रियाश्रयद्रव्य में तात्पर्य नहीं है। क्योंकि सात्त्विककारक के शरीरादिक गुणत्रय का विकार विशिष्ट है। इस प्रकार भगवत्सम्बन्धी क्रियामात्र का निर्गुणत्व कहकर अब भगवत्सम्बन्धी क्रिया करने की हेतुरूपा श्रद्धा निर्गुण है उस के बारे में कहते हैं—हे उद्धव ! अध्यात्म तत्त्व विषय में जो श्रद्धा है वह सात्त्विकी है, कर्मानुष्ठान में जो श्रद्धा वह राजसी है, अधर्म में जो श्रद्धा है वह तामसी है, परन्तु

अधर्मः अपरधर्मः । अन्यत् पूर्ववत् ॥११॥२५॥ श्रीभगवान्॥१३६॥१३७॥

अत आह—धर्मं भागवतं शुद्धं त्रैविद्यञ्च गुणाश्रयमिति ॥१३८॥

शुद्धं निर्गुणं त्रैविद्यं वेदत्रयप्रतिपाद्यं गुणाश्रयमिति टीका च । वेद-शब्देनात्र कर्म्मकाण्डमेवोच्यते एवं त्रयीधर्म्म मित्यादेः॥६॥ २॥श्रीशुकः॥१३८॥

अतएव भक्तेः श्रीभगवत्स्वरूपशक्तिबोधकं स्वयं-प्रकाशत्वमाह—यज्ञाय धर्मपतये विधिनैपुणाय योगाय सांख्यशिरसे प्रकृतीश्वराय । नारायणाय हरये नम इत्युदारं हास्यन्मृगत्वमपि यः समुदाजहार ॥१३९॥

मेरी सेवा में जो श्रद्धा वह निर्गुणा है। अधर्म का अर्थ अन्य धर्म है ॥१३६–१३७॥

अतएव श्रीशुकदेव ने (६।२।२४) श्लोक में कहा है—हे राजन्! भगवत्प्रणीत धर्म शुद्ध है अर्थात् मायागुण-स्पर्शरहित होने के कारण निर्गुण है। वेदत्रय प्रतिपाद्य धर्म गुणमय है। "शुद्ध निर्गुण है, वेद-त्रय प्रतिपाद्य गुणाश्रयी धर्म त्रैविद्य है" ऐसा टीका में उल्लेख है। वेद शब्द से यहाँ कर्मकाण्ड कहा जाता है। "एवं त्रयीधर्म्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामाः लभंते" इत्यादि गीता में उल्लेख है ॥१३८॥

अतएव भक्ति जो भगवान् की स्वरूप शक्ति है उस के बोध रूप स्वयं प्रकाशत्व-धर्म का कथन करते हैं—महाभागवत भरत ने दूसरे जन्म में मृगदेह त्याग के समय भक्तिसंस्कार वश उच्च स्वर से कहा

यः आर्षभेयो भरतः,मरणसमये तत्रापि मृगशरीरे तद्व-चनजन्मात्यन्तासम्भवात् स्वप्रकाशत्वमेव तस्याः कीर्त्तन-लक्षणायाः भक्तेः सिध्यति। एवं गजेन्द्रेऽपि ज्ञेयम् ॥५॥१४॥ श्रीशुकः ॥१३९॥

परमसुखरूपत्वञ्च दृश्यते। तत्र साधनदशायाम् अतो वै कवयो नित्यमित्यादौ। कर्म्मण्यस्मिन्ननाश्वासे इत्यादौ च तद्रूपत्वाभिव्यक्तिर्दर्शितैव। सिद्धदशायान्तु सुतरां तत्

है—जो यज्ञस्वरूप हैं, यज्ञसमूह के फलदाता हैं, जो विधिपूर्वक धर्मानुष्ठान करते हैं, जो अष्टांग—योग स्वरूप हैं, आत्म-अनात्म विवेक के जो मुख्य स्वरूप हैं, जो माया के नियामक हैं, सर्वजीव के अन्तर्यामी उन नारायण हरि को नमस्कार है। यहाँ ज्ञातव्य यह है—मृगशरीर में इस प्रकार की वाक्यस्फूर्त्ति अति असम्भव है, उस पर मृत्यु-यन्त्रणा से अति कातर पशु-पक्षी आदि योनि की रसना शब्द तो करती है परन्तु इस प्रकार सुस्पष्ट भाव से वर्णात्मक नाम का उच्चारण नहीं। आज भरत महाराज प्राप्त मृगशरीर से इस प्रकार जो कह रहे हैं इस से स्पष्ट जाना जाता है यहाँ कीर्त्तन-लक्षणाभक्ति पश्वादि रसना की अपेक्षा न करके स्वयं प्रकाशमान हुई है। अतः यदि भक्ति भगवान् की स्वरूपशक्ति की वृत्ति नहीं होती तो जिह्वादि अनपेक्षा से भी इस प्रकार स्वयं प्रकास नहीं होती। इस प्रकार गजेन्द्र-विषय में भी जानना चाहिये ॥१३९॥

वह भक्ति परम सुखस्वरूपिणी है उस बात को कहते हैं—साधनावस्था में भी भक्ति का परम सुखरूपत्व है वह (१।२।२२) श्लोक में श्रीसूतजी शौनकादि के प्रति कह रहे हैं—अतएव विज्ञजन परम

प्रकटीभवती। यथा --मत्सेवया प्रतीयन्ते सालोक्यादि-चतुष्टयम्। नेच्छन्ति सेवया पूर्णाः कुतोऽन्यत् कालविप्लुतम् ॥१४०॥

अत्रान्यस्य कालविप्लुतत्वमिति सेवायास्तदभाप्राप्ते निर्गुणत्वं सिद्धम्। अकालविप्लुतसालोक्यादिभ्योऽतिशये तु किमुतेति॥६॥४॥ श्रीविष्णुर्दुर्वाससम् ॥१४०॥

श्रीभगवद्विषयकरतिप्रदत्वमुक्तम्, एवं निर्जितषड्वर्गैः क्रियते भक्तिरीश्वरे" इत्यादिना। यत्तु, अस्त्वेवमङ्ग भजतां

आनन्द के साथ भगवान् वासुदेव में नित्य मनः शोधनी भक्ति करते हैं इत्यादि। और "हे सूतजी! विघ्न-वाहुल्य वश फललाभ में अविश्वसनीय कर्म में यज्ञ-धूम्र से हम सब के शरीर-मन मलिनता प्राप्त हो रहे हैं, आपने तो गोविन्द-चरणकमल मधु का आस्वादन करा कर आप्यायित किया है" इस प्रकार शौनकादि के वचनों से भगवद्भक्ति की आनन्दस्वरूपता स्पष्ट रूप से देखी जाती है। सिद्धदशा में भी वह आनन्दस्वरूपता परिपूर्ण रूप में प्रकटित होती है—वैकुण्ठनाथ ने दुर्वासा ऋषि से कहा है—हे मुनिवर! हमारी सेवा से अनायास में प्राप्त सालोक्यादि चार प्रकार की मुक्ति को भक्तगण नहीं चाहते हैं क्योंकि वे तो सेवासुख से परितृप्त रहते हैं। कालविनाशी स्वर्गादि-सुख की इच्छा वे नहीं करेंगे इस बारे में कहना ही क्या है? अविनाशी सालोक्यादि मुक्ति से सेवा में अधिक आनन्द रहने के कारण भक्तगण मुक्ति को नहीं चाहते हैं। इस से भक्ति की परमानन्द-स्वरूपता सुन्दर रूप में व्यक्त हो रही है ॥१४०॥

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि-साम्य एवं अतिशयता-शून्य नित्य

भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्ति-योगम्, इत्युक्त्यापि तद्रतिर्न प्राप्यते इति शङ्क्यते, तत् खल्वविवेकादेव, कर्हिचिदिति भक्तियोगाख्यतद्रतिपुरुषार्थतायां शैथिल्ये सत्येवेत्यर्थलाभात्, कर्हिचिदपीत्यनुक्तत्वात्, असाकल्ये तु चिच्चनौ इत्यमरकोषाच्च। भक्तविषयकभगवत्-प्रीत्येकहेतुत्वमप्युदाहृतम्, नालं द्विजत्वं देवत्वमित्यादि। तथाचाह—मन्ये धनाभिजनरूपतपःश्रुतौजस्तेजःप्रभावबल-पौरुषबुद्धियोगाः। नाराधनाय हि भवन्ति परस्य पुंसो भक्त्या तुतोष भगवान् गजयूथपाय ॥१४१॥

अभिजनः सत्कुलजन्म। बुद्धिर्ज्ञानयोगः। योगोऽष्टाङ्गः ॥७॥९॥ प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥१४१॥

ननु निरतिशयनित्यानन्दरूपस्य भगवतः कथं तया

आनन्द स्वरूप भगवान् उस भक्ति के द्वारा किस प्रकार सन्तोष प्राप्त कर सकते हैं? क्योंकि उस से तो भगवत्स्वरूपानन्द में तथा निरतिशयत्व और नित्यत्व में व्याघात उपस्थित होता है। इस का उत्तर यह है---शास्त्र में निरतिशय-आनन्दत्व तथा नित्यत्व भगवान् के सुनने में आता है और भक्ति का भी भगवत्प्रीतिहेतुत्व सुना जाता है। इस प्रकार सन्देह में सामञ्जस्य-रक्षा के लिये सिद्धान्त करते हैं—परमानन्दस्वरूप भगवान् की निज-पर आनन्दिनी ह्लादिनी नाम्नी जो स्वरूपशक्ति विद्यमान है,उस की प्रकाशवस्तु सूर्य्यादिकी अपने को तथा अन्य को जिस प्रकार प्रकाश करने की शक्ति है उस प्रकार परमवृत्ति स्वरूपिणी भक्ति है जानना। उस वृत्तिरूपा शक्ति को भगवान् अपने भक्तवृन्द में अर्पित कर नित्य रूप से विद्यमान रहते

सुखमुत्पद्येत निरतिशयत्वनित्यत्वयोर्विरोधात् । उच्यते- शास्त्रे खलु निरतिशयानन्दत्वं नित्यत्वञ्च भगवतः श्रूयते, भक्तेरपि तथा तत्प्रीतिहेतुत्वं श्रूयते तत एवं गम्यते । तस्य परमानन्दैकरूपस्य स्वपरानन्दनी स्वरूपशक्तिर्या ह्लादिनी-नाम्नी वर्त्तते,प्रकाशवस्तुनः स्वपरप्रकाशनशक्तिवत् तत्परम-वृत्तिरूपैवैषा । ताञ्च भगवान् स्ववृन्दे निक्षिपन्नेव नित्यं वर्त्तते । तत्सम्बन्धेन च स्वयमतितरां प्रीणातीति । अतएव तस्य प्रतिरूपस्यापि भक्तिप्रीणनीयत्वमाह -यत्प्रीणनाद् वर्हिषि देवतिर्य्यङ्मनुष्यवीरुत्तृणमाविरिञ्चात् । प्रीयेत सद्यः स ह विस्ववीजः प्रीतिः स्वयं प्रीतिमगाद् गयस्य ॥१४२॥

विश्ववीजः सर्वजीवनहेतुः । देवादीनां द्वन्द्वैक्यम् । प्रीतिः सुखरूपोऽपि ॥५॥१५॥ श्रीशुकः ॥१४२॥

हैं । अतएव उस ह्लादिनी शक्ति की सारवृत्तिरूपा प्रीतिलक्षणा भक्ति-सम्बन्ध से भगवान् प्रसन्नता-प्राप्त होते हैं । (५।१५।१३) श्लोक पर शुकदेवजी ने कहा है—जिन भगवान् के सन्तोष होने पर देवता, मनुष्य, पशु, पक्षी, लता, तृणादिक आब्रह्म ब्रह्माण्ड तृप्ति लाभ करते हैं वे सर्वजीवन हेतु भगवान् स्वयं सुखरूप होकर भी आज "गय" महाराज के यज्ञ में "तृप्तोऽस्मि" अर्थात् तृप्त हुआ हूँ ऐसा कह कर परम सुखी हुए ॥१४२॥

विश्वबोज अर्थात् सर्वजीवन हेतु हैं । प्रीति सुख रूप है । देवादि-पद द्वन्द समास से ऐक्य प्राप्त है ॥१४२॥

अतएव तथाभूतत्वेनात्मारामस्य पूर्णकामस्यापि तस्य क्षुद्रगुणवस्त्वपि परितोषाय कल्पते इति दृष्टान्तेनाह—तत्रोपनीतवलयो रवेर्दीपमिवादृताः। आत्मारामं पूर्णकामं निजलाभेन नित्यदा। प्रीत्युत्फुल्लमुखाः प्रोचुर्हर्षगद्गदया गिरा। पितरं सर्वसुहृदमवितारमिवार्भकाः ॥१४३॥

तत्र श्रीद्वारकायाम्। रवेरुपहाररूपं दीपमादृतवन्तो जना इवेत्यर्थः। एवं स्तुत्यादिकमपि तत्प्रीणनतामर्हतीत्याह प्रीत्येति। पितरमर्भका इवेति दृष्टान्तः। तस्य प्रीतावसाधारणं गुणविशेषमप्याह सर्वसुहृदमिति। सर्वसुहृत्त्वे

यद्यपि भगवान् परमानन्द स्वरूप होने के कारण अपने स्वरूपानन्द में निरन्तर रमण करते हैं इसीलिये वे आत्माराम तथा पूणकाम करके कहे जाते हैं तो भी क्षुद्रगुण वाली वस्तुएँ उनके सन्तोष विधान में योग्यतालाभ करती हैं। इस बात को दृष्टान्त के द्वारा कहते हैं—द्वारकावासी प्रजागण श्रीकृष्ण को आत्माराम एवं पूर्णकाम जानते हुए भी सूर्यपूजन में प्रदीप प्रदान की भाँति वहाँ विविध उपहार उपस्थित करने लगे एवं बालकगण जिस प्रकार पिता के प्रति प्रीतियुक्त नाना कोमलालाप करते हैं उस प्रकार वे प्रीतिफुल्लवदन से हर्ष गद्गद वचनों के द्वारा सब के सुहृद् तथा रक्षक भगवान् से बोलने लगे। सूर्यपूजन में सब कोई प्रदीप समर्पण करते हैं, उस प्रकार आज द्वारका में उपस्थित भगवान् के प्रति समस्त प्रजाएें नाना उपहार प्रदान करने लगीं। स्तुत्यादि भी भगवत्प्रीणन के लिये होता है अतः "प्रीत्युत्फुल्लमुखाः" ऐसा कहा गया है। पिता के प्रति बालक, यह दृष्टान्त है।

लिङ्गम् अविताररमिति । तथा आत्मारामपूर्णकामत्वेऽपि तादृशस्य स्वसम्बन्धाभिमानिप्रोतिमत्पुत्रादिषु प्रोतिविशेषोदयो तथा दृश्यते तथा तेषु तं प्रोतिमन्तमित्यर्थः । एवं कल्पतरुदृष्टान्तेऽपि भगवतो भक्तिविषयिका कृपा यथार्थमेवोपपद्यते, ये खलु सहजतत्प्रोतिमेवात्मनि प्रार्थयमाना भजन्ते तेभ्यस्तद्दानयाथार्थ्यस्यावश्यकत्वात् । तस्मादस्त्येवानन्दरूपस्यापि भक्तावानन्दोल्लास श्रीसूतः ॥१४७॥

एवं भक्तिरूपायास्तच्छक्तेर्जीवेऽभिव्यक्तौ भगवानेव कारणम् । तत्तदिन्द्रियादिप्रवृत्तौ च स एवेति तस्मिंस्तया जोवस्योपकारकाभासत्वमेव । तथापि भक्तानुरज्यदात्मत्वे भगवतः स्वकृपाप्राबल्यमेव कारणम् इति वदन् पूर्वार्थमेव

भगवत्प्रीति के असाधारण गुणविशेष वे सब के सुहृद हैं । सर्वसुहृद का चिन्ह वे सब के रक्षक हैं । पुत्रादि में जिस प्रकार पितादि का प्रीतिविशेष देखा जाता है उस प्रकार भगवान् आत्माराम-पूर्णकाम होकर भी निज सम्बन्धाभिमानी-प्रीतियुक्त उन समस्त प्रजाओं के प्रति प्रीतियुक्त होते हैं । दासभक्त के प्रति प्रभु, वात्सल्यभक्त में पिता इत्यादि रूप से । जहाँ जहाँ भगवान् को कल्पतरु रूप से कहा गया है वहाँ जानना होगा कि कल्पतरु जिस प्रकार निज आश्रित जन का संकल्प पूरण करता है उस प्रकार भगवान् की भक्ति विषयिणी कृपा भक्तजनों में आविर्भूत होती है । क्योंकि—जो भगवान् में साहजिक प्रीति रख कर भजन करते हैं उन के प्रति भगवान् का प्रीति प्रदान अवश्य आवश्यक हैं । अतः आनन्दस्वरूप भगवान् की भक्ति में आनन्दोल्लास विद्यमान है यह मानना होगा ॥१४३॥

...यति —किं वर्णये तव विभो यदुदीरितोऽसुः संस्पन्दते ...नु वाङ्मन इन्द्रियाणि। स्पन्दन्ति वै तनुभृतामजशर्व-...स्वस्याप्यथापि भजतामसि भावबन्धुः ॥१४४॥

हे विभो तव किमहं वर्णये त्वत्कृपाद्भुतायाः कियन्त-...शं वर्णयेयमित्यर्थः। यतो येन त्वयैव उदीरितः प्रेरितोऽसुः ...ाणः संस्पन्दते प्रवर्त्तते, तमसुमनु च वागादयः स्पन्दते। ...त्र हेतुः, वै अन्वयव्यतिरेकाभ्यांश्रोत्रस्य श्रोत्रमित्यादि-...श्रुतिभिश्च तत्प्रसिद्धमित्यर्थः। न केवलं प्राकृतानां तनुभृतां

... भक्तिरूपा स्वरूप शक्ति को जीव हृदय में अभिव्यक्त करने का ...कारण भगवान् ही हैं। यद्यपि जीवमात्र के बुद्धि-इन्द्रियादि में विषयव्यापार की प्रवृत्ति का कारण भगवान् हैं परन्तु वह उपकार ...आभासमात्र है। भक्त के प्रति भक्ति के द्वारा जो अनुरक्तचित्त होते ... वह उनकी असाधारणी कृपा का प्राबल्य मूलकारण है। इस बात ...को कहने के लिये मार्कण्डेयऋषि का वचन उल्लेख करते हैं— ...अन्तर्यामी भगवान् प्राणादि इन्द्रिय वर्ग के प्रवर्त्तक हैं। उन्हीं की ...प्रेरणा से शरीर-वाणी-मन-इन्द्रिय समस्त अपने अपने व्यापार में ...प्रवृत्त होते हैं। भगवान् के स्तव में अपना कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। ...इस अभिप्राय को लेकर मार्कण्डेयजी कहते हैं—हे विभो! तुम्हारे ...द्वारा प्रेरित होकर प्राणादि अपनी अपनी क्रिया में प्रवृत्त होते हैं, ...तुम्हारी प्रेरणा से ब्रह्मा-शंकरादि से लेकर हम सब के वाक्य-मन-...इन्द्रियादि ज्ञान एवं क्रियाशील होते हैं। अतः किसी का इस विषय ...में कोई स्वातन्त्र्य नहीं है। तो भी तुम से प्रेरित होकर जो प्रवर्त्तमान ...वाक् प्रभृति इन्द्रियों के द्वारा तुम्हारा भजन करता है उन के सम्बन्ध

किन्तु अजशर्वयोश्च । अतः स्वस्य ममापि तथैव । एवं यद्यपि न क्वचिदपि कस्यापि स्वातन्त्र्यं तथापि दारुयन्त्रवत् त्वत्प्रवर्त्तितैरपि वागादिभिर्भजतां पुसां भावेन स्वदत्तयैव भक्त्या बन्धुरसीति॥१२।८॥मार्कण्डेयः श्रीनरनारायणौ ॥१४४॥

भगवदनुभवकर्त्तृत्वेऽनन्यहेतुत्वमाह–शृण्वन्ति गायन्ति गृणन्त्यभीक्ष्णषः स्मरन्ति नन्दन्ति तवेहितं जनाः । त एव पश्यन्त्यचिरेणतावकं भवप्रवाहोपरमं पदाम्बुजम् ॥१४५॥

स्पष्टम्॥१॥८॥ कुन्ती श्रीभगवन्तम् ॥१४५॥

श्रीभगवत्प्रापकत्वमाह—भक्त्योद्धवानपायिन्या सर्व-

में तुम्हारे द्वारा दारुयंत्रवत् प्रदत्त भक्ति के द्वारा भावबन्धुत्व अर्थात् हितकारी बन्धुभाव प्रकाश होता है। अतः तुम्हारी परम कृपालुता का किस अंश से वर्णन करने में हम समर्थ होंगे। "श्रोत्रस्य श्रोत्रम्" अर्थात् श्रोत्र के श्रवण करने का सामर्थ्य जिन के चिदाभास संवलन से है इत्यादि अन्वय—व्यतिरेक मुख से श्रुत्यादि में स्पष्टतया उल्लेख है ॥१४४॥

श्रवणादिरूपा विशुद्धाभक्ति के विना अन्य किसी साधनों से भगवान् का अनुभव नहीं किया जा सकता इस बात का कुन्तीदेवी भगवान् का स्तवन करती हुई (१।८।३६) श्लोक में कह रही हैं कि—हे गोविन्द ! जो निरन्तर तुम्हारे चरित्रश्रवण, गान, कीर्त्तन, स्मरण तथा अभिनन्दन करते हैं वे शीघ्र ही संसार निवृत्ति रूप आपके असाधारण चरणकमल का दर्शन करते हैं। अर्थ स्पष्ट है ॥१४५॥

एकमात्र अव्यभिचारिणी भक्ति से भगवान् की प्राप्ति होती है

लोकमहेश्वरम् । सर्वोत्पत्त्यप्ययं ब्रह्म कारणं मोपयाति सः ॥१४६॥

टीका च —महेश्वरत्वे हेतुः, सर्वोत्पत्त्यप्ययं सर्वस्योत्पत्त्यप्ययौयस्मात् अतएव तत्कारण मा मां ब्रह्मस्वरूपं वैकुण्ठनिवासिनम् । यद्वा ब्रह्मणः वेदस्य कारणं मामुपयाति सामीप्येन प्राप्नोतीत्येषा । श्रीगीतासु— पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्ययेति ॥११॥१८॥ श्रीभगवान् ॥१४६॥

तथा मनसोऽप्यगोचरफलदाने श्रीध्रुवचरितं प्रमाणं, परमभक्तिसम्बलितस्वलोकदानात् । तद्वशीकारित्वं तूदाहृतं,

---

इसके बारे में कहते हैं—भगवान् ने उद्धवजी से (११।१८।४५) श्लोक में कहा है—हे उद्धव ! वह अनपायिनी भक्ति के द्वारा समस्त लोक के महेश्वर, सर्वलोक के उत्पत्ति-विनाश कारण, ब्रह्मस्वरूप मुझे प्राप्त होता है । टीका कहती है—महेश्वर के हेतु-सर्वलोक की उत्पत्ति एवं नाश जिन से अतः उत्पत्ति-नाश के कारण, ब्रह्मस्वरूप अर्थात् वैकुण्ठनिवासी । अथवा ब्रह्म अर्थात् वेद के कारण स्वरूप मुझ को उपयाति अर्थात् निकट में प्राप्त होता है । गीता में भगवान् ने कहा है—"पुरुषः स परः पार्थ भक्त्यालभ्यस्त्वनन्यया" अर्थात् हे अर्जुन ! उन परम पुरुष को अनन्य भक्ति के द्वारा प्राप्त किया जाता है इत्यादि ॥१४६॥

भक्तिदेवी मानस संकल्प के अगोचर फल को प्रदान करती हैं उसका प्रमाण ध्रुवचरित्र है । क्योंकि भगवान् ने परमभक्ति सम्बलित ध्रुवाख्य अपने लोक को ध्रुव के लिये प्रदान किया है—भक्ति से

न साधयति मां योग इत्यादौ। तथा—तत्पद्यान्ते, भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सतामिति ॥१४७॥

अत्रैवं विवेचनीयम्। यद्यप्यस्य वाक्यस्य एकादशचतुर्दशाध्यायप्रकरणे साध्यसाधनभक्त्योरविविक्ततयैव महिमनिरूपणमिति साधनपरत्वं दुर्निर्णयं, तथापि फलभक्तिमहिमद्वारापि साधनमहिमपरत्वमेव। यत्रेदृशमपि फलं भवतीति। वदन्ति कृष्ण श्रेयांसीत्यादिप्रश्नमारभ्य साधनस्यैवोपक्रान्तत्वात्, यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्यगाथाश्रवणाभिधानैः इत्यादिना तस्यैवोपसंहृतत्वाच्च। विशेषतस्तु

भगवान् वशीभूत होते हैं वह "न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म्म उद्धव !" इत्यादि श्लोक के द्वारा दिखलाया गया है। उस श्लोक के बाद "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्" अर्थात् हे उद्धव ! श्रद्धा-पूर्विका अव्यभिचारिणी भक्ति के द्वारा साधुप्रिय हमारा ग्रहण किया जाता है इत्यादि कहा भी गया है। यहाँ विचार्य यह है कि—यद्यपि "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः" तथा "न साधयति मां योगः" इत्यादि एकादशस्कन्ध के चतुर्द्दश अध्याय-प्रकरण में साध्य तथा साधनभक्ति की अविविक्तता से महिमा कही गई है उस से भक्ति की साधनभक्ति-परक महिमा का निर्णय करना दुःसाध्य हो रहा है तो भी फलरूपा भावभक्ति की महिमा वर्णन के द्वारा साधनभक्ति की महिमा दिखलाई गई जानना। यह चतुर्द्दश अध्याय के प्रकरण का तात्पर्य है और वहाँ फल भी उसी प्रकार से जानना चाहिये। "वदन्ति कृष्ण ! श्रेयांसि" इत्यादि प्रश्न को आरम्भ कर साधन का ही उप-

तत्र बाध्यमानोऽपि मद्भक्त इत्यादिकं धर्मः सत्यदयोपेत इत्याद्यन्तं तदीयमन्त-प्रकरणं प्रायः साधनमहिमपरमेव । तत्र बाध्यमानोऽपीति पद्यं, साध्यभक्तौ जातायां बाध्यमानत्वायोगात्, दधति सकृन्मनस्त्वयि य आत्मनि नित्यसुखे न पुनरुपासते पुरुषसारहरावसथान् इत्युक्तेर्विषयाविष्टचित्तानां विष्णवावेशः सुदूरतः । वारुण दिग्गतं वस्तु व्रजन्नैन्द्रीं किमाप्नुयादिति विष्णुपुराणाच्च तन्महिमपरत्वेन गम्यते । अत्रैव तावद्वक्ष्यते, कथं विना रोमहर्षं द्रवता चेतसा विना । विनानन्दाश्रुकलया शुध्येद्भक्त्या विनाशयः॥

क्रमण किया गया है और "यथा यथात्मा परिमृज्यतेऽसौ मत्पुण्य-गाथा-श्रवणाभिधानैः" इत्यादि वचनों से उसका उपसंहार भी हुआ है। विशेष करके वहाँ वास्तविक "बाध्यमानोऽपि मद्भक्त" इत्यादि प्रारम्भ कर "धर्मः सत्यदयोपेत" इत्यन्त किया गया। अतः वह प्रकरण प्रायतः साधन-महिमापरक है। उन में "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" यह श्लोक यद्यपि साधनभक्ति महिमा वर्णन में पठित है तो भी उसका अभिप्राय "जब कि साधन करते करते भगवान् में साध्या अर्थात् भावभक्ति का उदय होता है तब विषयों से बाधित नहीं होता है परन्तु साधनावस्था में विषयों के द्वारा भक्ति में बाधा उपस्थित होती है" यह है। साध्याभक्ति में बाध्यमानत्व का अभाव जानना। इस अभिप्राय से (१०।८७।३५) श्लोक में भगवान् का स्तवन करती श्रुतियों ने कहा है—हे प्रभो! जिन्होंने नित्यसुख, नित्यप्रिय, परमात्मा तुम में एक ही बार मन लगाया है वे पुनः हृदय के धैर्य-गाम्भीर्य-दया-दाक्षिण्यादि सार का हरण करने वाले विषय

उत्यनेन, मद्भक्तियुक्तो भुवनं पुनानीति कैमुत्यवाक्येन च साध्यभक्तेः संस्कारहारित्व, ततो विषयमाना भवन्तीति। अथ यथाग्निः सुसमिद्धार्चिरिति पद्यं नामाभासादेः सर्वपापक्षयकारित्वप्रसिद्धेस्तत्परम्। अथ न साधयति मोग इत्येतत् साद्धैपद्यं योदीनां साधनरूपानां प्रतियोगित्वेन निर्दिष्टत्वात् श्रद्धासहायत्वेन विधानाच्च तत्परम्। साध्यायां श्रद्धोल्लेखः पुनरुक्त इति। यद्यपि फलभक्तिद्वारैव तद्वशीकारित्वं तस्या-

---

की सेवा नहीं करते हैं इत्यादि। विष्णुपुराण में कहा गया है—जिस प्रकार पश्चिम दिशा में विद्यमान बस्तु को प्राप्त करने के लिये पूर्व-दिशा में जाने पर नहीं प्राप्त किया जाता उस प्रकार विषयाविष्ट जन के कृष्णावेश सुदूर में जानना। इत्यादि प्रमाणानुसार साध्य-भाव-भक्ति महिमा-परक वह प्रकरण है। क्योंकि आगे चतुर्द्दश अध्याय में कहेंगे कि—हे उद्धव! भक्ति के विना किस प्रकार चित्तशुद्धि हो सकती है? और मेरे श्रवण-कीर्त्तनादि में यदि चित्त-विगलित नहीं होता है तो इसकी भक्ति है कैसे समझा जावेगा। यदि शरीर में रोमहर्ष एवं नेत्रों में आनन्दाश्रुकला नहीं है तो चित्तद्रव का परिचय किस प्रकार हो सकता। इस से साध्य-भावभक्ति के उदय होने पर चित्तशुद्धि होती है यह स्पष्ट दिखलाया गया है। विशेष करके "मद्-भक्तियुक्तो भुवनं पुनाति" इस प्रमाण से प्रेमभक्तिलाभ से ही जगद्-गत जीवों की हृदय शोधन करने की क्षमता हो सकती है। इस कैमुत्यवाक्य से साध्यभक्ति की हृदयगत भोगवासना के नाश करने की क्षमता है। जिस भावभक्ति से जगद्गत-जीब-हृदय का वासना संस्कार नष्ट हो जाता है वह भावभक्ति एकमात्र साधक-हृदयगत

स्तथाऽप्यत्र साधनरूपाया मुख्यत्वेन प्राप्तत्वात् तत्रैवोदाहृतम् । किम्बा, अस्त्वेवमङ्ग भजतां भगवान् मुकुन्दो मुक्तिं ददाति कर्हिचित् स्म न भक्तियोगमिति न्यायेन, नावशः सन् प्रेमाणं ददाति इति तस्या एव साक्षात् तद्गुणकत्वं ज्ञेयम् । अथ धर्मः सत्यदयोपेत इति पद्यञ्च धर्मादिसाधनप्रतियोगित्वेन निर्देशात् साधनभक्तेरेवान्यत्रापि तत्फलतयोदाहृतत्वाच्च तत्परम् । यत् कथं विनेत्यादिकं तच्च साधनभक्तिफलस्य शोधकत्वातिशयप्रतिपादनेन तत्परमिति । तस्मात् साध्वेव बाध्यमानोऽपीत्यादिपद्यानि तत्तत्प्रसङ्गे दर्शितानि ॥११॥१४॥ श्रीभगवान् ॥१४७॥

वासना संस्कार नष्ट कर देगी, इस में कहना ही क्या है ? अनन्तर "यथाग्निः सुसमिद्धार्च्चिः करोत्येधांसि भस्मसात् । तथा मद्विषया भक्तिरुद्धवैनांसि कृत्स्नशः" अर्थात् "हे उद्धव ! सम्यक् प्रज्वलित अग्नि जिस प्रकार काष्ठराशि को भस्मीभूत कर लेती है उस प्रकार मद्विषयिणी भक्ति निखिल पापराशि को नष्ट कर देती है ।" यह श्लोक साधनभक्ति-परक जानना । क्योंकि अनायास से सर्वपाप क्षय करने की क्षमता नामाभास की है । अतः यह श्लोक साधनभक्ति-परक होना अनिवार्य है । अनन्तर "न साधयति मां योगः" इत्यादि डेढ श्लोक से साधनरूप योगादि के प्रतियोगीरूप से निर्देश किये जाने के कारण तथा श्रद्धायुक्त होकर अनुष्ठान करने की व्यवस्था दिये जाने के हेतु साधनभक्ति-परक तात्पर्य है । क्योंकि यदि साधन-भक्ति परक व्याख्या न करके साध्य-भावभक्ति परक व्याख्या की जाती है तो "श्रद्धयात्मा" इस प्रकार सहार्थ बोधक श्रद्धा पद के

तत्रास्तु तावत्तस्याः साक्षाद्भक्तेः परधर्मत्वादिकं भगवदर्पणसिद्धतदनुगतिकस्यालौकिककर्मणोऽपि परधर्मत्वमुदाहरिष्यते, यो यो मयि परे धर्म इत्यादौ। तथा पापघ्नत्वादिकं तस्याः श्रवणादिनापि भवति इत्युप्युक्तं, श्रुतोऽनुपठितो ध्यात इत्यादौ। पाद्मे माघमाहात्म्ये देवदूतवाक्यञ्च—प्राहास्मान् यमुनाभ्राता सादरं हि पुनः पुनः। भवद्भिर्वैष्णवस्त्याज्यो विष्णुश्चेद्भजते नरः। वैष्णवो यद्गृहे भुङ्क्ते येषां वैष्णवसङ्गतिः। तेऽपि वः परिहार्य्याः स्युस्त-

उल्लेख में पुनरुक्तिदोष आ पड़ता है। जब श्रद्धा के साथ-भक्ति अनुष्ठान करते-करते ही भावभक्ति का लाभ होता है तब पुनः श्रद्धापद उल्लेख की आवश्यकता नहीं पड़ती। यद्यपि वह साधनभक्ति फलरूपा-भावभक्ति के द्वारा ही भगवान् को वशीकृत करने में समर्थ होती है तो भी इस प्रकरण में साधन-रूपा भक्ति का मुख्य रूप में उल्लेख है अतः इस साधनभक्ति प्रकरण में भगवद्वशीकार धर्म ही तात्पर्य्य रूप से कहा गया है। अथवा "भगवान् मुकुन्द भजनकारी भक्तवृन्द को मुक्तिदान करते हैं परन्तु कभी प्रेमभक्तियोग नहीं देते है" इस नीति के अनुसार भक्त के अधीन होना पड़ेगा इस भय से मुक्ति तो दे देते हैं परन्तु भक्ति को नहीं। अतः साक्षात्सम्बन्ध से साधन-भक्ति का भगवत् वशीकरणगुण विद्यमान जानना होगा। यहाँ यह अभिप्राय है कि—भक्ति को प्रेम प्रदान करने के पहले ही यदि भगवान् वशीभूत नहीं होते हैं तो किस प्रकार प्रेम रूप अदेय वस्तु प्रदान कर सकते हैं? "धर्म्मः सत्यदयोपेतः" यह श्लोक धर्मादि साधनों के प्रतियोगीरूप से निर्देश किये जाने के कारण साधनभक्ति-महिमा

तसङ्गहतकिल्विषाः ॥ इति । बृहन्नारदीये यज्ञमाल्युपाख्या-न्ते—हरिभक्तिपराणान्तु सङ्गिनां सङ्गमाश्रितः । मुच्यते सर्वपापेभ्यो महापातकवानपि ॥ इति । ततः सुतरामेवेद-मादिदेश—जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम् । कृष्णाय नो नमति यच्छिर एक-दापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान् ॥१४८॥

आस्तां तावत् तानानयध्वमित्यादिकेनैतत्पूर्वद्वितीयपद्ये-नोक्तानां मुकुन्दपादारविन्दरसविमुखानामानयनवार्त्ता, तथा देवसिद्धेत्यादिकेनैतत्पूर्वतृतीयपद्येनोक्तानां देवसिद्धपरि-गीतपवित्रगाथानां साधूनां समदृशां भगवत्पराणां निकट-

---

परक है। क्यों कि साधन-भक्ति से चित्तशुद्धि होती है इस प्रकार बहु स्थान में उल्लेख है। "कथं विना रोमहर्ष" यह श्लोक भी साधन भक्ति के फलरूप भावभक्ति से हृदय का अतिशय रूप से शोधन होता है इस अभिप्राय से साधनभक्ति महिमा परक है। क्यों कि साधन-भक्ति का अनुष्ठान करते-करते ही मोक्षसुख में तुच्छता-बुद्धि होती है जिससे चित्तविगलित होता है। अतएव "बाध्यमानोऽपि मद्भक्तः" इत्यादि श्लोक समूह साधनभक्ति प्रसंग में उल्लेखित किये गये हैं। यह व्याख्या अति सुन्दर हुई ॥१४८॥

जो विष्णुसम्बन्धी कोई कार्य नहीं करते हैं उन समस्त असद्गण लाने के लिये धर्मराज यम ने दूतों के प्रति जो आदेश किया है वह तो ठीक था, उसके पहले द्वितीयपद के द्वारा उक्त मुकुन्दपादारविन्द-रसविमुखों को लाने की भी कही गई। और तृतीय पद के द्वारा उक्त

गमननिषेधवार्त्तापि । यद्‌यस्य जिह्वापि श्रीभगवतो गुणश्च नामधेयश्च वा एकदा जन्ममध्ये यदा कदापि न वक्ति जिह्वाया अभावे चेतश्च तच्चरणारविन्दमेकदापि न स्मरति चेतसो विक्षिप्तत्वे शिरश्च कृष्णाय कृष्णं लक्ष्यीकृत्य नो नमति, शाठ्येनापि नमस्कारं कुर्वतः शार्ङ्गधन्विने । शत-जन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यतीति स्कान्दोक्तमहिमानं नमस्कारं न करोति, तानानयध्वम् । तत्र हेतुः, असतः ।

देवता-सिद्धों से गीयमान पवित्र गाथावाले, भगवत्परायण, समदृक् साधुओं के निकट गमन करने का निषेध भी किया गया । जिस की जिह्वाने भमवान् के गुण अथवा नाम का जन्म मध्यमें जब कभी एक ही वार नहीं-लिया, जिह्वाभाव से चित्तने भी भगवान्‌के चरणा-रविन्द का एकवार स्मरण नहीं किया, चित्त विक्षिप्त में भी मस्तक ने कृष्ण को लक्ष्य करके "शठता से भी शाङ्‌र्गधनु वाले भगवान् के नमस्कार करने वाले का उसी समय शत-जन्मार्ज्जित पाप नष्ट हो जाता है" इस प्रकार स्कन्दपुराणोक्त महिमपरक नमस्कार नहीं किया उनको ले आना । लाने का कारण ? वे असत् हैं । असत् क्यों ? तो कहते है विष्णुकृत्य न करने के कारण । स्कन्दपुराण के रेवाखण्ड में श्रीब्रह्माजी की उक्ति में यथा–हे केशव ! जो आपके भक्त है बह सर्वधर्म्म के करने वाला है, और जो भक्त नहीं है वह समस्त पापों के कर्त्ता हैं । आप केअभक्तों से धर्म पाप है । हे हरे ! समस्त धर्मानुष्ठान करके यदि तुम्हारी भक्ति नहीं करता है तो वह अभक्त नरक में निवास करता है । और तुम में भक्तिमान् जन ब्रह्महत्या करके भी समस्त पापों से विमुक्त हो जाता है । पद्मपुराण में भी

असत्त्वे हेतुरकृतविष्णुकृत्यान् । यथा च स्कान्दे रेवाखण्डे श्रीब्रह्मोक्तौ—स कर्त्ता सवधर्म्माणां भक्तो यस्तव केशव । स कर्त्ता सर्वपापानां यो न भक्तस्तवाच्युत । पापं भवति धर्मोऽपि तवाभक्तैः कृतो हरे । निःशेषधर्म्मकर्त्ता वाप्यभक्तो नरके हरे । सदा तिष्ठति भक्तस्ते ब्रह्महापि विमुच्यते ॥ पाद्मे—मन्निमित्तं कृतं पापमपि धर्माय कल्पते । मामनादृत्य धर्मोऽपि पापं स्यान्मत्प्रभावतः ॥ इति । युक्तश्चैतत् । श्रवणं कीर्त्तनञ्चास्येत्यादिना मुखबाहूरुपादेभ्य इत्यादिना

कहा है—मेरे लिये किये हुए पाप धर्म में परिणत होते हैं और मेरे अनादर से धर्म भी मत्प्रभाव से पाप हो जाते हैं। ये समस्त वचन युक्तियुक्त है। श्रवणं कीर्त्तनं चास्य स्मरणं महतां गतेः। सेवेज्या-वनतिर्दास्यं सख्यमात्मसमर्पणम् । नृणामयं परो धर्म्मः सर्वेषां समुदाहृतः" इस श्लोक में (७।११।११) नारदजी ने युधिष्ठिर महाराज से कहा है—मानव मात्र के श्रीहरि के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, सेवा, पूजा, प्रणाम दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन ये नौ प्रकार धर्म अवश्य मुख्य कर्त्तव्य है ॥ "मुखबाहूरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सहः" इत्यादि (११।५।२) श्लोक में चमसयोगेन्द्र ने निमिमहाराज को कहा है—भगवान् के मुखादि से इन समस्त वर्ण-आश्रम की उत्पत्ति हुई है। चार-वर्णी अथवा चार आश्रमी के मध्य में रह कर यदि कोई अपने पिता (पालक) भगवान् का भजन नहीं करता है अथच अवज्ञा करता है वह स्थानभ्रष्ट होकर अधः पतित हो जाता है। "गृहस्थस्याप्यृतौ गन्तुः सर्वेषां मदुपासनमिति" एकादश स्कन्ध में सब के लिये मेरी उपासना कर्त्तव्य में ऐसा कहा गया और "स्मर्त्तव्यः सततं विष्णु-

सर्वेषां मदुपासनमित्यादिना सर्वे विधिनिषेधाः स्युरित्यादिना च परमनित्यत्वादिप्रतिपादनात् । एषां कीर्त्तनादीनां त्रयाणामपि सुकराणामभावे परेषां सुतरामेवाभावो भवेदिति सामान्येनैव विष्णुकृत्यरहितत्वमुक्तम् । जिह्वादीनां करण-भूतानामपि कर्त्तृत्वेन निर्देशः पुरुषानिच्छयापि यथा कथञ्चित् कीर्त्तनादिकमादत्ते । चरणारविन्दमिति विशेषाङ्गनिर्देशः श्रीयमस्य भक्तिख्यापक एव, न तु तन्मात्रस्मरणनियामकः ।

र्विस्मर्त्तव्यो न जातुचित् । सर्वे विधिनिषेधाः स्युरेतयोरेव किङ्कराः,' इस श्लोक में भी निखिल विधिनिषेध के राजा श्रीविष्णु स्मरण से समस्त विधि की रक्षा एवं विस्मरण से समस्त निषेध की रक्षा होती है । इत्यादि प्रमाणों से भगवद्भक्ति का नित्यत्व एवं अवश्य कर्त्तव्यत्व प्रतिपादन होता है ।

अतएव सुखसाध्य कीर्त्तन, स्मरण एवं प्रणाम इन तीनों में से किसी एक अभाव से अन्य भक्ति अंग का अभाव है इस अभिप्राय से यमराज ने "अकृतविष्णुकृत्यम्" ऐसा कहा है । अर्थात् इन तीनों से एक भी जिस में नहीं । उन असत् गण को ले आना । यहाँ मूल श्लोक में करण-स्थानीय रूप में जिह्वा का तथा चित्त और मस्तक का कर्त्तृस्थानीय रूप में उल्लेख करना था अर्थात् जिह्वा के द्वारा जो श्रीहरि के नाम, गुण कीर्त्तन नहीं करता है ऐसा कहना था परन्तु जिस की जिह्वा हरिगुण कीर्त्तन नहीं करती है इस प्रकार कर्त्तारूप में उल्लेख किया गया है । उससे यह अर्थ व्यक्त होता है कि—नाम उच्चारणकारी पुरुष के जो अनिच्छा-सत्व में भी जैसे तैसे कीर्त्तन-स्मरणादि भक्तिअङ्ग का अनुष्ठान करता है तो उनके निकट मत

अत्राभक्तानामानयनेन भक्तानामनानयनमेव विधीयते आनयनस्योत्सर्गसिद्धत्वात्, वैवस्वतं संयमनं प्रजानामिति श्रुतेः। सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोर्निवेशितं तद्गुणरागि यैरिह। न ते यमं पाशभृतश्च तद्भटान् स्वप्नेऽपि पश्यन्ति हि चीर्णनिष्कृतान् ॥ इत्यत्र तद्गुणरागीति विशेषणं तु तेषां तद्दृष्टिपथगमनसामर्थ्यस्यापि यद्घातकं तादृशतत्स्मरणस्य प्रभावविशेषमेव बोधयतीति ज्ञेयम्। यथैव नारसिंहे— अहममरगणार्चितेन धात्रा यम इति लोकहिताहिते

जाना। मूलश्लोक में "चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्" अर्थात् जिसका चित्त श्रीहरिचरणारविन्द का स्मरण नहीं करता है इस प्रकार अङ्ग विशेष उल्लेख है। उससे यमराज की भक्ति अभिव्यञ्जित हो रही है। भगवान् के किसी अङ्ग के स्मरण से साधक कृतार्थ हो जाता है केवल चरणारविन्द का नहीं यह बतलाया गया है। इस प्रसंग में "अभक्तों को लाना" इस प्रकार आदेश से भक्तगण को न लाने की स्वतः ही विधि प्राप्त हो रही है। श्रुति कहती है—"वैवस्वतं संयमनं प्रजानाम्" अर्थात् धर्मराज यम प्रजागण के संयमनकारी है। "सकृन्मनः कृष्णपदारविन्दयोः" इस (६।१।१०) श्लोक में शुकदेवजी ने परीक्षित् महाराज से कहा है—हे वत्स ! स्वल्प परिमाण से अनुष्ठिता भक्ति भी पातकियों को शोधन करती है। जिस का हरिगुण में रुचि सम्पन्न मनः श्रीकृष्ण-चरणयुगल में निवेशित हो गया है उसका पुनः स्वप्न में भी यम अथवा उसके पासधारी किंकरगण का दर्शन नहीं है। इस श्लोक में "तद्गुणरागि" इस प्रकार मन का विशेषण देने का उद्देश्य—उन समस्त भक्तगण के दृष्टिपथ में यम

नियुक्तः । हरिगुरुविमुखान् प्रशास्मि मर्त्यान् हरिचरण-प्रणतान् । नमस्करोमि ॥ इति । तथैवामृतसारोद्धारे स्कान्दवचनम्—न ब्रह्मा न शिवाग्नीन्द्रा नाहं नान्ये दिवौ-कसः । शक्तास्तु निग्रहं कर्त्तुं वैष्णवानां महात्मनाम् ॥ इति ॥६॥३॥श्रीयमः स्वदूतान् ॥१४८॥

तथा सकृद्भजनेनैव सर्वमप्यायुः सफलमित्युदाहृतमेव श्रीशौनकवाक्येन, आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तञ्च यन्नसौ इत्यादिग्रन्थेन । एवं भक्त्याभासेनाप्यजामिलादौ पापघ्नत्वं

व यमदूतों के गमन असमर्थ है जो कि भगवत्स्मरण प्रभाव विशेष से जानना । नृसिहपुराण में यमराज का वचन है—मैं देवपूजित ब्रह्मा कर्त्तृक "यम" इस नाम से अभिहित होकर लोकमात्र के हित-अहित में नियुक्त हूँ । जो हरिगुरुचरण विमुख हैं उनका शासन करता हूँ एवं हरिचरण प्रणत जन को नमस्कार करता हूँ ॥ अमृतसारोद्धार में स्कन्दपुराण का वचन है कि—ब्रह्मा, शिव, अग्नि, इन्द्र एवं मैं यम तथा अन्यान्य देवगण महात्मा वैष्णवों का निग्रह करने में समर्थ नही होते हैं ॥१४८॥

(२।३।१७।२५) श्लोक में शौनक वाक्य के द्वारा एकवार मात्र भगवद्भजन से समस्त आयुः सफल होतीं है यह उल्लेख किया गया है । यथा—सूर्य्य उदय होकर तथा अस्त जा कर पुरुषमात्र का पर-मायु हरण करता है परन्तु जिन्होंने हरिकथा में क्षणकाल अतिवाहित किया है उन का नहीं । इस प्रकार भक्ति-आभास मात्र से अजामिल आदि का निखिल पाप विनष्ट होना देखा गया है । अल्पायास मात्र

दृश्यते । तथा सर्वकर्म्मादिविध्वंसपूर्वकपरमगतिप्राप्तावपि स्वल्पायासेनैव भक्तेः कारणत्वं श्रूयते लघुभागवते—वर्त्त-मानश्च यत्पापं यद्भूतं यद्भविष्यति । तत्सर्वं निर्दहत्याशु गोविन्दानलकीर्त्तनादिति । तथैव च तत्र यथा कथञ्चित् तद्भक्तिसम्बन्धस्य कारणत्वं दृश्यते ब्रह्मवैवर्त्ते—स समारा-धितो देवो मुक्तिकृत्स्याद् यथा तथा । अनिच्छयापि हुतभुक् संस्पृष्टो दहति द्विजाः । स्कान्दे उमामहेश्वरसम्वादे—दीक्षा-मात्रेण कृष्णस्य नरा मोक्षं लभन्ति वै । किं पुनर्ये सदा भक्त्या पूजयन्त्यच्युतं नराः ॥ बृहन्नारदीये—अकामादपि

से अनुष्ठित भक्ति सर्व कर्म विनष्टकर परमागति दान करती है यह बात लघुभागवत में सुनने में आती है । यथा—अनलस्थानीय गोबिन्दनाम कीर्त्तन प्रभाव से अतीत, वर्त्तमान एवं भविष्यत् समस्त पाप नष्ट हो जाते हैं । ब्रह्मवैवत्तपुराण में भी ऐसा सुनने में आया है—यथा—कथञ्चित् भक्तिसम्वन्ध से निखिल पाप विनष्ट हो जाते हैं । बिना इच्छा से अग्नि जिस प्रकार स्पर्श प्राप्त होकर दहन कर लेती है उस प्रकार भगवान् हरि जैसे तैसे आराधित होकर मुक्तिदान करते हैं ॥ स्कन्दपुराण के उमा-महेश्वर-सम्वाद में यथा—मनुष्यगण कृष्णमन्त्र-दीक्षा मात्र से ही मुक्ति लाभ कर लेते हैं इस में कोई संशय नहीं है । और जो मनुष्य भक्ति पूर्वक सर्वदा श्रीकृष्ण की पूजा करते हैं उन के बारे में कहना ही क्या है ? बृहन्नारदीय में भी कहा गया है—जो अनिच्छासत्त्व में भी विष्णु की एकवार मात्र पूजा करते हैं उनका भवबन्धन नहीं है । पद्मपुराण में देवद्युति-स्तुति में यथा—जो

ये विष्णोः सकृत् पूजां प्रकुर्वते । न तेषां भवबन्धस्तु कदाचिदपि जायते ॥ पाद्मे देवद्युतिस्तुतौ—सकृदुच्चारयेद्यस्तु नारायणमतन्द्रितः । शुद्धान्तःकरणो भूत्वा निर्वाणमधिगच्छति ॥ तत्रान्यत्र—सम्पर्काद् यदि वा मोहाद्यस्तु पूजयते हरिम् । सर्वपापविनिर्मुक्तः प्रयाति परमं पदम् ॥ इतिहाससमुच्चये श्रीनारदपुण्डरीकसम्बादे—ये नृशंसा दुराचाराः पापाचाररताः सदा । ते यान्ति परमं धाम नारायणपदाश्रयाः । लिप्यन्ते न च पापेन वैष्णवा वीतकल्मषाः । पुनन्ति सकलान् लोकान् सहस्रांशुरिवोदितः ॥ जन्मान्तरसहस्रेषु यस्य स्यान्मतिरीदृशी । दासोऽहं वासुदेवस्य सर्वान्

आलस्य त्याग कर एक बार नारायण नाम उच्चारण करता है वह शुद्ध चित्त होकर मोक्षाधिकारी बन जाता है। पद्मपुराण के अन्यत्र भी कहा है—जो जन किसी सम्पर्क से अथवा अनिच्छासत्त्व से हरि की पूजा करता है वह समस्त पापों से विमुक्त होकर तत्पद लाभ कर लेता है। इतिहाससमुच्चय में श्रीनारद-पुण्डरीक सम्बाद में देखा गया है—कि—नृशंस, दुराचारी, निरन्तर पापरत जन यदि नारायण-चरण में शरणागत हैं तो वे परम धाम के लिये गमन करते हैं। वैष्णवगण कभी पाप में लिप्त नहीं होते हैं। क्यों कि हरिचरणाश्रय प्रभाव से वे वीतकल्मष माने जाते हैं। वे उदयशील सहस्रांशु-सूर्य की भांति समस्त लोक को पवित्र करते हैं। सहस्र-सहस्र जन्म सौभाग्य फल से जिन की "मैं वासुदेव का दास हूँ" इस प्रकार मति होती है वे समस्त लोक का उद्धार कर लेते हैं तथा विष्णु के समान लोक में निवास करते हैं इस में कोई सन्देह नहीं है। और जो हरि-

लोकान् समुद्धरेत् ॥ स याति विष्णुसालोक्यं पुरुषो नात्र संशयः । किं पुनस्तद्गतप्राणाः पुरुषाः संयतेन्द्रियाः ॥ अत एव, सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वथा तस्मै ददामेत्यतद्व्रतं मम ॥ इति रामायणे श्रीरामचन्द्र-वाक्यञ्च । सकृदेव प्रपन्नो यस्तवास्मीति च याचते । अभयं सर्वथा तस्मै ददात्येतद्व्रतं हरेरिति च गरुड़पुराणम् । तथा-चाह—आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् । ततः सद्यो विमुच्येत यद्बिभेति स्वयं भयम् ॥ इति ॥१४६॥

स्पष्टम् ॥१।१॥ श्रीशौनकः ॥१४६॥

तथा—न हि भगवन्न घटितमिदं त्वद्दर्शनान्नृणामखिल-

गत जीवन एवं संयतेन्द्रिय हैं उन के बारे में कहना ही क्या है ? अत-एव रामायण में रामचन्द्रजी का वचन है कि–शरणागत जो जन "हे हरि ! मैं तुम्हारा हूँ" इस प्रकार एकवार कहता है मैं सर्वप्रकार से उस के प्रति अभय-दान करता हूँ यह मेरा व्रत है । गरुडपुराण में भी कहा है—जो एक ही बार शरण में आकर "तुम्हारा मैं हूं" इस प्रकार कहता है तो श्रीहरि सर्व प्रकार से उसे अभय दान करते हैं यह उन की प्रतिज्ञा है ॥ (१।१) अध्याय में शौनकजी सूतजी से कहते हैं—जो भयानक संसार में पड़ा हुआ है वह यदि कृष्णनाम उच्चारण करता है तो उससे उसी समय संसार से विमुक्त हो जाता है। क्यों कि नामोच्चारण से निखिल भय के मूलभूत महाकाल तक भी भीत हो जाता है ॥१४६॥

(६।१६) अध्याय में चित्रकेतु महाराज ने संकर्षणदेव के प्रति

पापक्षयः । यन्नामसकृत्श्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते साक्षात् ॥१५०॥

स्पष्टम् ६॥१६॥ चित्रकेतुः श्रीसङ्कर्षणम् ॥१५०॥

अतएवोक्तं श्रीविष्णुधर्म्मोत्तरे—जीवितं विष्णु-भक्तस्य वरं पञ्चदिनानि वै। न तु कल्पसहस्राणि भक्तिहीनस्य केशवे ॥ इति । अत्र यत् तृतीये गर्भस्थस्य जीवस्य भगवतः स्तुतिः श्रूयते, तस्यैव च संसारोऽपि वर्ण्यते, तत्रोच्यते, जात्येकवत्त्वेनैवैकवद्वर्णनमिति । वस्तुतस्तु कश्चिदेव जीवो भाग्यवान् भगवन्तं स्तौति । स च निस्तरत्यपि । न तु सर्वस्यापि भगवज्ज्ञानं भवति । तथा च नैरुक्ताः पठन्ति—नवमे सर्वाङ्गसम्पूर्णो भवतीति पठित्वा, मृतश्चाहं पुनर्जातो

कहा है—हे भगवन् ! तुम्हारे दर्शन से मनुष्यमात्र का अखिल पापक्षय हो जाना कोई असम्भव नहीं है। क्यों कि तुम्हारे नाम के एकबार श्रवण से नीच-जाति पुक्कश भी माया-बन्धन से विमुक्त होकर मुक्तिलाभ कर लेता है ॥१५०॥

अतएव विष्णुधर्म्मोत्तर में कहा है—विष्णुभक्त जन वरं पांच दिन जीवित रहैं सो उत्तम है परन्तु भक्तिहीन के सहस्र कल्प जीवित रहना अनर्थक है। इस प्रसंग में तृतीयस्कन्ध में कपिलयोग पर गर्भस्थित जीव की भगवत्स्तुति सुनी गई अथच उसके संसारदुःख का वर्णन है। इस का समाधान किस प्रकार होगा ? तो कहते हैं—भगवदुन्मुख एवं भगवद्विमुख भेद से जीव दो प्रकार हैं। इन दो प्रकार जीवों का धर्मगत पार्थक्य है परन्तु जातिगत पार्थक्य नहीं

जातश्चाहं पुनर्मृतः, इत्यादि तद्भावनापाठानन्तरम्, अवाङ्-मुखः पीड्यमानो जन्तुभिश्च समन्वितः। सांख्ययोगं समभ्यसेत् पुरुषं वा पञ्चविंशकम्। ततश्च दशमे मासि प्रजायत इत्यादि। अत्र पुरुषं वेति वाशब्दात् कस्यचिदेव भगवज्-ज्ञानमिति गम्यते। सर्वास्वप्यवस्थासु भक्तेः समर्थत्वन्तु वर्णितम्। भेदेऽप्येकवद्वर्णनमन्यत्रापि दृश्यते। तृतीये यथा पाद्मकल्पसृष्टिकथनेऽपि श्रीसनकादीनां सृष्टिः कथ्यत इति। टीकायाञ्च ब्रह्मकृतसृष्टिमात्रकथनसाम्येनैकीकृत्योक्तिरियमिति

है। यहाँ जातिसाम्य में एकत्व दृष्टि से इस प्रकार वर्णन है। वस्तुतः साधुसंग व साधु कृपा से सौभाग्यवान् कोई जीव गर्भयातना से प्रपीड़ित होकर भगवच्चरण में शरणापन्न होता है तथा स्तुति करता है जिस का मायाबन्धन से निस्तार हो जाता है। परन्तु समस्त जीवों की मातृगर्भ में भगवत् स्मृति नहीं है। निरुक्तवादीगण कहते हैं— नवम मासमें गर्भस्थ शिशु का सर्वाङ्ग सम्पूर्ण होता है। अनन्तर "बह मैं मर कर पुनः जन्म ले रहा हूँ, जन्म लेकर पुनः मरूँगा" इस प्रकार उस की भावना होती है। वे यहाँ तक कह कर पुनः कहते हैं– जीव गर्भ में अधो मुख रह कर क्षुद्र-क्षुद्र जन्तुओं से प्रपीड़ित होकर सांख्ययोग का अभ्यास करता है अथवा पंचविंश पुरुष का अभ्यास-शील होता है। उस के बाद दशम मास में जन्मग्रहण करता है इत्यादि। यहां "पुरुषं वा" ऐसा प्रयोग है। वा शब्द से किसी को भगवज्ज्ञान होता है सब को नहीं यह जानना। परन्तु सर्वावस्था में भक्ति का सामर्थ्य है। दोनों प्रकार जीवों में जातिगत साम्य है

योजितम् । श्रीवराहावतारवच्च । तत्र प्रथममन्वन्तरस्यादौ पृथिवीमज्जने ब्रह्मनासिकातोऽवतीर्णः श्रीवराहस्तामुद्धरन् हिरण्याक्षेण संग्रामं कृतवानिति वर्ण्यते । हिरण्याक्षश्च षष्ठमन्वन्तरस्यावसानजातप्राचेतसदक्षकन्याया दितेर्जातः । तस्मात्तथा वर्णनं तदवतारमात्रत्वपृथिवीमज्जनमात्रत्वैक्य-विवक्षयैव घटते । तद्वदत्रापीति । कश्चिदेवान्यो जन्यो जीवः स्तौत्यन्यः संसरतीत्येव मन्तव्यम् । अत्र पूर्ववत् परमगति-प्राप्तौ भवतेः परम्पराकारणत्वञ्च दृश्यते । बृहन्नारदीये

अतः दोनों की अवस्था अभेद रूप में वर्णित हुई है । इस को हम कैसे स्वीकार करेंगे तथा इस विषय में प्रमाण कहाँ है इस प्रकार प्रश्न का समाधान यह है-परस्पर में भेद रहता हुआ भी दोनों का एक रूप में वर्णन अन्यत्र भी देखा गया है । तृतीयस्कन्ध में पाद्मकल्प-सृष्टि वर्णन प्रसंग में सनकादि की सृष्टि वर्णित है । वहाँ श्रीधरस्वामी ने कहा—"ब्रह्मकृतसृष्टिमात्रकथनसाम्येनैकीकृत्योक्तिरियम्" अर्थात् ब्रह्मा केद्वारा कृत-सृष्टिमात्र वर्णन साम्य के कारण दोनों की ऐक्योक्ति है । अर्थात् ब्रह्मकल्प में सनकादि ऋषिगण के द्वारा सृष्टि होने का वर्णन है और पाद्मकल्पसृष्टिप्रसंग में उन्हीं के द्वारा सृष्टि होने का कथन है अथच (३।१२।४) श्लोक की टीका में स्वामी ने कहा है—"यद्यपि प्रतिकल्पं सनकादिसृष्टिर्नास्ति तथापि ब्रह्मसर्गत्वादिहोच्यते" अर्थात् यद्यपि प्रतिकल्प में सनकादिसृष्टि नहीं है तो भी ब्राह्मसर्ग के कारण सनकादि-सृष्टि का उल्लेख है । यहाँ वाराह अवतार की भाँति जानना । तृतीयस्कन्ध में वर्णित है कि—स्वायम्भुवमन्वन्तर के आदि भाग में पृथिवी के रसातल चले जाने पर ब्रह्माजी की नासिका से

ध्वजारोपणमाहात्म्ये —यतीनां विष्णुभक्तानां परिचर्य्या-परायणैः । ईक्षिता अपि गच्छन्ति पापिनोऽपि पराङ्गतिम् ॥ इति । एवं विष्णुधर्म्मे कुलानां शतमागामि समतीतं तथा शतम् । कारयन् भगवद्धाम नयत्यच्युतलोकताम् । ये भविष्यन्ति येऽतीता आकल्पात् पुरुषाः कुले । तांस्तारयति संस्थाप्य देवस्य प्रतिमां हरेरिति । दूतान् प्रति यमाज्ञा चेयम्—येनार्च्चा भगवद्भक्त्या वासुदेवस्य कारिता । नवायुतं तत्कुलजभवतां शासनातिगमिति । यथाह—त्रिःसप्तभिः

अवतीर्ण होकर वाराहदेव ने उस का उद्धार किया, तथा हिरण्याक्ष के साथ युद्ध भी किया । अथच षष्ठ चाक्षुष मन्वन्तर के अबसान में प्रचेतानन्दन दक्षकी कन्या से हिरण्याक्ष का जन्म माना गया है । प्रथम मन्वन्तर में पृथ्वी का उद्धार एवं षष्ट मन्वन्तर में हिरण्याक्ष-बध इन दोनों लीलाओं के काल गत पार्थक्य रहने पर भी दोनों के वाराहदेव कर्त्ता हैं इस अभिप्राय से एककालीय रूप से वर्णन है । उसी प्रकार यहाँ यद्यपि दोनों प्रकार जीव से एक की उन्मुखता और अन्य की बहिर्मुखता है अर्थात् उन्मुखी जीव भगवान् का स्तव करता है तथा बहिर्मुखी जीव संसारदशा प्राप्त करता है इस प्रकार पार्थक्य है तो भी चित्स्वरूपगत पार्थक्य न रहने के कारण दोनों जोवों का ऐक्य वर्णन है । यहाँ र्व की भाँति परमगति लाभ में परम्परारूप से भक्ति ही कारण रूप दिखलायी गयी है । बृहन्नारदीय पुराण में ध्वजारोपण-माहात्म्य-प्रसंग पर वर्णन है कि—त्यागी विष्णुभक्तों में परिचर्य्या-परायण वैष्णवजन जिन के प्रति दृष्टिपात करते हैं वे महापापी होने पर भी परमा गति लाभ करते हैं । विष्णु-

पिता पूतः पितृभिः सह तेऽनघ । यत् साधोऽस्य गृहे जातो भवान् वै कुलपावनः ।।१५१।।

त्रिःसप्तभिः प्राचीनकल्पगततदीयपूर्वपूर्वजन्मसम्बन्धिभिः पितृभिः सह अस्मिन् जन्मनि हिरण्यकशिपुकश्यपमरीचि-ब्रह्माण एव तत्पितर इति ।। ७ ।। १० ।। श्रीनृसिंहः प्रह्लादम् ।।१५१।।

तथा भक्त्याभासस्यापि सर्वपापक्षयपूर्वकश्रीविष्णुपद-

धर्म में भी कहा गया है—जो जन भगवन्मन्दिर प्रस्तुत करा देता है वह आगामी एवं अतीत शत-शत कुल को हरिलोक प्राप्त कराता है । इस प्रसंग में दूतगण के प्रति यमराज की आज्ञा है कि–जो भगवान् में प्रगाढ़ भक्ति-आवेश से वासुदेव श्रीकृष्ण की प्रतिमा स्थापन करते हैं उन के वंशजात नव अयुत पुरुष तुम सब के शासन से अतीत हैं अर्थात् उन पर तुम्हारा कोई अधिकार नहीं है । भगवान् नृसिंहदेवजी ने प्रह्लादजी से कहा है—हे निष्पापिन् साधो ! तुम्हारे पिता इक्कीस पितृपुरुष के साथ पवित्र हो गये हैं । क्योंकि कुलपावन तुम ने हिरण्यकशिपु के गृह में जन्म लिया है ।।

यहाँ सन्देह उठ सकता है कि—प्रह्लाद के वर्त्तमान जन्म के पहले इक्कीस पुरुष की सम्भावना कहाँ है ? इस से नृसिंहदेव की वाक्य में व्यभिचारता दिखती है । तो कहते हैं—नृसिंहदेव के लीला-परिकर प्रह्लाद के साथ किसी साधन-सिद्ध प्रह्लाद का सायुज्य है । उस पूर्वकल्पगत साधनसिद्ध प्रह्लाद के पितृगण की पवित्रता की कथा की अपेक्षा करके नृसिंहदेव के द्वारा यह कहा गया है । प्रह्लादजी के हिरण्यकशिपु, कश्यप, मरीचि, ब्रह्मा ये पितर पूर्वपुरुष हैं ।।१५१।।

अब भक्त्याभास के भी समस्त पापक्षय पूर्वक-श्रीविष्णु-पद प्राप-

प्रापकत्वं यथा बृहन्नारदीये — कोकिलमानिनोर्मदिरोन्मत्तयोर्धूर्तचोरखण्डदण्डयोर्जीर्णभगवन्मन्दिरे नृत्यतोः ध्वजारोपणफलप्राप्त्या तादृशत्वं जातम्। तथा व्याधहतस्य पक्षिणः कुक्कुरमुखगतस्य तत्पलायनवृत्त्या भगवन्मन्दिरपरिक्रमणफलप्राप्त्या तादृशत्वप्राप्तिरिति। क्वचित्तत्र महाभक्तिप्राप्तिश्च। यथा बृहन्नारसिंहपुराणे श्रीप्रह्लादस्य तस्य प्राग्जन्मनि वेश्यया सह विवादेन श्रीनृसिंहचतुर्दश्यां दैवादुपवासः सम्पन्नो जागरणश्चेति। तथाचाह—यस्यावतारगुणकर्म्मविडम्बनानि नामानि येऽसुविगमे विवशा गृणन्ति। तेऽनेकजन्मशमलं सहसैव हित्वा संयान्त्यपावृतमृतं तमजं प्रपद्ये ॥१५२॥

कत्व बारे में कहते हैं—बृहन्नारदीय-पुराण में उल्लेख है—मदिरापान से उन्मत्त दो व्यक्तियों ने अपने को कोकिल-अभिमान करके एक डण्डे में वस्त्र बांध कर उसे हाथ में धर कर किसी भग्नमन्दिर में नृत्य किया। जिस के परिणाम में ध्वजारोपण फल प्राप्त हुए॥ और भी उल्लेख है कि—एक पक्षी व्याध-कर्त्तृक शराहत होकर भागता हुआ पृथ्वी पर गिरने लगा। उसे एक कुत्ते ने मुख से पकड़ लिया एवं वह उसी अवस्था में मन्दिरके चारोंओर घूम आया। अतः उस पक्षीको विष्णुमन्दिर परिक्रमाका फल मिला। अर्थात् वह विष्णुलोक गमन करने लगा इत्यादि। कहीं पर भक्त्याभास से भी महाभक्ति फल प्राप्ति का उल्लेख है। जैसा कि—नरसिंहपुराण में कहा है—महाभागवत प्रह्लाद ने पूर्वजन्म में किसी वेश्या के साथ विवाद करके अभिमान वश अज्ञात से नृसिंहचतुर्द्दशी के दिन उपवास तथा जाग-

असुद्विगमेऽपीति तदानीन्तनमात्रत्वमशुक्लवर्णत्वञ्च व्यञ्जितम् । विवशा इति तदिच्छां विना केनचित् कारणान्तरेणापीत्यर्थः । वश कान्तावित्यमरः । तादृशशक्तित्वे हेतुमाह अवतारेति । अवतारादिसदृशानि तत्तत्तुल्यशक्तीनीत्यर्थः । तत्रावतारविडम्बनानि नृसिंहेत्यादीनि गुणविडम्बनानि भक्तवात्सल्येत्यादीनि । कर्म्मविडम्बनानि गोवर्द्धनधारणादीनि च ॥३॥९॥ब्रह्मा श्रीगर्भोदकशायिनम् ॥१५२॥

अस्तु तावत् शुद्धभक्त्याभासवार्त्ता । अपराधत्वेन दृश्य-

रण किया था । जिस के फल रूप में प्रह्लाद रूप से जन्म ग्रहण किया । भक्त्याभास से समस्त पाप क्षय होते हैं तथा भगवत्प्राप्ति होती है उस बारे में (३।९) अध्याय में ब्रह्माजी गर्भोदशायी भगवान् का स्तवन करते हुए कह रहे हैं—हे प्रभो ! जिस व्यक्तिने समस्त जीवन-भर कभी आप का स्मरण नहीं किया अथच प्राणान्त समय में यदि किसी कारण से अनिच्छा वश भी आपके अनन्त नामों से किसी एक नाम का उच्चारण किया है तब वह उसी समय अनेक जन्म सञ्चित पापराशि से मुक्त होकर सर्वोपाधि-शून्य सच्चिदानन्द भगवान् आपका लाभ करता है । भगवद् अवतारगण जिस प्रकार जीवकी अविद्याका विनाशकर अपने स्वरूपप्राप्ति कराते हैं उस प्रकार नाम की क्षमता है । मूलश्लोकमें "अवशः" पद का अर्थ अनिच्छा बतलाया गया है । अमरसिंहने "वश्" धातु की कान्ति अर्थात् इच्छा अर्थ किया है । उन समस्त नामोंका तीन प्रकार भेद है—जन्मानुरुप-जैसा कि देवकीनन्दन इत्यादि, गुणानुरूप-भक्तवत्सल इत्यादि, कर्मानुरूप-गोवर्द्धनोद्धारणादि ॥ १५२ ॥

शुद्ध-भक्ति आभास की वार्त्ता तो दूर रही, अपराधरूप में

मानोऽप्यसौ महाप्रभावो दृश्यते । यथा विष्णुधर्मे भगवन्मन्त्रेण कृतनिजरक्षं विप्रं प्रति राक्षसवाक्यम्—त्वामत्तुमागतः क्षिप्तो रक्षया कृतया त्वया । तत्संस्पर्शाच्च मे ब्रह्मन् साध्वेतन्मनसि स्थितम् । का सा रक्षा न तां वेद्मि वेद्मि नास्याः परायणम् । किन्त्वस्याः सङ्गमासाद्य निर्वेदं प्रापितः परमिति । यथा वा विष्णुधर्म्माद्युदाहृतायाः श्रीभगवद्गृहदीपतैलं पिबन्त्याः कस्याश्चिन्मूषिकायाः दैवतो मुखोद्धृतवर्त्तौ दीपे समुज्ज्वलिते सति मुखदाहेन मरणात् राज्ञीत्वं

दृश्यमान यह भक्त्याभास महाप्रभाव शाली देखा जाता है । जैसा कि विष्णुधर्म में–भगवन्मन्त्र से अपनी रक्षा करने वाले विप्र के प्रति राक्षस का बचन है— हे ब्राह्मण ! मैं तुम्हें खाने को आया था, तुमने जो रक्षाविधान किया उससे मैं उन्मत्त हो गया । उस रक्षा के संस्पर्श से हृदय में एक पवित्र भाव जाग उठा । वह रक्षा क्या है वतलाओ । उस रक्षा-मन्त्र का मूलाश्रय कौन है ? जिस रक्षा का संग प्राप्त कर मेरे हृदय में इस प्रकार निर्व्वेद उपस्थित हुआ । इत्यादि । यहाँ ब्राह्मण-भक्षण में प्रवृत्त अथच महा अपराधी राक्षस के हृदय में भगवन्मन्त्र रक्षित ब्राह्मणदेह स्पर्श से परम निर्व्वेद उपस्थित हुआ है । विष्णुधर्मादि ग्रन्थ में भी उल्लेख है—भगवन्मन्दिर में एक चूहा वास करता था जो प्रतिदिन मन्दिर के प्रदीप से तेल पी जाता था । एक दिन दैववश जलती हुई बत्ती उस के मुख पर लग गई । अग्नि-ताप से वह छटपटाता हुआ मर गया । मन्दिर में दीप-प्रदान फलरूप में परजन्म में वह तो राज-महिषी होकर जन्म प्राप्त किया तथा उस जन्ममें बहु दीपदान करने लगा । जिसके फलरूप में वह मर कर

प्राप्य दीपदानादिलक्षणभक्तिनिष्ठाप्राप्तिरन्ते परमपदप्राप्तिश्च। यथा ब्रह्माण्डपुराणे जन्माष्टमीमाहात्म्ये कृतजन्माष्टमीकायाः दास्याः दुःसङ्गेनापि कस्यचित् तद्फलप्राप्तिः। तथाच बृहन्नारदीये—तादृशदुष्टकार्य्यार्थमपि भगवन्मन्दिरं मार्जयित्वा कश्चिदुत्तमां गतिमवाप। नत्वीदृशत्वं ब्रह्मज्ञानस्यापि। यथोक्तं ब्रह्मवैवर्त्ते—"विषयस्नेहसंयुक्तो ब्रह्माहमिति यो वदेत्। गर्भवाससहस्रेषु पच्यते पापकृन्नर" इति। अथ श्रीभगवद्वशीकारितायामपि सकृदल्पप्रयासात्मिकाया अपि भक्तेः कारणता दृश्यते। यथा ब्रह्मपुराणे शिववाक्यम्—

भगवद्धाम के लिये चला गया। ब्रह्मपुराण में जन्माष्टमी-व्रतमाहात्म्य पर--किसी एक जन्माष्टमीव्रत करने वाली दासी के दुःसंग से किसी एक व्यक्ति की भगवत्प्राप्ति की कथा उल्लेख है। बृहन्नारदीय-पुराण में भी ऐसा देखा गया है—दुष्ट-कार्य करने के लिये उपस्थित किसी व्यक्ति ने भगवन्मन्दिर मार्ज्जन करके उत्तमा गति अर्थात् भगवत्प्राप्ति लाभ किया। परन्तु ब्रह्मज्ञानी की इस प्रकार फल-प्राप्ति नहीं है। क्योंकि ब्रह्मवैवर्त्तपुराण में वर्णन है—विषय-स्नेह-युक्त हृदय होकर यदि कोई व्यक्ति "मैं ब्रह्म" इस प्रकार कहता है तो उस पाप से उसका सहस्र जन्म तक गर्भवास दुःख का भोग होगा। अनन्तर अल्पप्रयास-साध्य भक्ति का भगवद्वशीभूत-सामर्थ्य देखा गया है—ब्रह्मपुराण में शिवजी का वचन है कि—हे ब्राह्मणश्रेष्ठ गण! सुनिये मैंने देखा है—भगवान् को जो देखने लगता है भगवान् भी उसे प्रतिदिन देखने लगते हैं और जो भगवान् का आश्रय लेता है भगवान् भी उस का नित्यप्रति आश्रय लेते हैं तथा जो भगवान् की नित्य पूजा

"दृष्टः पश्येदहरहः संश्रितः प्रतिसंश्रयेत् । अर्चितश्चार्चयेन्नित्यं स देवो द्विजपुङ्गवा" इति । यथा च विष्णुधर्मे—"तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन च विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सल" इति । तदीदृशं माहात्म्यवृन्दं न प्रशंसामात्रमजामिलादौ प्रसिद्धत्वात् । दर्शिताश्च न्यायाः श्रीभगन्नामकौमुद्यादौ । तथैव नाम्न्यर्थवादकल्पनायां दोषोऽपि श्रूयते, तथार्थवादो हरिनाम्नीति हि पाद्मे नामापराधगणने । अर्थवादं हरेर्नाम्नि सम्भावयति यो नरः । स पापिष्ठो मनुष्याणां निरये पतति स्फुटम् इति कात्यायनसंहितायाम् । "मन्नामकीर्त्तनफलं विविधं निशम्य न श्रद्ध-

करता है भगवान् भी नित्यप्रति उसकी श्रद्धा से पूजा करते हैं इत्यादि । विष्णुधर्म में भी उल्लेख है—तुलसीदल करके युक्त जलगण्डुष मात्र से भगवान् भक्त वत्सल इस प्रकार वशीभूत हो जाते हैं कि अपनी आत्मा तक बेच देते हैं । यह समस्त वर्णनभक्ति माहात्म्य-वृन्द-प्रशंसामात्र नहीं हैं । क्यों कि अजामिल आदि की आभास मात्र से ही भगवद्धाम प्राप्ति स्पष्ट ही वर्णित है । भगवन्नाम-कौमुदी आदि ग्रन्थ में इस विषय में बहु युक्ति प्रदर्शित की गई है । उस प्रकार नाम में अर्थवाद की कल्पना से बहु दोष सुनने में आता है । पद्म-पुराण में नामापराध-प्रसंग में "तथार्थवादो हरिनाम्नि कल्पनम्" अर्थात्"हरिनाममें यह प्रशंसा परक वाक्य है इस प्रकार विचार करना एक अपराध है" ऐसा उल्लेख है । कात्यायनसंहिता में देखा गया है—जो मनुष्य हरिनाम-माहात्म्य में यह प्रशंसा वाक्य है ऐसा मानता है वह मनुष्यों में पापिष्ठ है और वह निश्चय घोर नरक में गिरता है । ब्रह्म-संहिता में बौधायन के निकट परमेश्वर ने कहा है—जो

धाति मनुते यदुतार्थवादम् । यो मानुषस्तमिह दुःखचय क्षिपामि संसारघोरविविधार्त्तिनिपीड़िताङ्गम्" ॥ इति ब्रह्म-संहितायां बौधायनं प्रति श्रीपरमेश्वरोक्तौ । ततोऽन्तर्भूत-नामानुसन्धानेष्वन्येषु तद्भजनेषु च सुतरामेवार्थवादे दोषोऽवगम्यते । तदेवं यथार्थ एव तन्माहात्म्ये सत्यपि यत्र सम्प्रति तद्भजनफलोदयो न दृश्यते, कुत्रचिच्छास्त्रे च पुरातनानामप्यन्यथा श्रूयते, तत्र नामार्थवादकल्पना वैष्णवानादरादयो दुरन्ता अपराधा एव प्रतिबन्धकारणं वक्तव्यम् ।

मनुष्य मेरे नाम-कीर्त्तन के बहु प्रकार फल श्रवण कर विश्वास नहीं करता है प्रत्युत यह प्रशंसावाक्य है ऐसा मन में लाता है मैं उस को संसार में नाना प्रकार दुःखराशि में निपीड़िताङ्ग करके दुःख-सागर में निक्षेप करता हूँ इत्यादि । अतएव जिस के भीतर नामानुसन्धान तथा अन्य भजनांगानुसन्धान है वह यदि उसे प्रशंसा वाक्य करके मन में लाता है तो उस में दोष है इस में कोई सन्देह नहीं है । इस प्रकार यथेष्ट रूप से नाम-माहात्म्य के मौजूद रहते हुए भी जहाँ वर्त्तमान में भजनफ-लोदय नहीं दिखता है, कहीं शास्त्र में प्राचीनों का भी अन्य प्रकार सुनने में आता है तो वहाँ नामार्थवादकल्पना, वैष्णव-अनादरादि दुरन्त अपराध मौजूद हैं जो फलोदय में प्रतिबन्धक हो रहे हैं यह बोलना होगा । अतएव शौनकजी ने कहा है-"हरिनाम ग्रहण से जब शरीर में विक्रिया नहीं होती है अर्थात् नेत्रों से जल नहीं गिरता है, शरीर में रोमाञ्च नहीं है इत्यादि तो उस हृदय को अश्मसार जानना" । यथा-प्राय करके आधुनिकजनों का है । अथवा-हे केशव ! ब्रह्मरूप, वदान्य आप के दास की अभी भी स्मृति विध्वस्त नहीं हुई जो आप के दर्शनार्थी है इत्यादि । तब तो उक्त रीति से

अतएवोक्तं श्रीशौनकेन--तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्य-माणैर्हरिनामधेयैः । न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्ष इति । यथा प्रायेण आधुनिकानाम् । यथा वा, ब्रह्मण्यस्य वदान्यस्य तव दासस्य केशव । स्मृतिर्नाद्यापि विध्वस्ता भवत्सन्दर्शनार्थिन इति । तदुक्तरीत्याध्यवसित-भक्तेरपि नृगस्य जिह्वा न वक्तीत्यादियमवाक्यविरुद्धं यम-लोकगमनं प्राप्तवतः विना चार्थवादकल्पनामयं भावं श्रुत-शास्त्रस्यापि तस्य सत्यां तादृशमाहात्म्यायां भक्तौ श्रीमदम्ब-रीषादिवत् सेवाग्रहं परित्यज्य दानकर्म्माग्रहो न स्यात् ।

अध्यवसित भक्तिवाले नृग की जिह्वा नहीं बोल रही है यह यमराज का वचन विरोध होता है। शास्त्र-प्रसिद्ध अर्थवाद-कल्पनामय-भाव के विना यमलोकगमन किस प्रकार हो सकता है। भक्ति की उस प्रकार महिमा रहते हुई भी श्रीमदम्बरीषादि सेवाग्रह का त्याग कर दानकर्म्माग्रही नहीं होते । उस प्रकार महदपराधादि से भक्ति स्तम्भित हो जाती है यह सुनने में आता है। यथा—पद्मपुराण के नामापराधभञ्जनस्तोत्र में कहा गया है—हे विप्र ! एकमात्र भगवन्नाम वाणी में अर्थात् जिह्वा में आकर, अथवा स्मरणपथ में प्राप्त कर, अथवा कर्णमूल में प्रवेश कर शुद्ध हों अथवा अशुद्ध हों किम्बा व्यवधान-रहित हों अवश्य उद्धार करता है यह सत्य है परन्तु वह यदि देह-द्रविण-जनता-लोभी पाषण्ड में निक्षिप्त होता है तो शीघ्र फलजनक नहीं होता है। देहादि लोभ में जो पाषण्ड हैं अर्थात् गुरु-अवज्ञादि दश अपराधयुक्त हैं उन में, ऐसा अर्थ है। स्कन्दपुराण की प्रह्लादसंहिता के द्वारकामाहात्म्य में कहा गया है—यदि वैष्णव-

तादृशापराधे भक्तिस्तम्भश्च श्रूयते । यथा पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रे—"नामैकं यस्य वाचि स्मरणपथगतं श्रोत्रमूलं गतं वा शुद्धं वाशुद्धवर्णं व्यवहितरहितं तारयत्येव सत्यम्। तच्चेद्देहद्रविणजनतालोभपाषण्डमध्ये निक्षिप्तं स्यान्न फलजनकं शीघ्रमेवात्र विप्रेति"। देहादिलोभार्थं ये पाषण्डा गुर्ववज्ञादिदशापराधयुक्तास्तन्मध्ये इत्यर्थः । स्कान्दे प्रह्लादसंहितायां द्वारकामाहात्म्ये—पूजितो भगवान् विष्णुर्जन्मान्तरशतैरपि। प्रसीदति न विश्वात्मा वैष्णवे चावमानिते ॥ स्कान्द एवान्यत्र मार्कण्डेयभगीरथसंवादे—दृष्ट्वा भागवतं

अपमान किया जाता है तो विश्वात्मा भगवान् शत जन्म से पूजित होकर भी प्रसन्न नहीं होते हैं । स्कन्दपुराण में अन्य स्थल पर मार्कण्डेय-भगीरथ-सम्बाद में यथा—भागवत जन को दूर से देख कर जो सम्मुख में नहीं जाता है तो श्रीहरि उसकी द्वादश वर्ष तक की हुई पूजा का ग्रहण नहीं करते हैं । भागवत-विप्र जन को देख कर जो नमस्कार के द्वारा अर्चना नहीं करता है उस के शरीर-स्थित पापों की श्रीहरि क्षमा नहीं करते हैं इत्यादि । इस प्रकार बहु अपराधान्तर देखने में आते हैं । विष्णुपुराण में उल्लेख है कि—शतधनु नामक राजा की भगवदाराधन तत्पर होते हुए भी वेद-वैष्णव-निन्दक के अल्पमात्र सम्भाषण से कुक्कुरादि योनि प्राप्ति हुई थी । अतएव "शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य" इत्यादि श्लोक में बार बार जो आबृत्ति उपदेश है वह पुरुषों के प्रायतः अपराध-अभिप्राय से विधान है । अपराधकारियों की बार बार आबृत्ति की अपेक्षा कही गई है । पद्मपुराण के नामापराधभञ्जनस्तोत्र में नाम का उपलक्ष्य कर के कहा

दूरात् सम्मुखे नोपयाति हि। न गृह्णाति हरिस्तस्य पूजां द्वादशवार्षिकीम्। दृष्ट्वा भागवतं विप्रं नमस्कारेण नार्च्चयेत्। देहिनस्तस्य पापस्य न च वै क्षमते हरिः॥ इति। एवं बहून्येवापाराधान्तराण्यपि दृश्यन्ते। एवमेव श्रीविष्णुपुराणे शतधनुर्नाम्नो राज्ञो भगवदाराधनतत्परस्यापि वेदवैष्णव-निन्दकाल्पसम्भाषयैव कुक्कुरादियोनिप्राप्तिरुक्ता। अतः, शुश्रूषोः श्रद्दधानस्य इत्यादौ आवृत्तिरसकृदुपदेशादित्यादौ च पुरुषाणां प्रायः सापराधत्वाभिप्रायेणैवावृत्तिविधानम्। सापराधानामावृत्त्यपेक्षा चोक्ता पाद्मे नामापराधभञ्जनस्तोत्रे नामोपलक्ष्य—नामापराधयुक्तानां नामान्येव हरन्त्यघम्।

गया है कि—नामापराधी जनों के पापों का नाम ही हरण करता है जो निरन्तर प्रयुक्त होने पर अर्थकारी होता है इत्यादि। त्रैलोक्य-सम्मोहन-तन्त्रादि में इसी अपेक्षा को लेकर अष्टादशाक्षरादि की आवृत्ति बतलाई गई है। यथा—हे देवि! अब तुम केवल मन्त्रराज की विधि को सुनो, इस का दशबार जप करने से मनुष्य आपत्कल्प से मुक्त होता है, सहस्रबार जप से महापाप से रहित होता है और अयुतबार जप से महापातक नष्ट हो जाता है इत्यादि। ब्रह्मवैवर्त्त में नाम का उपलक्ष्य कर कहा है—अत्यन्त रूप से ब्राह्मण का हनन किया हो अथवा यथेच्छ सुरापान किया हो तो भी "कृष्ण कृष्ण" यह अहोरात्र कीर्त्तन कर पवित्र हो जाता है इत्यादि। यहाँ अपराध-आलम्बन के हेतु भूत वर्त्तमान पापवासनाओं के सहसा ही अपराध का नाश होता है यह तात्पर्यार्थ है। इस अपराध रूप प्रतिबन्ध की अपेक्षा से विष्णु-धर्म्मोत्तर में कथन है कि—विषयादि दोषों से दूषित

अविश्रान्तिप्रयुक्तानि तान्येवार्थकराणि चेति । एतदपेक्षयैव त्रैलोक्यसम्मोहनतन्त्रादावष्टादशाक्षरादेरावृत्ति-विधानम् । यथा— इदानीं शृणु देवि त्वं केवलस्य मनोर्विधिम् । दशकृत्वो जपेन्मंत्रमापत्कल्पेन मुच्यते । सहस्रजप्तेन तथा मुच्यते महतैनसा । अयुतस्य जपेनैव महापातकनाशनम् ।।इत्यादि। तथा ब्रह्मवैवर्त्ते नामोपलक्ष्य—हनन् ब्राह्मणमत्यन्तं कामतो वा सुरां पिबन् । कृष्ण कृष्णेत्यहोरात्रं सङ्कीर्त्य शुचितामियादित्यादि । अत्रापराधालम्बनत्वेनैव वर्त्तमानानां पापवासनानां सहैवापराधेन नाश इति तात्पर्य्यम् । एतादृशप्रतिवन्धापेक्षयैवोक्तं विष्णुधर्म्मे— रागादिदूषितं चित्तं

चित्त भगवान् मधुसूदन में स्थिरता-लाभ नहीं करता है। हंस कभी कर्दमयुक्त जल में क्रीड़ा नहीं करता है। मिथ्यादि के द्वारा दूषित वाणी कभी केशव का स्तव नहीं कर सकती। चन्द्र की कलाएं मेघ से आच्छन्न होने पर अन्धकार-नाश नहीं कर पाती हैं। सिद्धपुरुषों का पुनः पुनः भजनानुशीलन परमानन्द लाभ के लिये है। अप्रसिद्ध भक्तों के पुनः पुनः अनुशीलन का जो विधान बतलाया गया है वह फलपर्य्याप्ति पर्यन्त है अर्थात् अनवरत भजन का मुख्यफल हृदय में भगवत्स्फूर्त्ति लाभ के लिये है। जब साधक देखेगा कि—नामादि भक्त्यंग के अनुष्ठान करते हुए भी हृदय में अपनी अभीष्टदेव की स्फूर्त्ति नहीं हो रही है तब वह जान लेगा कि—स्फूर्त्तिबाधक अपराध अवश्य मौजूद है। क्योंकि कुटिलता (१) अश्रद्धा (२) भगवद्-विषयक निष्ठा के च्युति-सम्पादक भिन्न बस्तु में अभिनिवेश (३) भजन शिथिलता (४) एवं भजनादिजात अभिमान (५) आदि की महत्संग मुख्य

नास्पदं मधुसूदने । वध्नाति न रतिं हंसः कदाचित् कर्द्दमाम्बुनि । न योग्या केशवं स्तोतुं वाग्दुष्टा चानृतादिना । तमसो नाशनायालं नेन्दोर्लेखा घनावृतेति । सिद्धानामावृत्तिस्तु प्रतिपदमेव सुखविशेषोदयार्था । असिद्धानामावृत्तिनियमः फलपर्य्याप्तिपर्य्यन्तः । तदन्तरायेऽपराधावस्थितिवितर्कात् । यतः कौटिल्यम् अश्रद्धा भगन्निष्ठाचचावकवस्त्वन्तराभिनिवेशो भक्तिशैथिल्यं स्वभक्त्यादिकृतमानित्वमित्येवमादीनि महत्सङ्गादिलक्षणभक्त्यापि निवर्त्तयितुं दुष्कराणि चेत्तर्हि तस्यापराधस्यैव कार्य्याणि तान्येव च प्राचीनस्य तस्य लिङ्गानि । अतएव कुटिलात्मनामुत्तममपि नानोपचारादिकं नाङ्गीकरोति भगवान् यथा दूत्यगतो दुर्य्योधनस्य , आधु-

---

महान् शक्तिवाले भक्तिप्रभाव से जब निवृत्ति नहीं हो रही है तब जान लेना कि--नामापराध के कार्य रूप कौटिल्यादि की सत्ता हृदय में विद्यमान है । अर्थात् साधक जब देखेगा कि--वह भजन करने पर भी हृदय से कौटिल्यादि नहीं जा रहे हैं तब वह समझ लेगा कि वर्त्तमान जन्म में हों अथवा प्राक्तन जन्म में हों प्रचुर अपराध मौजूद हैं । अतएव कुटिलात्मा वालों के उत्तम से उत्तम नानोपचार का भगवान् नहीं ग्रहण करते हैं । यद्यपि कुटिल दुर्योधन ने भगवान् श्रीकृष्ण को अपने वश में करने के लिये नाना प्रकार उपाय किये परन्तु श्रीकृष्ण कुटिल-हृदय के कारण उस के पक्ष में नहीं रहे । आधुनिक भक्तों का भक्तिशास्त्र श्रवणादि से बाहर में भगवान्-गुरु-भगवद्भक्त की अर्चना करने पर भी भीतर अनादर आदिक दोष रहने के कारण कौटिल्य अनुष्ठान जानना । अर्थात् बाहर में तो उनकी अर्चना करते हैं अथच

निकानाञ्च श्रुतशास्त्रानामप्यपराधदोषेण श्रीभगवति श्रीगुरौ तद्भक्तादिषु चान्तरानादरादावपि सति वहिस्तदर्च्चनाद्यारम्भः कौटिल्यम् । अत एवाकुटिलमूढ़ानां भजनाभासादिनापि कृतार्थत्वमुक्तं । कुटिलानान्तु भक्त्यनुवृत्तिरपि न भवतीति स्कान्दे श्रीपराशरवाक्ये दृश्यते—नह्यपुण्यवतां लोके मूढ़ानां कुटिलात्मनाम् । भक्तिर्भवति गोविन्दे कीर्त्तनं स्मरणं तथेति । एतदपेक्षयोक्तं विष्णुधर्म्मे—सत्यं शतेन विघ्नानां सहस्रेण तथा तपः । विघ्नायुतेन गोविन्दे नृणां भक्तिर्निवार्य्यत इति । अत एवाह—तं सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः । कृतज्ञः को न सेवेत दुराराध्यमसाधुभिः॥ १५३॥

भीतर अनादरभाव रखते हैं तो उन का यह अनुष्ठान कौटिल्य जानना। अतएव अकुटिल मूढ़ जन भजनाभास मात्र से कृतार्थ हो जाते हैं परन्तु कुटिलवृत्ति वाले भक्तों की भक्ति की अनुवृत्ति नहीं है। स्कन्द-पुराण में पराशरजो का वचन है यथा—अपुण्यवान् कुटिलचित्त मूर्खों की गोविन्द-चरण में भक्ति नहीं होती है। न कीर्त्तन-स्मरण हो पाते हैं। इस कौटिल्यता की अपेक्षा से ही विष्णु-धर्म्मोत्तर में कहा गया है—शत शत विघ्न से सत्यता नष्ट होती है, सहस्र सहस्र विघ्न से तपस्या नष्ट हो जाती है उस प्रकार अयुत-विघ्न से मानवमात्र के गोविन्द-चरण में भक्ति बाधित होती है। अतएव भागवत के (३।१९।३४) श्लोक में श्रीसूतजी ने शौनकादि से कहा है-सारल्य एवं अनन्यभाव से शरणागत मनुष्यों के द्वारा सुख से आराध्य

स्पष्टम्॥३॥१९॥श्रीसूतः ॥१५३॥

यथैव भगवद्भक्ता अप्यकुटिलात्मनोऽज्ञाननुगृह्णन्ति नतु कुटिलात्मनो विज्ञानिति दृश्यते। यथा—दूरे हरिकथाः केचित् दूरे चाच्युतकीर्त्तनाः। स्त्रियः शूद्रादयश्चैव तेऽनुकम्पया भवादृशाम् ।विप्रो राजन्यवैश्यो वा हरेः प्राप्ताः पदान्तिकम्। श्रौतेन जन्मनाथापि मुह्यन्त्याम्नायवादिनः ॥१५४॥

टीका च—"तत्र येऽज्ञास्ते भवद्विधानामनुग्राह्या इत्याह

श्रीकृष्ण की कौन कृतज्ञ सेवा नहीं करेगा। जो कि अपवित्र कुटिलात्मा मनुष्यों के लिये दुराराध्य माने जाते हैं ॥१५३॥

जिस प्रकार भगवद्भक्तगण अकुटिल स्वभाव वाले अज्ञजनों को अनुग्रहीत करते हैं उस प्रकार कुटिलचित्त विज्ञों को नहीं। भागवत में (११।२) अध्याय में चमस योगीन्द्र ने निमिमहाराज से कहा है—हे राजन्! जो अत्यन्त अज्ञ हैं उनको आप सब अनुग्रहीत करते हैं। अज्ञ दो प्रकार हैं एक तो जिन के निकट हरिभक्त महापुरुष नहीं गये अतः उन कर हरिकथा-श्रवण का सौभाग्य नहीं हुआ। दूसरे जो जन्मान्ध, जन्मबधिर अथवा उन्मत्त हैं। उन दोनों प्रकार के अज्ञों को आप अनुग्रहीत करते हैं। चाहे वे शूद्र हों अथवा स्त्री हों। परन्तु ज्ञान लव से दुर्विदग्ध मानवगण दुश्चिकित्स्य होने के कारण आप की कृपाकणिका से उपेक्षित हैं। इस अभिप्राय से कहते हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय अथवा वैश्य, शौक्र एवं श्रौत जन्म में हरिचरण-सान्निध्य प्राप्ति की उपयोगिता प्राप्त करके भी वेद के अर्थवाद में विमुग्ध हो जाते हैं ॥१५४॥

दूरे इति। ज्ञानबलदुर्विदग्धास्त्वचिकित्स्यत्वादुपेक्ष्या इत्याशयेनाह विप्र इतीत्येषा" ॥११॥५॥श्रीचमसो निमिम्॥ १५४॥

अथाश्रद्धा दृष्टे श्रुतेऽपि तन्महिमादौ विपरीतभावनादिना विश्वासाभावः। यथा दुर्य्योधनस्यैव विश्वरूपदर्शनादावपि। अतएव यथा—आपन्नः संसृतिं घोरां यन्नाम विवशो गृणन् इत्यादि श्रीशौनकस्य, दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः इति श्रीप्रह्लादस्य अनुभवसिद्धं, न तथा सर्वेषाम्। ईदृशमानुषङ्गिकं फलन्तु शुद्धभक्तैर्भगवन्महिमख्यापनेच्छा

अब अश्रद्धा किस को कहते हैं उस की व्याख्या की जाती है। श्रीगुरु, श्रीनाम, श्रीमन्त्र, श्रीविग्रह, श्रीवैष्णव तथा श्रीभगवान् की महिमा देख कर अथवा सुनकर भी विपरीत भावना के द्वारा विश्वास का अभाव अश्रद्धा है। जैसा कि श्रीकृष्ण के विश्वरूपादि को देखकर भी दुर्य्योधन का उन के प्रति परमेश्वर कर के अविश्वास। (१।१४) श्लोक में शौनकादि ऋषियों ने कहा है—हे सूत ! घोरतर संसारदशा-प्राप्त मानव अननुसन्धान से भी जिन का नामोच्चारण एवं श्रवण कर उसी समय विमुक्त हो जाता है, जिनके भय से स्वयं भय भी भीत हो जाता है इत्यादि। प्रह्लादजी ने भगवद्भक्ति-महिमा का अनुभव कर "दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः" इत्यादि जो कहा है वह सर्व-साधारण के निकट विश्वसनीय जो नहीं है उस का कारण भगवन्नामापराध है। विशुद्धभक्ति का यह आनुषङ्गिक फल सबके निकट प्रकाश नहीं होता है, तो भी यदि किसी की भगवान् की महिमा लोगसमाज में जनाने की इच्छा होती है तब इस प्रकार आनुषङ्गिक

यदि स्यात् तदैवेष्यते। न तु स्वरक्षणाय स्वमहिमदर्शनाय वा। यथैवोक्तं—दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः शीर्णा यदेते न बलं ममैतत्। महाविपत्पातविनाशनोऽयं जनार्द्दनानुस्मरणानुभावः॥ इति। श्रीपरीक्षित्प्रभृतिभिस्तु तदपि नेष्टम्। यथा—द्विजोपसृष्टः कुहकस्तक्षको वा दशत्वलं गायत विष्णुगाथा इति ॥१५५॥

स्पष्टम्॥१॥१९॥ राजा ॥१५५॥

अत एवाधुनिकेषु महानुभावलक्षणवत्सु तद्दर्शनेऽपि नाविश्वासः कर्त्तव्यः। कुत्रचिद्भगवदुपासनाविशेषेणैव तादृ-

---

फल प्रकाश होता है। परन्तु अपने रक्षण के लिये अथवा अपनी महिमा दिखाने के लिये नहीं। पुराणान्तर में कहा है—वज्र से अतिनिष्ठुर हस्तिगण के दन्तसमूह जो विशीर्ण हुआ है वह मेरा बल अर्थात् भजन-सामर्थ्य नहीं है, महाविपद् विनाशन जनार्द्दन के निरन्तर स्मरण का यह प्रभाव है॥ परीक्षित् आदि महाभागवत ने इस प्रकार की इच्छा नहीं की है। जैसा कि परीक्षित् महाराज ने कहा है—वह ब्राह्मण-प्रेरित कोई कुहक (मायावी) अथवा तक्षक आकर दंशन करें, करने दीजिये, परन्तु आप सब विष्णु-गाथा का गान कीजिये" इत्यादि।

अतएव महानुभावों के लक्षण से युक्त आधुनिक भक्तों में नाना प्रकार विपत्ति दर्शन करके अविश्वास नहीं करना चाहिये। किसी भक्त-विशेष में उपासना-वैशिष्ट्यानुसार अप्रार्थित में भी भक्ति के उस प्रकार पूर्ववर्णित आनुषङ्गिक फल का उदय होता है। जैसा कि–ध्रुवप्रसंग में उल्लेख है। राजनन्दन ध्रुव जब समाधिस्थ होकर

शमानुषङ्गिकं फलमुदयते । यथा—यदैकपादेन स पार्थिवात्मजः स्तस्थौ तदङ्गुष्ठनिपीड़िता मही । ननाम तत्रार्द्धमिभेन्द्रधिष्ठिता तरीव सव्येतरतः पदे पदे ॥१५६॥

अत्र सर्वात्मकतयैव विष्णुसमाधिना तादृक् फलमुदितम्। एतादृश्युपासना चास्य भाविज्योतिर्मण्डलात्मकविश्वचालनपदोपयोगितयोदितेति ज्ञेयम् ॥४॥८॥ श्रीमैत्रेयः ॥१५६॥

अथ भगवन्निष्ठाच्यावकवस्त्वन्तराभिनिवेशो यथा—एवमघटमानमनोरथाकुलहृदयो मृगदारकाभासेन स्वारब्धकर्म्मणा

एक पांव में खड़े हुए तब उस समय उनके चरणाङ्गुष्ठ भर से निपीड़िता होकर पृथिवी गजराज से नौका की भाँति कम्पित होने लगी, मानो रसातल-उन्मुखी हो गयी ॥१५६॥

सर्वव्यापकत्व के कारणभूत श्रीविष्णु में समाधिस्थ होने के हेतु अप्रार्थित रूप से भी इस प्रकार फल उदित हुआ है। ध्रुवजी की यह उपासना भविष्यत् में ज्योति-मण्डलात्मक विश्व-परिचालन उपयोगिता रूप से उदित हुई है। अर्थात् उपासना के फलरूप में ध्रुवजी ने ध्रुवलोक में जो गमन किया है वह ध्रुवलोक ज्योतिश्चक्र की मेधी रूप हो गई। शस्यादि माड़ने समय बीच में एक खूँटी गढ़ी जाती है जिसका आश्रय कर गोसमूह चारोंओर घूमते हैं उस खूँटी को मेधी कहते हैं। ज्योतिश्चक्र इस ध्रुवलोक का आश्रय कर पृथिवी की चार ओर घूमते हैं ॥१५६॥

अनन्तर भगवद्भिन्न बस्तु में अभिनिवेश के कारण भगवान् में निष्ठा की च्युति होती है इस बात को कहते हैं—यागितापस राजर्षि भरत पूर्ववर्णित असम्भव मानस अभिनिवेश में मृगशावक रूप से

योगारम्भनतो विभ्रंशितः स योगतापसो भगवदाराधन लक्षणाच्चेति ॥१५७॥

स श्रभरतः। अत्रैवं चिन्त्यम्। भगवद्भवत्यन्तरायकं सामान्यमारब्धकर्म्म न भवितुमर्हति दुर्बलत्वात्। ततः प्राचीनापराधात्मकमेव तल्लभ्यते इन्द्रद्युम्नादीनामिवेति ॥५॥६॥श्रीशुकः॥१५७॥

केचित्तु साधारणस्यैव प्रारब्धस्य तादृशेषु भक्तेषु प्राबल्यं तदुत्कण्ठावर्द्धनार्थं स्वयं भगवतैव क्रियत इति मन्यन्ते। सा

प्रतिभासमान अपने आरब्ध कर्मफल के हेतु योगारम्भ से भ्रष्ट हुए एवं भगवदाराधन से विच्युत हो गये ऐसा कि दिवा-रात्रि मृगशावक की चिन्ता में रहे। यहाँ विचारणीय विषय यह है—सामान्य आरब्ध-कर्म भगवद्भक्ति में अन्तराय नहीं डाल सकता है, क्यों कि वह आ-रब्धकर्म अति दुर्बल होता है। भगवद्भक्ति स्वरूप-शक्ति की वृत्ति-रूप होने के कारण सबला है। अतएव यहाँ जानना होगा कि—इन्द्र-द्युम्न महाराज जिस प्रकार भगवदर्च्चन करने के समय समागत अगस्त्य मुनि का असमादर अपराध से हस्तिजन्म प्राप्त हुए उस प्रकार किसी प्राचीन अपराध-फल से मृगदेह में अभिनिवेश के हेतु भरत महाराज भगवद्भजन से विच्युत हुए॥ शुकदेवजी के परी-क्षित् महाराज के प्रति यह वचन हैं॥ (५।६)

कोई कोई-साधारण प्रारब्ध ही प्रबल हो कर उस प्रकार भक्तों में क्रियावान् होता है वह तो उनकी उत्कण्ठाबृद्धि के लिये भगवान् स्वयं कराते हैं ऐसा मानते हैं। वह उत्कण्ठा प्राप्त-मृगशरीर भरत महाराज के बारे में यथेष्ट वर्णित हुई है। जात-रति वाले नारदजी के पूर्व जन्म में कषाय-रक्षण बारे में कहते हैं—जब कि नारदजी

च वर्णिता मृगदेहं प्राप्तस्य तस्य । यथैव श्रीनारदस्य पूर्व-जन्मनि जातरतेरपि कषायरक्षणमाह—हन्तास्मिन् जन्मनि भवान् मा मां द्रष्टुमिहार्हति । अविपक्वकषायाणां दुर्दर्शोऽहं कुयोगिनाम् ॥१५८॥

स्पष्टम् ॥१॥६॥ श्रीभगवान् ॥१५८॥

तदेवमपराधहेतुकतदभिनिवेशोदाहरणं गजेन्द्रादीनां विषया-वस्थायां कार्य्यम् । अथ भक्तिशैथिल्यम् । येनाध्यात्मिका-दिसुखदुःखनिष्ठैवोल्लसति । भक्तितत्पराणान्तु तत्रानादरो

पूर्वजन्म में अर्थात् दासीपुत्र जन्म में स्थायी भाव प्राप्त होने पर भी भगवदाविर्भाव के बाद पुनः दर्शन के लिये अत्यन्त व्याकुल हो गये तब उस समय आकाशवाणी के द्वारा भगवान् ने कहा—हे नारद ! तुम इस जन्म में हमें नहीं देख सकोगे; क्यों कि इस जन्म में तुम में कषाय (भोगवासना) मौजूद है। जिन का कषाय क्षय नहीं हुआ है उन सब कुयोगियों को मैं दर्शन नहीं देता हूँ यह मेरा स्वभाव है। परन्तु तुम को एकबार जो मैंने दर्शन दिया है वह केवल तुम्हारी उत्कंठा बढ़ाने के लिये जानना ॥ (१।६) ॥१५८॥

इस प्रकार अपराधजात विषयाभिनिवेश का उदाहरण गजेन्द्रादिकी विषयापन्नावस्था में अर्थात् भगवद्विमुखावस्था में देना उचित हो रहा है। अब भक्तिशैथिल्य का उदाहरण दिखलाते हैं—जिस की शिथि-लता से आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक सुख-दुःखादि में निष्ठा उल्लसित होती है, परन्तु भजनानुष्ठान-तत्पर जन उन में आवेश नहीं रखते हैं बरं अनादर करते हैं। सहस्रनामस्तोत्र में कहा है—"वासुदेवभक्तों का कहीं भी अमङ्गल नहीं है, न उन का जन्म है, न मृत्यु है, न जरा-व्याधि है, न भय है" ॥ उत्तम साधक की मनुष्य-

भवति। यथा सहस्रनामस्तोत्रे—"न वासुदेवभक्तानामशुभं विद्यते क्वचित्। जन्ममृत्युजराव्याधिभयश्चाप्युपजायते" ।इति। या तु सत्साधकस्य मनुष्यदेहरिरक्षिषा जायते साप्युपासनावृद्धिलोभेन न तु देहमात्ररिरक्षिषयेति। न तथा च भक्तितात्पर्यहानिः। तदेवं विवेकसामर्थ्ययुक्तस्यापि भक्तितात्पर्य्यव्यतिरेकगम्यं तच्छैथिल्यं मध्ये मध्ये रच्यमानया भक्त्या यत्र दूरीक्रियते तदपराधालम्बनमेवेति गम्यते। अतएवापराधानुमानाप्रवृत्तेर्मूढ़ेचासमर्थे चाल्पेन सिद्धिः समर्थैव। तत्र दीनदयालोः श्रीभगवतः कृपा चाधिका प्रव-

---

देह-रक्षा करने की जो इच्छा रहती है वह भगवदुपासना-वृद्धि के लिये जानना परन्तु देहमात्र-रक्षा की लालसा से नहीं। भजन करने की लालसा से दीर्घकाल मनुष्यजीवन लाभ के लिये जो इच्छा है वह भक्तिविरुद्ध नहीं है वरन् भक्ति का अनुकूल है। अपने हिताहित विचार में सामर्थ्य व्यक्ति का भक्तितात्पर्य-रहित भजन-शैथिल्य जहाँ देखा जाता है और बीच-बीच में भक्तिशैथिल्य-निवारण के लिये स्वतन्त्र रूप से अधिक परिमाण से जो भजनानुष्ठान है उस में अपराध-आलम्बन ज्ञात होता है। अर्थात् अपराध मौजूद है यह जाना जाता है। अतः जानने की क्षमता रहते हुए भी भजनशैथिल्य-निवृत्तिकी चेष्टा नहीं करता है। स्वतन्त्र भजन ही जिसका चिह्न है। अर्थात् गुरु-साधु-शास्त्र-मार्ग को छोड़ कर स्वतन्त्ररूप से प्रचुरतया भजन करने से भजनशैथिल्य की निवृत्ति नहीं होगी। भीतर में अपराध है इसी लिये अन्तराय-निवृत्ति के लिये प्रवृत्ति नहीं होती है। कहीं हिताहित विचार में असमर्थ व्यक्ति की अल्पमात्र भक्ति-अनुष्ठान में अपराध-निवृत्ति पूर्वक सिद्धि देखने में आती है। क्यों कि दीनदयाल भगवान् की वहाँ अधिक कृपा प्रवर्त्तित होती है। परन्तु

र्त्तते । किन्तु विवेकसामर्थ्ययुक्ते सम्प्रत्यपि योऽपराधापातो भवति सोऽत्यन्तदौरात्म्यादेव । तद्विपरीते तु नातिदौरात्म्यादिति विदुषः समर्थस्य शतधनुषोऽन्तरायोऽनन्तरविहित-भगवदुपासनस्यापि युक्त एव । मूढ़ानान्तु मूषिकादीनामपराधेऽपि सिद्धिस्तथैव युक्ता; दौरात्म्याभावेन भजनस्वरूप-प्रभावस्यापराधमतिक्रम्योदयात् । अथ भवत्यादिकृताभिमानत्वञ्चापराधकृतमेव वैष्णवावमानादिलक्षणापराधान्तर-जनकत्वात् । यथा दक्षस्य प्राक्तनश्रीशिवापराधेन प्राचेत-

---

विवेक-सामर्थ्य-युक्त जन में वर्त्तमान में भी जो अपराध आ पड़ता है वह अत्यन्त दौरात्म्य है। अर्थात् अपराध से भजन-व्याघात होता है यह जान कर भी जो अपराध किया जाता है वह अपराध अति दुःसाध्य है जिस की निष्कृति नहीं है। और जहाँ से यह अपराध हो रहा है इस को जानने की क्षमता नहीं रहती है अथच अपराध हो जाता है-वहाँ जानना होगा कि वह अपराध अति दौरात्म्य के कारण नहीं हुआ है। परम विज्ञ भगवदुपासक शतधनु महाराज का श्रीकृष्ण के प्रति दौरात्म्य रूप जो अन्तराय उपस्थित हुआ था वह युक्तियुक्त था। मूढ़ अर्थात् अनभिज्ञ मदिरामत्त मानव एवं मूषिक आदि के अपराध रहते हुए भी मन्दिर में ध्वजारोपण तथा दीप-प्रदान रूप भक्ति-आभास से भी सिद्धि-प्राप्ति पूर्वसिद्धान्तानुसार जानना। दौरात्म्य अभाव से भजन रूप प्रभाव के द्वारा अपराध का अतिक्रमण कर सिद्धि प्राप्त हुई है ऐसा तात्पर्य्य मानना होगा। अनन्तर पूर्व-वर्णित भक्तिबाधक कौटिल्य (१), अश्रद्धा (२), भगवन्निष्ठाच्यावक वस्त्वन्तराभिनिवेश (३), भक्तिशैथिल्य, (४) स्वभक्त्यादि-कृताभिमानित्व (५) इन में से भक्त्यादि कृत-अभिमानत्व के बारे में कहते हैं।

सत्वावस्थायां श्रीनारदापराधजन्मापि दृश्यते। तदेवं यः सकृद्भजनादिनैव फलोदय उक्तस्तद्यथावदेव, यदि प्राचीनोऽर्वाचीनो वापराधो न स्यात्। मरणे तु सर्वथा सकृदेव यथाकथञ्चिदपि भजनमपेक्ष्यते। तत्र हि तस्यैव सकृदपि भगवन्नामग्रहणादिकं जायते, यस्य पूर्वत्र वात्र वा जन्मनि सिद्धेन भगवदाराधनादिना तदानीं स्वीयप्रभावं प्रकटयतानन्तरमेव भगवत्साक्षात्कारो भाव्यते। "यं य वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्। तं तमेवैति कौन्तेय ! सदा तद्भावभावित इति श्रीगीतोपनिषद्भ्यः। ततोऽपराधाभावात् तत्क्षयार्थं न तत्रावृत्त्यपेक्षा। यथाजामिलस्य। न तथा

वह अभिमान अपराध-कृत है जोकि वैष्णव-अवमानादि लक्षण अपराधान्तर को उत्पन्न करता है। जैसा कि—दक्ष के प्राक्तन शिवापराध के कारण प्राचेतसत्व अवस्था में भी नारदजी में अपराध देखा जाता है। अतएव प्राचीन वा आधुनिक अपराध से अभिनव अपराध की जो उत्पत्ति है वह अपने भजनोत्थित अभिमान से है जानना। तब तो इस रीति के अनुसार यदि किसी का प्राचीन वा आधुनिक कोई अपराध नहीं है तो एकबार मात्र भजन करने से भक्तिफल प्रेम उदय होता है यह यथार्थ मानना होगा। मरणकाल में सर्वप्रकार से यथाकथञ्चित् भाव में एकबार मात्र भजन की अपेक्षा रहती है अर्थात् मृत्यु के समय जैसे तैसे एकबार मात्र श्रीहरि के नामादि श्रवण-कीर्त्तनादि से किसी एक का भजनानुष्ठान से परमागति लाभ होती है। जिस की पूर्वजन्म में हो वा वर्त्तमान जन्म में हो भगवदाराधनादि में सिद्धि है तो उस समय उस को वह भजनशक्ति अपने सामर्थ्य प्रकाश करती है। वह व्यक्ति उस अन्तिमकाल

कृततन्नामश्रवणादिनामपि यमदूतानाम् । यथाह—अथापि मे दुर्भगस्य विबुधोत्तमदर्शने । भवितव्यं मङ्गलेन येनात्मा मे प्रसीदति ॥१५९॥

पूर्वेण मङ्गलेन महता पुण्येन इति टीका च । व्यतिरेकेणाह—अन्यथा म्रियमाणस्य नाशुचेर्वृषलीपतेः । वैकुण्ठनामग्रहणं जिह्वा वक्तुमिहार्हति ॥१६०॥

स्पष्टम् ॥६॥२॥ श्रीमानजामिलः ॥१६०॥

यत्तु श्रीभरतस्य मृगशरीरं त्यजतो नामानि गृहीत्वापि

में भी भगवान् के नामादि ग्रहण में समर्थ होता है एवं देहत्याग के बाद में भी भगवत्साक्षाकार की सम्भावना रखता है। परन्तु जिस की भजन-सिद्धि नहीं हुई है वह प्राणवियोग काल में मुखादि से भगवन्नामदि का उच्चारण करने में असमर्थ होता है। इसी अभिप्राय से भगवद्गीता में कहा गया है—हे कौन्तेय ! अन्तिम काल में जिस-जिस विषय का चिन्तन कर देहत्याग किया जाता है, सर्वदा तद्भावभावितव्यक्ति उस उस विषय को प्राप्त करता है इत्यादि। अपराध नहीं रहने पर भजन की पुनः पुनः आवृत्ति की अपेक्षा नहीं है। जैसा कि अजामिल की। परन्तु कृतनामश्रवणादि यमदूतों की उस प्रकार नहीं हुई। अजामिल के वचन से यह जाना जाता है—कि मैं सर्व प्रकार से सौभाग्यहीन हूँ तो भी इन महापुरुषों के सन्दर्शनसे मंगल होगा,क्योंकि मैंने चित्तप्रसाद लाभ किया है इत्यादि। यहाँ मङ्गल शब्द से श्रीधरस्वामी ने टीका में व्याख्या की है—"पूर्वसञ्चित-महापुण्य" इत्यादि। यहाँ महापुण्य से साधु-संगरूप अर्थ सुसंगत है ॥१६०॥

हाँय"पूर्वेण मङ्गलेन महता पुण्येन" यह श्रीधरस्वामी की व्याख्या

शरीरान्तरप्राप्तिस्तत्रापि साक्षाद्भगवत्प्राप्तिरेव; तादृशानां हृदि सदाविर्भावात्। एवमजामिलस्य पूर्वशरीरावस्थितावधि ज्ञेयम्। ततो मरणसमये सकृद्भजनस्यानन्तरमेव कृतार्थत्वप्रापणे व्यभिचारो न स्यात्। अतएवाह—एतावान् सांख्ययोगाभ्यां स्वधर्म्मपरिनिष्ठया। जन्मलाभः परः पुंसामन्ते नारायणस्मृतिः ॥१६१॥

टीका च—"एतावानेव जन्मनो लाभः फलम्। तमाह-नारायणस्मृतिरिति। सांख्यादिभिः साध्य इति तेषां स्वा-

---

है। अजामिल ने व्यतिरेक मुख से कहा है—"यदि प्रचुरतर-सौभाग्य नहीं रहता तो महापुरुषों का दर्शन नहीं होता। अपवित्र दासीपति मेरी जिह्वा मरने के समय नारायण नाम नहीं ग्रहण कर सकती यदि प्रचुरतर सौभाग्य का उदय नहीं होता ॥१६०॥

जब कि-भरतमहाराज के मृगशरीर त्याग करने के समय नारायणादि नामों का ग्रहण करने पर भी पुनः शरीरान्तर की प्राप्ति हुई है तो भी उन की साक्षात्भगवतप्राप्ति ही जानना। क्यों कि उस प्रकार महानुभावों के हृदय में सर्वदा भगवान् का आविर्भाव रहता है। इस प्रकार अजामिल के हरि के प्रिय-पार्षदों के दर्शन लाभ के बाद जब तक पांचभौतिक पूर्वशरीर था तब तक हृदय में अनवरत भगवत्स्फुर्त्ति होती थी। अतएव मरण-समय में एक ही वार भजनानुष्ठान के अनन्तर कृतार्थत्वप्राप्ति में व्यभिचार नहीं होता है। अतः (भा०२।१) अध्याय में शुकदेवजीने कहा है—हे राजन् परीक्षित्! सांख्य-अष्टाङ्ग योग एवं स्वधर्मपरिनिष्ठा के द्वारा अन्त में नारायण-स्मृति मुख्य-फल मानी जाती है। इस श्लोक की टीका में श्रीधरस्वामीजी कहते हैं—सांख्य प्रभृति साधनों का साध्य नारायण-स्मृति है। उन साधनों

तन्त्रेयन लाभत्वं वारयति। अन्ते तु स्मृतिः परो लाभः। न तन्महिमा वक्तुं शक्यत इत्यर्थः इत्येषा"। नामकौमुदी-कारैश्चान्तिमप्रत्यययोऽभ्यर्हित इत्युक्तम् ॥२॥१॥ श्रीशुकः ॥ १६१॥

अतएवाजामिलस्यान्यदापि पुत्रोपचारितं नारायणनाम गृह्णतः "प्रयाणे चाप्रयाणे च यन्नामस्मरणान्नृणाम्। सद्यो नश्यति पापौघो नमस्तस्मै चिदात्मने"। इति पाद्मे देवद्युति-स्तुत्यनुसारेण, जरामरणदशायामपि सकलकश्मलनिरस-नानि तव गुणकृतनामधेयानीति पञ्चमोक्तगद्यस्थितापिशब्देन प्रथमनामग्रहणादेव क्षीणसर्वपापस्यापि मरणे यन्नामग्रहण

से स्वतन्त्र-रूप से जो कुछ प्राप्ति है बह फल नहीं है। अन्तिम समय में भगवान् नारायण-स्मरण की महिमा कहने में कौन समर्थ हो सकता ? नामकौमुदीकारने कहा है—अन्तिम समय नारायण-स्मृति निखिल साध्यों से परमश्रेष्ट है ॥ १६१ ॥

अन्य समय पुत्रोपचारित नारायण-नाम ग्रहणकारी अजामिल के प्रथमोच्चारित नाम प्रभाव से निखिल पापराशि के क्षय होने पर भी मरण समयमें उसका जो नाम ग्रहण है वह प्रशंसनीय है। पद्मपुराण में देवहूतिकृत स्तुति यथा-प्रयाण समय अथवा जीवितावस्था मे जिन के नामस्मरण मात्रसे मानव मात्र का निखिल पाप सद्य(उसी समय) ही विनष्ट हो जाता है उन चैतन्यात्मा भगवान् को नमस्कार है पंचम-स्कन्धमें कहा है—आप के गुण -लीला-नाम जरा-मरण समस्त दशा में भी समस्त कल्मष निरास करते हैं, इत्यादि। इस गद्य में स्थित "अपि" शब्द के द्वारा प्रथम नाम ग्रहण प्रभाव से ही समस्त पापक्षय की कथा व्यक्त होती है। इस विषय में (६।२) अध्याय पर विष्णु-

तत्प्रशंसैव श्रूयते। तत्राध्यावृत्त्या—अथैनं मापनयत कृता-शेषाघनिष्कृतिम्। यदसौ भगवन्नाम म्रियमाणः समग्रहीदित्यादि ॥१६२॥

अशेषशब्दोऽत्र वासनापर्य्यन्तः। अघशब्दश्चापराधपर्य्यन्त इति। अत्र मरणे सर्वेषां दैन्योदयोऽपि श्रीभगवत्कृपातिशयद्वारमिति द्रष्टव्यम् ॥१६२॥ श्रीविष्णुदूताः यमदूतान् ॥ १६२ ॥ तदेवमधिकारिविशेषप्राप्यैव तत्तत्फलोदयो दृष्टः। यथैव पूर्वमुदाहृतम्। यथा च जातरुचिं प्राप्य— तव विक्री-

---

दूतगण यमदूतों से कहने लगे—हे यमदूतगण ! इस अजामिल को तुम मत ले जाओ. इस ने समस्त पापों का प्रायश्चित्त किया है। यदि ऐसा नहीं है तो मरने के समय भगवान् का नाम क्यों लेता ?॥१६२॥

यहाँ अशेष शब्द वासनापर्य्यन्त है, अघ शब्द अपराधतक है। मरण समय में सब को इस प्रकार दैन्योदय भगवान् की अत्यन्त अनुकम्पा से जानना ॥१६२॥

तब तो अधिकारी-विशेष को प्राप्त करके उस पूर्ववर्णित फल का उदय देखा जाता है। पहले यथा रूप उदाहरण दिये गये हैं। अब जातरुचि-भक्त को प्राप्त करके लीला-प्रभाव का वर्णन किया जाता है। उद्धवजी का वचन यथा—हे कृष्ण ! मनुष्यमात्र की परम मङ्गल-दायिनी तुम्हारी विविध लीला जिन के कर्ण में सुधारूप में प्रकाशित हो रही है, वे सब हरिदासगण लीला-कथा श्रवण का आस्वादन कर अन्य समस्त वासना का त्याग कर देते हैं। अतएव अन्यत्र भी कहा गया-पुरुषोत्तम भगवान् में जो भक्तिमान् हैं उन कृत-पुण्य महापुरुषों

ड़ितं कृष्ण नृणां परममङ्गलम् । कर्णपीयूषमासाद्य त्यजन्त्यन्यस्पृहां जनाः ॥ १६३ ॥

अतएवोक्तम्—न क्रोधो न च मात्सर्य्यं न लोभो नाशुभा मतिः । भवन्ति कृतपुण्यानां भक्तानां पुरुषोत्तम इति॥११॥६॥ श्रीमदुद्धवः ॥१६३॥

जातप्रेमाणं प्राप्य—नैषातिदुःसहा क्षुन्मां त्यक्तोदमपि बाधते । पिबन्तं त्वन्मुखाम्भोजच्युतं हरिकथामृतम् ॥ १६४ ॥

स्पष्टम् ॥ १० ॥ १ ॥ श्रीराजा ॥ १६४ ॥

व्याख्याते यथाकथञ्चिद्भजनसम्यगभजनावृत्ती । तदेवं

को न कभी क्रोध होता है, न मात्सर्य्य है, न लोभ, न कोई शुभकर्म करने की वासना होती है ॥१६३॥

जात-प्रेम भक्त को प्राप्त कर भगवत् कथा-रूपिणी भक्ति किस किस प्रकार उल्लसित होती है उसे कहते हैं–(१०।१) अध्याय में परीक्षित् महाराज ने शुकदेवजी से कहा है–हे प्रभो ! यद्यपि प्रायोपवेशन करने के पहले मैंने जल पान तक त्याग किया है तो भी इस असहनीय क्षुधा से कोई पीड़ानुभव नहीं कर रहा हूँ। उस का मूल कारण आप के मुखचन्द्र विगलित हरिकथामृत का निरन्तर पान है ॥१६४॥

यथा कथञ्चिद्भजन एवं सम्यक् भजन की पुनः पुनः अनुशीलनवृत्ति व्याख्यात हुई। तब तो भगवदर्पित धर्मादि के साध्यत्व के कारण भक्ति के विना अन्य-साधनों के अकिञ्चनत्व, स्वयं समर्थत्व,

भगवदर्पितधर्म्मादिसाध्यत्वात् तां विनान्येषामकिञ्चित्कर-त्वात्तस्याः स्वत एव समर्थत्वात् स्वलेशेन स्वाभासादिनापि परमार्थपर्य्यन्तप्रापकत्वात् सर्वेषां वर्णानां नित्यत्वाच्च साक्षात् भक्तिरूपं तत्साम्मुख्यमेवात्राभिधेयवस्त्विति स्थितम् । इयमेव केवलत्वात् अनन्यताख्या । अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्य्युपासते । तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम् ॥ येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः । तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम् ॥ इत्यव्यवहितवाक्यद्वयेऽन्वय-व्यतिरेकोक्त्या अनन्यत्वं नाम ह्यन्योपासनाराहित्येन तद्भ-

---

निजलेशता एवं स्वाभास के द्वारा परमार्थ-वस्तुपर्य्यन्त प्रापकत्व तथा समस्त वर्णों में नित्यत्व के कारण साक्षात् भक्तिरूप तत्साम्मुख्य ही यहाँ अभिधेयवस्तु सिद्ध हुआ । यह भक्ति अन्य निरपेक्ष रूप से उल्लेखित होने के कारण अनन्या करके कही जाती है। भगवद्गीता में यथा-"जो जन अनन्य हो कर अनवरत मेरा चिन्तन करते हुए सम्यक्रूप से उपासना करते हैं उन नित्याभियुक्तमना भक्तों के योग-क्षेम को मैं वहन करता हूँ । जो अन्य-देवताओं के भक्त होकर श्रद्धा-युक्त हृदय से उन उन देवताओं की उपासना करते हैं वे अविधिपूर्वक मेरा भजन करते हैं"।। इन अव्यवहित दोनों वाक्यों में अन्वय-व्यति-रेक उक्ति से अनन्य शब्द से अन्य-देवता की उपासना से रहित हो कर भगवद्भजन का उपदेश किया गया है । अनन्यत्व का नाम अन्य-उपासना से रहित भगवद्भजन है । उस गीता में ही इस को अंगीकार किया गया है—सुदुराचार होकर भी यदि केवल मेरा भजन करता

जनमुच्यते । इत्थमेवाङ्गीकृतम् —अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभागित्यादौ । तस्याश्च महादुर्बोधत्वं महादुर्लभत्वञ्चोक्तम्—धर्मस्तु साक्षाद्भगवत्प्रणीतं न वै विदु ऋषयो नापि देवाः इत्यादौ । येऽभ्यर्थिता मयि च नो नृगति प्रपन्ना इत्यादौ च । तदेव तस्याः श्रवणादिरूपायाः साक्षाद्भक्तेः सर्वविघ्ननिवारण—पूर्वकसाक्षाद्भगवत्प्रेमफलदत्वे स्थिते परमदुर्लभत्वे च सत्यन्यकामनया च नाभिधेयत्वम् । तथा चतुर्थे —तं दुराराध्यमाराध्य

है तो वह परम साधु जानना । उस ने सम्यक् व्यवहित किया है वह भी जानना । इस श्रीमद्भागवत में उस भक्ति का महादुर्ज्ञेयत्व एवं महादुर्लभत्व कहा गया है । (६।३।१९) श्लोक में यमराज ने अपने दूतगण के प्रति कहा है—साक्षात्भगवत्कर्त्तृक प्रवर्त्तित इस धर्म को न ऋषिगण जानते हैं न देवगण-सिद्धप्रमुखगण-असुरगण-मनुष्यगण कोई जानते हैं । तव तो विद्याधर-चारणगण नहीं जानते हैं इस वारे में कहना ही क्या है । यहाँ भगवद्भक्ति का दुर्ज्ञेयत्व दिखलाया गया है ॥ (३।१५।२४) श्लोक में ब्रह्माजी सनकादिकों से कहा है—हे वत्सगण ! इस मनुष्य जन्म में धर्म के साथ तत्त्वज्ञान लाभ किया जा सकता है, जिस की हम सब भी प्रार्थना करते हैं । दुर्लभ मनुष्य जन्म को पाकर जो हरि आराधना नहीं करते हैं उन के लिये खेद होता है कि वे सब हरि की माया से विमोहित हैं ॥ यहाँ भगवद्भक्तिका महादुर्लभत्व दिखलाया गया है । तव तो पूर्वकथित सिद्धान्त के अनुसार उस श्रवण-कीर्त्तनादि रूप साक्षाद्भक्ति की सर्वविघ्न-निवारण पूर्वक

सतामपि दुरापया । एकान्तभक्त्या को वाञ्छेत् पादमूलं विना वहिरिति तन्मात्रकामनायाश्च भक्तेरेवाकिञ्चनत्वम-कामत्वञ्च संज्ञापितम् । मत्तोऽप्यनन्तात् परतः परस्मात् स्वर्गापवर्गाधिपतेर्न किञ्चित् । येषां किमु स्यादितरेण तेषा-मकिञ्चनानां मयि भक्तिभाजामिति श्रीऋषभदेववाक्यात् । अकामः सर्वकामो वा इत्यादेश्च । तथा इयमेवैकान्तितेत्यप्यु-च्यते । एकान्तिनो यस्य न कञ्चनार्थं वाञ्छन्ति ये वै भगव-त्प्रपन्ना इति गजेन्द्रवाक्यात् । एवं प्रलोभ्यमानोऽपि वरैर्लो-कप्रलोभनैः । एकान्तित्वात् भगवति नैच्छत्तानसुरोत्तम इति

साक्षात्भगवान्में प्रेम प्रदान सामर्थ्य स्थितिमें एवं परमदुर्ल्लभत्व स्थिति में भी अन्य कामनाके अनुष्टान को अभिधेय नहीं कहा जा सकता। इसी अभिप्राय से-(४।२४।५५)श्लोकमें श्रीरुद्रने प्रचेतागण से कहा है–हे वत्सगण ! एकान्तभक्ति के द्वारा भी साधुगण के दुष्प्राप्य, दुराराध्य, उन भगवान् की आराधना करते हुए कौन व्यक्ति उनके पादमूल का त्याग कर अन्य कामना कर सकता है?।। यहाँ भक्तिमात्र की कामना से भक्ति का अकिञ्चनत्व एवं अकामत्व प्रकाश होता है। भगवान् ऋषभदेव के वचन से देखा जाता है—हे पुत्रगण ! जो स्वर्गापवर्गके अधिपति, परात्पर,अनन्त स्वरूप हम से कुछ नहीं चाहते हैं वे एकान्त भक्तिमान् हैं। उन अकिञ्चन-भक्तोंका साधारण राज्यादि से क्या लाभ हो सकता है ? ।। यहाँ विशुद्ध भक्ति का अकिञ्चनत्व दिखलाया गया है। " अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः" इत्यादि श्लोक में विशुद्धा-भक्ति का अकामत्व बतलाया गया है। जिस प्रकार यह

नारदवाक्याच्च । अतएवोक्तं गारुड़े—एकान्तेन सदा विष्णौ यस्मादेवपरायणाः । तस्मादेकान्तिनः प्रोक्तास्तद्भगवतचेतस इति । एषा एवोपदिष्टा श्रीगीतोपनिषत् भक्त्या त्वनन्यया शक्य अहमेवंविधोऽर्जुन ।ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप। मत्कर्म्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः । निर्वैरः सर्व-भूतेषु यः स मामेति पाण्डवेति मत्कर्म्म श्रवणकीर्त्तनादि । अहमेव परमः साधनत्वेन साध्यत्वेन च यस्य । अतएव

विशुद्धा-भक्ति अनन्या, अकिञ्चना एवं अकाम संज्ञा से अभिहित हुई है उस प्रकार एकान्तिक शब्द से भी कीर्त्तित होती है । गजराजने भगवान् का स्तवन करते हुए कहा है—(८।३।२०) जो भगवच्चरण में एकान्त प्रपन्न हैं वे भक्तगण भगवान् से कुछ नहीं चाहते हैं। उन को एकान्तीभक्त कहते हैं ।। श्रीनारदजी भी धर्मराज युधिष्ठिर से कहा है—हे राजन् ! भगवान् नृसिंहदेव ने लोक प्रलोभक वरसमूह को प्रह्लादजी से लेने को कहा तथा प्रलोभित भी कराया परन्तु प्रह्लादजी ने उन वर समूह की प्राप्ति की इच्छा नहीं की । क्यों कि वे भगवान् के एकान्त भक्त थे ।। अतएव गरुड़पुराण में कहा है-जो विष्णु में एकान्तभाव से सर्वदा निरत हैं अर्थात् किसी समय भक्ति के विना अन्य कुछ नहीं चाहते हैं वे भगवद्गतचित्त भागवतगण एकान्ती करके अभिहित होते हैं । भगवद्गीता में भी अनन्या भक्ति की बात कही गई है—हे अर्ज्जुन ! मैं इस प्रकार हूँ जो अनन्या भक्ति के द्वारा जानने में, देख ने में एवं शास्त्रदृष्टि से अनुभूत होने में समर्थ हूँ ।। हे पाण्डव ! जो मेरे लिये मन्दिर निर्माणादि कार्य करता है जो हमको

साधनसाध्यान्तरसङ्गविवर्जित इति व्याख्येयम् । इमामेव भक्तिमाह—तस्मादर्थाश्च कामाश्च धर्माश्च यदपाश्रयाः । भजतानीहयात्मानमनीहं हरिमीश्वरम् ॥१६५॥

यदपाश्रया यदधीना तं हरिमित्यन्वयः । अनीहया कामनात्यागेन । अनीहं तथैव कामनाशून्यम् । इच्छाकांक्षा स्पृहातृड़ित्यमरः ॥७॥१०॥ श्रीप्रह्लादः असुरबालकान् ॥१६५॥

तथैवोभयोः कामनाशून्यत्वं स्वयमेवाह—आशासानो नैव भृत्यः स्वामिन्याशिषमात्मनः । न स्वामी भृत्यतः स्वाम्य-

---

परम पुरुषार्थ कर के जानता है, जो भगवद्विमुखजनों से रहित है और जो समस्म भूतों में निर्वैर है एवम्भूत भक्त नराकार मुझ कृष्ण को प्राप्त करता है ।।यहाँ मत्कर्म का अर्थ श्रवण-कीर्त्तनादि, मैं हूँ परम साधन तथा साध्य जिस का वह मत्पर है। संगवर्जित शब्द का अर्थ भक्तिभिन्न अन्य साध्य-साधन-संसर्गरहित है। प्रह्लाद जी ने असुर-बालकों से कहा है—हे बालकगण ! अर्थ काम एवं धर्मादि निष्काम-भक्ति के अधीन हैं अर्थात् निष्काम-भक्ति के अनुष्ठान से वे सब आप मिल जाते हैं। अतः उन सबकी कोई कामना न कर अथच सर्व कामना शून्य परमात्मा ईश्वर हरि का भजन करो ।। "इच्छा, आकांक्षा, स्पृहा एवं तृष्णा" इन शब्दों को एकार्थवाची कर के अमर कोष में कहा गया है ।।१६५।।

पुर्व सिद्धान्तानुसार भक्त एवं भगवान् दोनों कामना-शून्य हैं, उसे प्रह्लादजी (७।१०) श्लोक में स्वयं कहते हैं—हे नाथ ! जो अपने

मिच्छन् यो राति चाशिषः । अहन्त्वकामस्त्वद्भक्तस्त्वञ्च स्वाम्यनपाश्रयः । नान्यथेहावयोरर्थो राजसेवकयोरिव ॥१६६॥

स्पष्टम् ॥७॥ प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥१६६॥

एवमेवाह —नैवात्मनः प्रभुरयं निजलाभपूर्णो मानं जनादविदुषः करुणो वृणीते । यद्यज्जनो भगवते विदधीत मानं तच्चात्मने प्रतिमुखस्य यथा मुखश्रीः ॥१६७॥

प्राणवल्लभ के निकट निजसुख सम्पत्ति की इच्छा करता है उसे कभी भृत्य नहीं कहा जा सकता ओर जो प्रभु अपने भृत्य के निकट निज स्वामित्व इच्छा से सुख-सम्पदादि देने को कहता है वह स्वामी ही नहीं ।। मैं आप का निष्काम भक्त हूँ आप भी निरपेक्ष पूर्णकाम प्रभु हैं । इस प्रकार दोनों में प्रभु-दास सम्बन्ध है । वह सम्बन्ध राजा एवं सेवक की भाँति नहीं है ॥ १६६॥

प्रह्लादजी ने नृसिंहदेव से पुनः कहा है—(७।९) ये मेरे प्रभु अपने भक्तों से मान–पूजा नहीं चाहते हैं क्यों कि वे तो अपने भक्तों को प्राप्त कर परम प्रसन्न हो जाते हैं । वे परम करुण हैं । भक्तों की पूजा प्रयास को सहन करने में असमर्थ हैं । पिता के सम्मुख बालक की भाँति भक्तगण भगवान् के सम्मुख कुछ नहीं जानते हैं । यहाँ भक्तों को अज्ञ करके कहा गया है । यह दैन्योक्ति है । प्रह्लादजी भी भक्तों में परिगणित हैं । अथवा "अविदुष" पद का अर्थ—भक्तगण भगवान् में गाढ़ावेश रहने के कारण अन्य कुछ नहीं जानते हैं । दोनों पक्ष में भगवान् का कारुण्य ही हेतु है यह भावार्थ है । तब भक्तजन

अयं प्रभुरात्मनो मानं पूजां जनान्निजभक्तान्न वृणीते नेच्छति। तत्र हेतुर्निजस्य भक्तस्यैव लाभेन पूर्णः परमसन्तुष्टः। हेत्वन्तरं, करुणः, पूजार्थं तत्प्रयासादावसहिष्णुः। कथम्भूताज्जनादविदुषः, पितुरग्रे वालकवत् तस्याग्रे न किञ्चिदपि जानतः। एषा स्वस्य जनैकवर्गत्वेन दैन्योक्तिः। यद्वा तदावेशेनान्यत् किञ्चिदपि न जानत इत्यर्थः। उभयत्र पक्षेऽपि तच्च तस्य कारुण्यहेतुरितिभावः। तर्हि किं जनस्तस्य मानं न कुरुत एवेत्याशङ्कयाह यदिति। स च जनः यं यं मानं भगवते विदधीत सम्पादयति स सर्वोऽप्यात्मार्थमेव। तत् सम्मानमात्रेणैव स्वसम्मानाभिमननात् सुखं मन्यमानस्तन्मानं करोत्येवेत्यर्थः। तत्सम्मानमात्रेण स्वसम्मानश्च तदेकजीवनस्य तज्जनस्य युक्त एवेति दृष्टान्तमाह; यथा मुखे या शोभा क्रियते तन्मात्रमेव

अपने प्रभु की पूजा क्यों नहीं करते हैं—वे भक्तजन भगवान् के लिये जो जो सम्मान विधान करते हैं वह सब अपने के हेतु में है। निष्किञ्चन भक्तों की स्वतन्त्र रूप से सम्मान-प्रदान की अपेक्षा नहीं रहती है। वे अपने प्रभुके सुखसे अपने को सुखी मानते हैं। प्रभुके प्रति वही उन का सम्मान है। क्यों कि प्रभु ही उन के एक मात्र जीवन हैं। इस का दृष्टान्त यह है—मुख के लिये जो शोभाकी जाती है वह प्रतिमुख में अर्थात् प्रतिविम्ब स्थत मुख में शोभा—बृद्धि के लिये जानना। तात्पर्य-जिस प्रकार मुख की शोभा है उस प्रकार प्रतिविम्बमुख में शोभा रहती है ॥१६७॥

प्रतिमुखस्य शोभायैव भवति ॥ ७ ॥ ९ ॥ प्रह्लादः श्रीनृसिंहम् ॥ १६७ ॥

अतएवाह— नालं द्विजत्वं देवत्वमृषित्वं वासुरात्मजाः। प्रीणनाय मुकुन्दस्य न वृत्तं न वहुज्ञता। न दानं न तपो नेज्या न शौचं न ब्रतानि च। प्रीयतेऽमलया भक्त्या हरिरन्यद्विड़म्बनम् ॥ १६८ ॥

अमलया निष्कामया। विड़म्बनं नटनमात्रम्। अतः सकामभक्तस्यापि भक्तेर्नटनमात्रत्वं स्वार्थसाधनमात्रतात्पर्येण भक्त्यानुकरणमात्रत्वात्। यथा परेशामपि नटानां क्वचित् तदनुकरणन्तथैवेति। तत् तत्र सकामत्वमैहिकं

अतएव प्रह्लादजीने (७।७) अध्याय में असुरबालकों से कहा है— द्विजत्व, देवत्व, ऋषित्व, उत्तम-जीविका, बहुशास्त्रज्ञान, दान, तपस्या, यज्ञ, शौच, राशि राशि ब्रत ये सब मुकुन्द-सन्तोष-सम्पादन नहीं कर सकते हैं। वे मुकुन्द एकमात्र निष्काम भक्ति से प्रसन्न होते हैं। सकामभाव से अन्य समस्त अनुष्ठान अभिनय-मात्र जानना ॥१६८॥

श्लोक में "अमलया भक्त्या" शब्दों का अर्थ निष्काम भक्ति से। "विडम्बन" का अर्थ नटनमात्र है। अतएव सकाम भक्त की जो भक्ति है वह नटनमात्र है, स्वार्थसाधन मात्र तात्पर्यवाली है। जो भक्ति का अनुकरण मात्र जानना। अन्य नटवर्ग का जिस प्रकार कहीं अनुकरण मात्रमें तात्पर्य है उस प्रकार कर्मी-ज्ञानी-योगियों से भक्तिसाधक भक्त श्रेष्ठ होने पर भी यदि सकामी है तो उस का अनुष्ठान अभिनय मात्र में तात्पर्य रखता है। वह सकाम ऐहिक एवं पारलौकिक भेद से दो

पारलौकिकञ्चेति द्विविधम् । तत् सर्वमेव निषिध्यते श्रीनागपत्नीवचनादौ—न पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यमित्यादिना । तस्माद्वैवस्वतमनुपुत्रस्य पृषध्रस्य तु मुमुक्षोरप्येकान्तित्वव्यपदेशो गौण एव बोद्धव्यः । मा मां प्रलोभयोत्पत्त्यासक्तं कामेषु तैर्वरैः । तत्सङ्गभीतो मुमुक्षुस्त्वामुपाश्रित इत्यत्र श्रीप्रह्लादवाक्ये मुमुक्षा तु कामत्यागेच्छैव । यदि रासीश मे कामान् वरांस्त्वं वरदर्षभ । कामानां हृद्यसंरोहं भवतस्तु वृणे वरमिति वक्ष्यमाणात् । भक्तियोगस्य तत्

प्रकार है। नागपत्नी-बचनादि से उन का निषेध किया गया है। नागपत्नियों ने कहा है—जिनके चरणरजः प्रपन्न एकान्ती भक्तगण स्वर्गसुख, सार्वभौमपद, परमेष्ठिपद, रसातलाधिपत्य, अष्टादश योग-सिद्धि, अधिकं तु मोक्षसुख नहीं चाहते हैं इत्यादि। वैवस्वतमनुपुत्र पृषध्र यद्यपि मुमुक्षु थे तो भी उनको एकान्ती करके जो उल्लेख किया गया है वह गौण है। जैसे कि किसी जमीदार को महाराज करके सम्बोधन किया जाता है उस प्रकार प्रह्लाद-वचन में भी इस प्रकार विरोध-भङ्गी देखी जाती है। यथा—हे प्रभो! जन्म से विषयभोग-वासना में आसक्तचित्त मुझे भोग-सम्पादक उन वरों से प्रलोभित न करें। मैं विषयसंग से अत्यन्त भीत एवं निर्विण्ण होकर मुक्तिकामना से एकान्तभाव में आपका आश्रय ले रहा हूँ॥ इस प्रह्लाद-वाक्य में उक्त "मुमुक्षु" पद का अर्थ भोगवासना-त्यागेच्छा है। क्योंकि उन्होंने अपने प्रभु से कहा है—हे वरदराट्! यदि एकान्त रूप में आप मुझे अभीष्ट वर दान करना चाहते हैं तो मैं आप से यह वर माँगता हूँ कि—उस वर ग्रहण से हृदय में किसी प्रकार भोग-लालसा का उदय

सर्वमन्तरायतयार्भक इति श्रीनारदेन प्रागुक्तत्वाच्च । एवं श्रीमदम्बरीषस्य यज्ञविधानमपि लोकसंग्रहार्थमेव ज्ञेयम् । तमुद्दिश्याप्येकान्तभक्तिभावेनेत्युक्तमस्ति । तत्र चैहिकं निष्कामत्वं भक्त्या जीविकाप्रतिष्ठाद्युपार्जनं यत्तदभावमयमपि बोद्धव्यम् । विष्णुं योनोपजीवतीति गारुड़े शुद्धभक्तिलक्षणात् । मौनव्रतश्रुततपोऽध्ययनस्वधर्म्मव्याख्यारहोजपसमाधय आपवर्ग्याः । प्रायः परं पुरुष ते त्वजितेन्द्रियाणां वार्त्ता भवन्त्युत न वा वत दाम्भिकानामिति श्रीप्रह्लादवाक्यवत् । मौनादय

न हो ॥ श्रीनारदजी ने भी युधिष्ठिर महाराज से कहा है—हे राजन् ! वह बालक प्रह्लाद उन सब कामना-वासनाओं को विशुद्ध भक्ति का अन्तराय जान कर हँसता हुआ नृसिंहदेव से कहने लगा इत्यादि। अतः नारदजी के वचन से यह विषय स्पष्टीकरण हो रहा है । विशुद्ध-भक्त अम्बरीष महाराज का यज्ञानुष्टान लोक-संग्रह के लिये जानना । क्यों कि उन अम्बरीष महाराज को लक्ष्य करके शुकदेवजी ने (९।४। २८) श्लोक में कहा है—भगवान् श्रीहरि महाराज अम्बरीष के एकान्त भक्ति से प्रसन्न होकर रक्षा के लिये शत्रुगण के भयावह भक्तरक्षण में समर्थ सुदर्शन चक्र को देने लगे । इस वचन से अम्बरीष महाराज का ऐकान्तिकत्व स्पष्ट है । उनमें अर्थात् ऐहिक एवं पारलौकिक दो प्रकार सकाम में से—ऐहिकः-निष्काम भक्ति के द्वारा निजजीविका एवं प्रतिष्ठादि उपार्ज्जन लालसा, अर्थात् भजन दिखा कर जीविका-निर्वाह करना अथवा मानवसमाज में अपनी प्रतिष्ठा स्थापन की चेष्टा करना । उस जातीय वासना से शून्य हृदय वाले को निष्कामभक्त-संज्ञा दी जाती है ॥ गरुड़पुराण में कहा है—जो विष्णु को जीविका-निर्वाह उपाय रूप में व्यावहृत नहीं करता है वह

एवाजितेन्द्रियाणां वार्त्ता जीवनोपाया भवन्ति । दाम्भिका-नान्तु वार्ता अपि भवन्ति न वा दम्भस्यानियतफलत्वादि-त्यर्थः । अतएवोक्तम्—आराधनं भगवत ईहमाना निराशि-षः । ये तु नेच्छन्त्यपि परं ते स्वार्थकुशलाः स्मृता इति । परं मोक्षमपीति टीका च । तस्मात् साधूक्तं नालं द्विजत्वमि-त्यादि ॥ ७ ॥ ६ ॥ प्रह्लादोऽसुरबालकान् ॥ १६८ ॥

ततोऽस्या एव भक्तेः सर्वशास्त्रसारत्वमाह—श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम् । अर्च्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् । इति पुंसार्पिता विष्णो भक्ति-

---

विशुद्धभक्त है। प्रह्लादजी ने अपने प्रभु से कहा है—(७।९।४६) हे नाथ ! मौनादि दश प्रकार धर्म यद्यपि मोक्षप्राप्ति के हेतु रूप करके प्रसिद्ध हैं तो भी जो अजितेन्द्रिय हैं अर्थात् इन्द्रिय-भोग के लिये इनका विक्रय करते हैं उनके ये दश प्रकार धर्म जीविका-निर्वाह के लिये जानना। क्या अभिमानियों के मोक्ष के लिये किये हुए ये दश प्रकार धर्म जीविका-निर्वाह रूप नहीं है ? दम्भ का फल तो अनि-र्दिष्ट है। अतएव (६।१८।७३) श्लोक में इन्द्र ने दिति से कहा है—हे मात ! जो निष्काम भाव से भगवान् की आराधना करते हैं जो कि अपने आराध्य प्रभु के निकट मोक्ष-पर्यन्त नहीं चाहते हैं वे यथा-र्थतः स्वार्थ-साधन में सुचतुर हैं ॥ अतएव "नालं द्विजत्वं" श्लोक में-"एकमात्र अहैतुकी-भक्ति से भगवान् प्रसन्न होते हैं" यह वचन अति-सुन्दर हो रहा है ॥१६८॥

अनन्तर इस भक्ति के सर्वशास्त्रसारत्व के बारे में कहते हैं—(७।५।२३-२४) श्लोकों में प्रह्लादजी ने अपने पिता हिरण्यकशिपु से

श्रवेन्नववलक्षणा । क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्
॥१६६॥

श्रवणकीर्तने तदीयनामादोनाम् स्मरणं च । पादसेवनं परिचर्य्या । अर्च्चनं विध्युक्तपूजा । वन्दनं नमस्कारः । दास्यं तद्दासोऽस्मीत्यभिमानम् । सख्यं बन्धुभावेन तदीयहिताशंसनम् । आत्मनिवेदनं गवाश्वादिस्थानीयस्य स्वदेहादिसंघातस्य तदेकभजनार्थं विक्रयस्थानीयतस्मिन्नर्पणम् । यत्र तद्भरणपालनचिन्तापि स्वयं न क्रियते । उदाहृतानि चैतानि प्राचीनैः—

कहा है—हे पितः ! जो व्यक्ति श्रीविष्णु के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, पादसेवन, अर्चन, बन्दन, दास्य, सख्य, आत्मनिवेदन इन नौ प्रकार भक्ति को विष्णु में अर्पण कर साक्षात् रूप से अनुष्ठान करता है उसने मानों उत्तम अध्ययन कर लिया है ॥१६६॥

श्रीविष्णु के नाम-रूप-गुण-परिकर एवं लीलादि के श्रवण, कीर्त्तन एवं स्मरण जानना । पादसेवन का अर्थ परिचर्या है, अर्चन शब्द से विधि-विहित पूजन है, बन्दन नमस्कार है, दास्य शब्द से "मैं भगवान् का दास हूँ" इस प्रकार का अभिमान है, बन्धुभाव से हितानुशीलन सख्य है, आत्म-निवेदन से—गो-अश्वादि भाँति निज देहेन्द्रिय समूह का भजनार्थ विक्रय-स्थानीय भगवान् में समर्पण है । गो अश्वादि अपने भरण-पोषणकी चिन्ता नहीं करते हैं । उनका भार तो उनके स्वामी पर है । प्राचीन महानुभावोंने श्रवण-कीर्त्तनादि नवधा भक्ति-अनुष्ठानबारेमें उदाहरण दिये हैं, यथा—

"श्रीविष्णु के श्रवणांग में श्रीपरीक्षित्, कीर्त्तन में श्रीशुकदेव, स्मरण में प्रह्लाद, पादसेवन में लक्ष्मी, पूजन में पृथुमहाराज, नमस्कार में अक्रूर, दास्य में श्रीहनुमान, सख्य में अर्जुन, सर्वस्व आत्म-

"श्रीविष्णोः श्रवणे परीक्षिदभवद्वैयासकिः कीर्त्तने, प्रल्हादः स्मरणे तदङ्घ्रिभजने लक्ष्मीः पृथुः पूजने । अक्रूरस्त्वभिवन्दने कपिपतिर्दास्येऽथ सख्येऽर्जुनः, सर्वस्वात्मनिवेदने बलिरभूत् कृष्णाप्तिरेषां परमिति।"इति नवलक्षणानि यस्याः सा भगवति तद्विषयिका श्रद्धा साक्षाद्रूपा न तु कर्माद्यर्पणरूपा पारम्परिकी भक्तिरियं तत्रापि श्रीविष्णोरेवार्पिता तदर्थमेवेदमिति भाविता न तु धर्मार्थादिष्वर्पिता एवंभूता चेत् क्रियते तदा तेन कर्त्रा यदधीतं तदुत्तमं मन्य इत्यर्थः। तथाच श्रीगोपालतापनीश्रुतिः—भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुस्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यमिति । अत्र

निवेदन में श्रीबलि हुए हैं। अर्थात् उनकी अपने अपने भक्त्यंग-याजन से उत्तम रूप में कृष्ण-प्राप्ति हुई है।" वह श्रवण-कीर्त्तनादि नवांग रूपिणी भक्ति यदि कर्मादि अर्पण रूपा पारम्परिकी न होकर साक्षात्‌रूप में भगवद्विषयिणी होती है और विष्णु में अर्पिता अर्थात् विष्णुसुखके लिये है,अर्थात् इस प्रकार भावना से यदि भक्ति किसी के द्वारा की जाती है अथच धर्म-अर्थ-काम-मोक्षादि लाभ के उद्देश्य में अर्पिता नहीं होती है तो उस कर्त्ता का यह अध्ययन उत्तम माना जाता है। गोपालतापनी-श्रुति में भक्ति का लक्षण पूर्व सिद्धान्तानुरूप से उल्लिखित है—"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैराश्येन अमुस्मिन् मनः कल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्" अर्थात् श्रीकृष्ण का भजन भक्ति है, वह ऐहिक-पारलौकिक के भोग-वासना-शून्य करके मन को श्रीकृष्ण में स्थापन रूप है इसका अपर नाम नैष्कर्म्य है। यहाँ श्लोक में उल्लिखित नव-लक्षणा पद का समुच्चय अर्थ करना आवश्यक नहीं है। अर्थात् एक ही अधिकारी, भक्ति के उन नौ अंग का अनुष्ठान

नवलक्षणा इति समुच्चयो नावश्यकः । एकेनैवाङ्गेन साध्या-व्यभिचारश्रवणात् । क्वचिदन्याङ्गमिश्रणन्तु तथापि भिन्नश्रद्धारुचित्वात् । ततो नवलक्षणशब्देन भक्तिसामान्योक्त्या तन्मात्रानुष्ठानं विधीयते इति ज्ञेयम् । नवलक्षणत्वञ्चास्या अन्येषामप्यङ्गानां तदन्तर्भावादुक्तम् ॥७॥६॥ श्रीप्रल्हादः स्वपितरम् ॥१६६॥

अथास्या अकिञ्चनाख्याया भक्तेः सर्वोपरिभूमिकावस्थ-तिमधिकारिविशेषनिष्ठत्वञ्च दर्शयितुं प्रक्रियान्तरम् । तत्र परतत्वस्य वैमुख्यपरिहाराय यथाकथञ्चित् साम्मुख्यमात्रं कर्त्तव्यत्वेन लभ्यते । तच्च त्रिधा । निर्विशेषरूपस्य तदय-

---

करेगा ऐसा कोई नियम नहीं है। क्योंकि उनमें से किसी एक अंग के अनुष्ठान से साध्यबस्तु अर्थात् प्रेमलाभ होता है। कोई कोई अन्य अंग के साथ मिश्रित कर जो अनुष्ठान करते हैं उस से फल की अर्थात् आस्वादन की विचित्रता अवश्य रहती है। क्योंकि मनुष्यों में श्रद्धा एवं रुचि का प्रार्थक्य है। यहाँ नवलक्षण शब्द से भक्ति-सामान्योक्ति है उसी मात्रा से अनुष्ठान विधान है जानना। यहाँ केवल नौ अंगों का उल्लेख है, और भक्ति के अन्यान्य अंगसमूह उन नौ अंगोंमें अन्तर्भूत है वह आगे विस्तार करके कहा जावेगा ॥१६६॥

अब इस अकिञ्चना भक्ति की सर्वोपरि भूमिका में अवस्थिति एवं विशेष-निष्ठता को देखाने के लिये पृथक् प्रकरण आरम्भ किया जा रहा है। उनमें परतत्त्व के वैमुख्य-दोष परिहार के लिये यथा कथञ्चित् रूप से साम्मुख्य को कर्त्तव्य रूप से शास्त्र-समूह उपदेश करता है। वह साम्मुख्यहेतु त्रिविध है। उनमें परतत्त्व के निर्विशेष

ब्रह्माख्याविर्भावस्य ज्ञानरूपं सविशेषरूपस्य च तदीयभगवदाद्याख्याविर्भावस्य भक्तिरूपमिति द्वयम् । तृतीयञ्च तस्य द्वयस्यैव द्वारं कर्मार्पणरूपमिति । तदेतत्त्रयं पुरुषयोग्यज्ञानभेदेन व्यवस्थापयितुं लोकसामान्यतो ज्ञानकर्म्मभक्तीनामेवोपायत्वं नान्येषामित्यनुवदति —योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया । ज्ञानं कर्म्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित् ॥१७०॥

योगा उपायाः । मया शास्त्रयोनिना श्रेयांसि मुक्तित्रिवर्ग-

रूप में ब्रह्म नामक आविर्भाव का साम्मुख्य हेतु ज्ञानरूप साधन (१) दूसरा उस परतत्त्व के भगवदाख्य सविशेष रूप में आविर्भाव का साम्मुख्य हेतु भक्तिरूप साधन (२)तीसरा-पूर्वोक्त दोनों प्रकार साधन के द्वारस्वरूप कर्मार्पण रूप साधन (३)यह तीन प्रकार साधन साधक पुरुष के योग्यतानुसार क्रमतया ज्ञान-भक्ति एवं कर्म साम्मुख्य के उपाय-भूत करके व्यवस्थापित हैं । अर्थात् लोक साधारण में उनकी इस प्रकार व्यवस्था हुई है । (११।२०।६) श्लोकमें भगवान् ने उद्धवजी से कहा है—हे उद्धव ! मैंने मनुष्यों के कल्याण-विधान के लिये त्रिविध योग (उपाय)कहा है ज्ञान कर्म एवं भक्ति । इन से अन्य कोई उपाय कहीं भी नहीं है ॥१७०॥

यहाँ योग शब्द उपाय है । "मया" शब्द का अर्थ शास्त्रयोनि रूप मुझसे, "श्रेयांसि" शब्द का अर्थ मुक्ति, त्रिवर्ग एवं प्रेम । इस से कर्म की भक्ति से व्यावृत्ति है । उन में अधिकारी हेतुओं को दो श्लोकों से कहते हैं—(१०।२०।७-८) निर्व्विण्णों का ज्ञानयोग, संन्यासियों का कर्मयोग कहलाता है । उन में अनिर्व्विण्ण चित्त वाले कामीजनों का कर्मयोग है और मेरी कथादि में यदृच्छा से जातश्रद्ध जन जो न

प्रेमाणि । अनेन भक्तेः कर्म्मत्वञ्च व्यावृत्तम् । तेष्वधिकारि-हेतूनाह द्वाभ्याम्—निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्म्मसु । तेष्वनिर्विण्ण-चित्तानां कर्म्मयोगश्च कामिना-म् । यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान् । न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः ॥ १७१ ॥

इह एषां मध्ये निर्विण्णानामैहिकपारलौकिकविषयप्रतिष्ठा-सुखेषु विरक्तचित्तानाम् अतएव तत्साधनभूतेसु लौकिक-वैदिककर्म्मसु न्यासिनां तानि त्यक्तवतामित्यर्थः । पदद्वयेन हृद्जातमुमुक्षूणामित्यभिप्रेतम् । तेषां ज्ञानयोगः सिद्धिदः इत्युत्तरेणान्वयः । कामिनां तत्तत्सुखेषु रागिनाम् अतएव तेषु साधनभूतेषु कर्म्मसु अनिर्विण्णचित्तानां तानि त्यक्तुमस-मर्थानां कर्म्मयोगः सिद्धिदः तत्संकल्पानुरूपफलदः । अथ ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायामित्यादौ तिर्य्यग्जना अपी-

निर्व्विण्ण है न अनिर्व्विण्ण है उस के लिये भक्तियोग सिद्धिद है। यहाँ निर्व्विण्ण एवं न्यासी दो शब्द उल्लिखित हैं। जिस के हृदय में मुक्ति इच्छा मौजूद है उस के लिये ज्ञानयोग सिद्धिप्रद है और जिस की ऐहिक-पारलौकिक विषयवासना की आकांक्षा है अतः सुखभोग-प्राप्ति के साधन रूप सकाम कर्मत्याग में असमर्थ है उन के लिये कर्म-योग सिद्धिप्रद है एवं यदृच्छा से अर्थात् किसी परम स्वतन्त्र भगव-द्भक्त संग से अथवा उन की कृपा हेतुभूत सुमंगल उदय से मेरी कथादि में जो श्रद्धावान् है, अथच विषय में अति आसक्त नहीं है, अत्यन्त निर्व्विण्ण भी नहीं है एवम्भूत अधिकारी मनुष्य के भक्तियोग सिद्धि-प्रद है ॥१७१॥

त्यनेन भक्त्यधिकारे कर्मादिवज्जात्यादिकृतनियमातिक्रमात् श्रद्धामात्रं हेतुरित्याह यदृच्छयेति । यदृच्छया केनापि परम-स्वतन्त्रभगवद्भक्तसङ्गतत्कृपाजातमङ्गलोदयेन । यदुक्तं शुश्रूषोः श्रद्दधानस्येत्यादि । तदेतत् पद्यं स्वयमेव अग्रे व्याख्यास्यते द्वाभ्याम्—जातश्रद्धो मत्कथासु निर्विण्णः सर्वकर्मसु । वेद दुःखात्मकान् कामान् परित्यागेऽप्यनीश्वरः ।

"ते वै विदन्त्यतितरन्ति च देवमायां स्त्री-शूद्र-हूण-शबरा अपि पापजीवाः" अर्थात् "स्त्री-शूद्र-हूण-शबर, ऐसा कि पाप से उत्पत्ति वाले वेश्यापुत्रादि साधुसंग प्रभाव से भगवान् का अनुभव कर ईश्वर-माया का अतिक्रमण करते हैं" ब्रह्मा के प्रति इस नारदवचन से यह प्रमाणित होता है कि—भक्तियोग किसी जाति की अपेक्षा नहीं करता है। भक्ति-अधिकार में एकमात्र श्रद्धा ही हेतु है। इसी लिये यहाँ "यदृच्छा" शब्द का प्रयोग है। अर्थात् किसी परम स्वतन्त्र भगवद्भक्तसंग से अथवा उन के कृपाजात सुमंगल उदय से मेरी कथादि में श्रद्धायुक्त अथच विषय में अत्यन्त आसक्त नहीं, अत्यन्त निर्व्विण्ण भी नहीं है उस के लिये भक्तियोग सिद्धिप्रद है। श्लोक में "यदृच्छा" शब्द का अर्थ साधुसंग एवं साधुकृपा है। उस का प्रमाण (१।२।१६) श्लोक पर श्रीसूतजी ने शौनकादि के प्रति कहा है—
'हे विप्रगण ! भगवद्बहिर्मुख जीव के साधुसंग के विना हरिकथा में रुचि उदय में अन्य कोई उपाय नहीं है। साधुगण प्रायतः पवित्र तीर्थों में निवास करते हैं उन तीर्थों में साधु-संग-सौभाग्य होता है।' भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं आगे दो श्लोकों के द्वारा इस की व्याख्या करते हैं—मेरी कथाओं में जातश्रद्ध, अथच सर्व कर्म में निर्व्विण्ण, कामानाओं को दुःखात्मक जान कर भी परित्याग में असमर्थ होता है। इस लिये

ततो भजेत मां प्रीतः श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः । जुषमानश्च तान् कामान् दुःखोदर्कांश्च गर्हयन् ॥१७२॥

कथेत्युपलक्षणं मत्कथादिषु । एतदेव केवलं परमं श्रेय इति जातविश्वासः । अतएवान्येषु कर्मसु उद्विग्नः । किन्तु वर्त्तमानेषु प्राचीनकर्मफलभोगेषु एवम्भूत इत्याह, वेदति । ततस्तां वेदेत्यादिव्याख्यातां न निर्व्विण्णो नातिसक्त इत्येवं-लक्षणांमवस्थामारभ्यैवेत्यथः । मां भजेत मदीयानन्यताख्य-भक्तावधिकारी स्यान्न तु ज्ञानवज्जाते सम्यग्वैराग्य एव । तस्याः स्वतः सर्वशक्तिमत्त्वेनान्यनिरपेक्षत्वादित्यर्थः ।

उन कामों की सेवा अथच निन्दा करता हुआ श्रद्धा के साथ, दृढ़ता-पूर्वक प्रीतियुक्त हृदयसे मेरा भजन करें ॥१७२॥

"कथा" यहाँ उपलक्षण मात्र है । यह ही केवल परम श्रेय है इस प्रकार जातविश्वास । अतएव अन्य कर्मों में उद्विग्न, परन्तु विद्यमान प्राचीन कर्मफलभोगों को जान कर भी उन का परित्याग में असमर्थ। पूर्व व्याख्यात "न निर्व्विण्णो नातिसक्तः" इस प्रकार लक्षण-अवस्था से आरम्भ करके अर्थात् विषयभोग में विशेष वैराग्य नहीं अथच विषय में आसक्ति भी नहीं, तथा भगवद्भक्ति के प्रत्येक अंगों के अनुष्ठान में दृढ़ श्रद्धायुक्त, इस प्रकार अवस्था से मेरा भजन करता है वह मेरी अनन्यता-भक्ति के अधिकारी है। ज्ञानसाधन में जिस प्रकार ऐहिक-पारलौकिक निखिल भोगमें विरक्ति न होने पर ब्रह्म-जिज्ञासा में अधिकार नहीं है उस प्रकार भक्तिसाधन में अपेक्षा नहीं रहती है। भक्ति का इस प्रकार स्वरूप-सामर्थ्य है कि वह अपने आश्रित जन की सर्व-अयोग्यता दूर कर के सर्व प्रकार से योग्यता-सम्पादन कर लेती है। अतः भक्तिसाधक के पक्ष में अन्य किसी

अनन्तरञ्च वक्ष्यते—तस्मान्मद्भक्तियुक्तस्य योगिनो वै मदात्मनः। न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह। यत्-कर्मभिर्यत्तपसा इत्यादि। न च कर्मनिर्वेदापेक्षत्वमापतितम्। स तु भक्तेः सर्वोत्तमत्वविश्वासेन स्वत एव प्रवर्त्तते। अतो निर्विण्ण इत्यनुवादमात्रम्। अतएव यद्यपि ज्ञानकर्मणोरपि श्रद्धापेक्षास्त्येव तां विना बहिरन्तः सम्यक्-वृत्त्यनुपपत्तेस्तथाप्यत्र श्रद्धामात्रस्य कारणत्वेन विशेषतस्तदङ्गीकारः। अत्रापि च तदपेक्षा पूर्ववत् सम्यक्प्रवृत्त्यर्थेव। तां विनानन्यताख्या भक्तिस्तथा न प्रवर्त्तते। कदा-

---

योग्यता की अपेक्षा नहीं रहती है केवल भक्ति में दृढ़विश्वास रहना चाहिये। आगे श्रीकृष्ण कहेंगे—हे उद्धव ! तुम्हारे निकट कर्म, ज्ञान एव भक्ति के त्रिविध अधिकारी की कथा कही गई। मुझ में आसक्त-चित्त भक्तिमान साधक के पक्ष में प्रायकरके ज्ञान वा वैराग्य मङ्गल-कर नहीं हैं। क्यों कि राशि राशि कर्म से, तपस्या से, ज्ञान-वैराग्य से, अष्टांग-योगसे, दान-धर्मसे, तीर्थयात्रा से, व्रतादि निखिल मङ्गल-साधन से जो चित्तशुद्धि आदि फल प्राप्ति होती है वह भक्तिप्रभाव से अनायास मिलती है। अतः भक्ति अन्य निरपेक्ष यह बात स्पष्ट हुई। यदि कहो कि—"निर्विण्णः सर्वकर्म्मसु" अर्थात "निखिल कर्मानुष्ठान में "निर्वेद प्राप्त" इस प्रकार उल्लेख है तो भक्ति किस प्रकार सर्व-निरपेक्षा हो सकती ?। उस का उत्तर यह है-जब भक्त के भक्ति पर सर्वोत्तम विश्वास होगा तो स्वभावतः कर्मादि अनुष्ठान में निर्वेद आय जाता है। तो भी श्लोक में कर्म्मयोग में जो निर्वेद की बात कही गई है वह अनुवाद मात्र जानना, अतएव

चित् किञ्चित् प्रवृत्ता च नश्यतीति । अतएव न निर्विण्णो नातिसक्त इत्यस्यानन्तरमपि मत्कथाश्रवणादौ वेत्यत्र श्रद्धायां जातायामेव कर्मपरित्यागो विहितः । भक्तिमात्रन्तु तां विना सिध्यति । सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनामेत्यादौ । सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसम्विदो भवन्ति हृत्कर्णरसायणाः कथाः, तज्जोषणादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यतीत्यादौ च । तत्पूर्वतोऽपि तस्याः फलदातृत्वश्रवणात् । म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन् पुत्रोपचारितम् । अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन् । इत्यादौ तथा फलदातृत्वसौष्ठवश्रवणाच्च ।

यद्यपि ज्ञान एवं कर्मसाधना में श्रद्धा की अपेक्षा है उस के विना भीतर व वाहिर सम्यक् प्रवृत्ति नहीं हो सकती तो भी भक्तिसाधन में केवल श्रद्धा को ही कारण रूप से निर्देश किये जाने के कारण भक्तिमार्ग में श्रद्धा का ही विशेष रूप से स्वीकार किया गया है। भक्ति-साधन में सम्यक् प्रवृत्ति के लिये ही श्रद्धा की अपेक्षा की जाती है, उस के विना अनन्या भक्ति की प्रवृत्ति नहीं हो सकती । यदि कभी किञ्चित् प्रवृत्ति होती है तो वह नाश हो जाती है । अतएव "न निर्व्विण्णो नातिसक्तः"इस प्रकार से भक्ति अनुष्ठान करने पर सिद्धि होती है ।" इस प्रकार उल्लेख के बाद "तावत् कर्माणि कुर्व्वीत न निर्व्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते"अर्थात् ज्ञान साधक तब तक निष्काम भावसे कर्म करेगा जब तक ऐहिक-पारलौकिक वैषयिकसुख में उद्विग्न नहीं होता है और भक्तिसाधक तब तक कर्म करें जब तक मेरी कथादि में दृढ़श्रद्धा उपस्थित नह

सा च श्रद्धा शास्त्राभिधेयावधारणस्यैवाङ्गं तद्विश्वासरूपत्वात् । ततो नानुष्ठानाङ्गत्वे प्रविशति । भक्तिश्च फलोत्पादने विधिसापेक्षापि न स्यात् । दाहादिकर्मणि वन्ह्यादिवत् । भगवच्छ्रवणकीर्त्तनादीनां स्वरूपतस्त दृशशक्तित्वात् ततस्तस्याः श्रद्धाद्यपेक्षा कुतः स्यात् । अतः

होगी । इस श्लोकमें दृढ़श्रद्धा उदयके बाद ही सर्वकर्म परित्यागकी व्यवस्था दी गई । भक्तिसामान्य में उस की अपेक्षा नहीं है । स्कन्द-पुराण के प्रभासखण्ड में "मधुरमधुरमेतत्" इत्यादि श्लोक में "सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा, भृगुवर ! नरमात्रं तारयेद् कृष्णनाम" अर्थात् हे भृगुश्रेष्ठ ! यह कृष्णनाम श्रद्धा से हों अथवा हेला से हों एक ही वार परिगीत होकर मनुष्य–मात्र का उद्धार कर लेता है । "सतां प्रसङ्गान्मम वीर्यसंविदो भवन्ति हृत्कर्णरसायनाः कथाः । तज्जोपगादाश्वपवर्गवर्त्मनि श्रद्धा रतिर्भक्तिरनुक्रमिष्यति" इत्यादिश्लोक में श्रद्धालाभ के पहले ही भक्तिफलदान की कथा सुनी गई है । "म्रियमाणो हरेर्नाम गृणन्पुत्रोपचारितम् । अजामिलोऽप्यगाद्धाम किमुत श्रद्धया गृणन्" इत्यादि श्लोक में श्रद्धा से ही फलदातृत्वसौष्ठव सुनने में आता है । अजामिल ने मरणदशा में पुत्रोपचारित हरि-नाम का ग्रहण कर वैकुंठधाम प्राप्त किया तब तो जो व्यक्ति श्रद्धा के साथ ग्रहण करता है उस की फलप्राप्ति वारे में कहना क्या है ? । वह श्रद्धा शास्त्र के वाच्य-पदार्थ अवधारणमें अंग रूप है, क्यों कि शास्त्रार्थविश्वास का नाम श्रद्धा है । शास्त्रार्थ में दृढ़विश्वास को श्रद्धा कहते हैं । अतएव श्रद्धा अनुष्ठान का अंग नहीं है । भक्ति फलोत्पादनमें विधि की अपेक्षा नहीं रखती । अग्नि जिस प्रकार अन्य निरपेक्षभाव से सम्मुखस्थ वस्तु को जला देती है उस

वा इत्यादौ। हेला त्वपराधरूपाप्यबुद्धिपूर्वक कृता चेद्दौरात्म्या भावे न भक्त्या बाध्यत इत्युक्तमेव। ज्ञानवलदुर्विदग्धादौ तु तद्वैपरीत्येन बाध्यते। यथा मत्सरेण नामादि गृह्णति वेणे कचिद्वस्तुशक्तिर्बाधिता दृश्यते। आर्द्रेन्धनादौ वह्नि-शक्तिरिव। श्रद्धयोपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यपि। भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पत इत्यत्र श्रद्धाभावित-

---

प्रकार भक्ति किसी विधि की अपेक्षा न कर ज्ञात वा अज्ञात रूप से हों निखिल अन्तराय ध्वंस कर के अपने फल प्रदान करती है। भक्ति श्रीहरि की स्वरूप शक्ति है, वह शक्ति किसी जीव की इन्द्रियादि-वृत्ति में तादात्म्य प्राप्त होकर भक्ति कर के अभिहित होती है। भक्ति के श्रवण-कीर्त्तनादि जो नाना प्रकार अंग हैं और एकादशी-व्रतादि जो उपांग हैं वे सब स्वरूप-शक्ति की वृत्तियाँ है। अतः वे भी समस्त निखिल अन्तराय ध्वंस कर के अपने अपने फल प्रदान करती है। तब तो भक्ति की श्रद्धादि अपेक्षा कहाँ है? जब कि वह अन्य किसी की अपेक्षा नहीं करती। बिना श्रद्धा के भी कहीं अज्ञानीजन में सिद्धि दिखने में आती है। "श्रद्धया हेलया वा" इत्यादि वचनसे इस का प्रमाण स्पष्ट है। परन्तु हेला अपराध रूप होने पर भी अबुद्धि पूर्वक किये जाने पर दौरात्म्याभाव के कारण भक्ति में बाधक नहीं करती है। यह पहले १५३ अनुच्छेद में शुद्धिभक्ति के आभास-प्रसंग में वर्णित हुआ है। बुद्धिपूर्वक अवहेला करने पर अपराध है परन्तु अबुद्धि-पूर्बक से नहीं। ज्ञानकणिका लाभ से जो परम उद्धत है उन के पक्ष में पटवारीबुद्धि से अवहेला किये जाने के कारण वह भक्ति बाधक है। मात्सर्य्य वशवर्त्ती के कारण वेण महाराज के नामग्रहणादि में बस्तु-षक्ति बाधित हुई जिस प्रकार भीजे काष्ठ में अग्नि की दाहिका शक्ति स्थगित हो जाती है। "मेरे भक्त यदि श्रद्धा के साथ जल भी देता है

श्रद्धां विना क्वचिन्मूढ़ादौ अपि सिद्धिर्दृश्यते श्रद्धया हेलया वा इत्यादौ । हेला त्वपराधरूपाप्यबुद्धिपूर्वककृता चेद्दौरात्म्याभावे न भक्त्या बाध्यत इत्युक्तमेव । ज्ञान-बलदुर्विदग्धादौ तु तद्वैपरीत्येन बाध्यते । यथा मत्सरेण नामादि गृन्हति वेणे क्वचिद्वस्तुशक्तिर्बाधिता दृश्यते । आद्रन्धनादौ वन्हिशक्तिरिव । श्रद्धयोपहृतं प्रेष्ठं भक्तेन मम वार्य्यप्यपि । भूर्य्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पत इत्यत्र श्रद्धा-भक्ति-शब्दाभ्यामादर एवोच्यते । स तु भगवत्तोषणलक्षणफल-

---

तो वह मेरा प्रिय होता है और अभक्तजन प्रचुर परिमाण से जो दान करता है वह सन्तोष कारण नहीं" यहाँ श्रद्धा एवं भक्ति—शब्द से आदर माना जावेगा। अर्थात् आदर पूर्वक जल भी देता है तो उस से मैं प्रसन्न होता हूँ परन्तु अनादर पूर्वक प्रचुरदान से भी मेरी प्रसन्नता नहीं। वह आदर भगवान्के सन्तोष लक्षण रूप फलविशेष की उत्पत्ति में जो अनादर—लक्षण सन्तोष—विघातक अपराध है उस के निरासक है। अतएव श्रद्धा भक्ति का अंग है कारण नहीं है। परन्तु कर्मानुष्ठान में अर्थी, समर्थ एवं विज्ञता की भाँति अनन्याख्या भक्ति में श्रद्धापद अधिकारी विशेषणरूप को लेकर उल्लिखित है। अतएव "यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्" इस श्लोक में भक्ति—अधिकारी के विशेषण रूप से "श्रद्धा" यह पद उल्लेख किया गया है। श्लोक में "जातश्रद्ध" पद पुमान् पद का विशेषण है। अर्थात् "जात—श्रद्धो मत्कथासु" इस श्लोक में "जातश्रद्ध" पद अधिकारी विशेषण को लेकर उल्लिखित है। "ततो भजेत मां प्रीतः" इस श्लोक में "ततः

विशेषस्योत्पत्तावनादरलक्षणतद्विघातकापराधस्य निरसन-परः। तस्मात् श्रद्धा न भक्तयङ्गं किन्तु कर्म्मण्यर्थिसमर्थ-विद्वत्तावदनन्यताख्यायां भक्तावधिकारिविशेषणमेवेत्यत एव तद्विशेषत्वेनैवोक्तं, यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमानिति। जातश्रद्धो मत्कथास्विति च। अत्र तामारभ्ये-त्यर्थेन ल्यब्लोपे पञ्चम्यन्तेन तत इति पदेनानवधिकनिर्देशे-नात्मारामतावस्थायामपि सा केषाञ्चित् प्रवर्त्तत इति तस्याः साम्राज्यमभिप्रेतम्। अनन्तरञ्च वक्ष्यते, न किञ्चित् साधवो धीरा इति। अतः साम्राज्यज्ञापनया तां विना कर्म्मज्ञाने

पद ल्यब्लोप में पञ्चमी है अर्थात् "तां श्रद्धामारभ्य" उस श्रद्धा से आरम्भ कर इस प्रकार अर्थ है। जब साधनभक्तिके किसी अंग में श्रद्धा उदय से लेकर अनन्या भक्ति की प्रारम्भ करने की बात श्लोक में उल्लेख है परन्तु उस भक्ति-अनुष्ठान का कब परिसमाप्त होगा उसका कोई उल्लेख नहीं है और आत्माराम-अवस्था में भी उस भक्ति की प्रवृत्ति किसी-किसी साधक में दिखने में आती है तो उस भक्ति का सर्वावस्था में साम्राज्यत्व यह अभिप्रेत हुआ है। इस के आगे अर्थात् "जातश्रद्धो मत्कथासु" इस श्लोक के बाद (११।२०।३४) "न किञ्चित् साधवो धीरा" इस श्लोक में आत्माराम–अवस्था में भी भक्ति की प्रवृत्ति दिखी जाती है एसा अर्थ व्यक्त है। अतएव भक्ति का सर्वा-वस्था में साम्राज्यत्व ज्ञापन कर उस भक्ति के विना कर्म एवं ज्ञान अपने-अपने फलप्रदानमें असमर्थ है इस बात को ज्ञात कराते हैं। इस प्रकार अनन्यभक्ति अधिकार में श्रद्धामात्र को हेतु कह कर वह जन किस प्रकार भजन करेगा उस की शिक्षा दी जाती है—वह "श्रद्धालु"

अपि न सिध्यत इति च ज्ञापितम् । तदेवमनन्यभक्ताधिकारे हेतुं श्रद्धामात्रमुक्त्वा स यथा भजेत्तथा शिक्षयति । स श्रद्धालुर्विश्वासवान् प्रीतः जातायां रुचावासक्तः दृढ़निश्चयः साधनाध्यवसायभङ्गरहितश्च सन् । सहसा त्यक्तुमसमर्थत्वात् कामान् जुषमाणश्च गर्हयंश्च । गर्हणे हेतुः दुःखोदर्कान् शोकादिकृदुत्तरफलानिति । अत्र कामा अपापकरा एव ज्ञेयाः । शास्त्रे कथञ्चिदपि अन्यानुविधानायोगात् । प्रत्युत, "परपत्नीपरद्रव्यपरहिंसासु यो मतिम् । न

अर्थात् विश्वासवान्, "प्रीतः" अर्थात् भक्तिअग में संजातरुचिवान् (आसक्त), "दृढ़निश्चय" अर्थात् साधनाध्यवसाय में भङ्गरहित, सहसात्याग में असमर्थता के हेतु विषयभोग करने वाला अथच उस विषयभोगमें तुच्छबुद्धि रखने वाला, विषयभोग में तुच्छबुद्धि का हेतु वह फल में शोकादिप्रद है, अर्थात् जो जितना विषयभोग करता है वह उतना दुःखशोक में अभिभूत होता है ऐसा समझकर भोग के प्रति दोषारोपण एवं सहसा परित्याग में असमर्थ । यहाँ "काम" अर्थात् विषयभोग वोलने पर अपापजनक भोग को ज्ञात करता है। क्यों कि शास्त्र में किसी पाप-जनक भोग का विधान नहीं है । प्रत्युत में-"परपत्नी—परद्रव्य—परहिंसासु यो मतिम् । न करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः" अर्थात् "जो व्यक्ति परपत्नी, परद्रव्य एवं परहिंसा में मति नहीं रखता है उस के प्रति केशव प्रसन्न रहते हैं" इस प्रकार विष्णुपुराणादि वचन से भगवान् में कर्मार्पणरूपा-भक्ति-अनुष्ठान के पहले ही पापजनक विषयभोग का

करोति पुमान् भूप तोष्यते तेन केशवः ॥" इति विष्णु-पुराणवाक्यादौ कर्मार्पणात् पूर्वमेव तन्निषेधादत्रैव च निष्कामकर्म्मण्यपि यद्यन्यन्न समाचरेदिति वक्ष्यमाणनिषेधात् । कर्म्मपरित्यागविधानेन सुतरां दुष्कर्म्मपरित्याग-प्रत्यासत्तेः । विष्णुधर्म्मे –मर्य्यादाश्च कृतां तेन यो भिनत्ति स मानवः । न विष्णुभक्तो विज्ञेयः साधुधर्म्मार्च्चनो हरिरिति वैष्णवेष्वपि तन्निषेधात् । यत्पादसेवाभिरुचिस्तपस्विनामशेष-जन्मोपचितं मलं धियः । सद्यः क्षिणोतीत्यत्र सदयःशब्द–योगेन जातमात्ररुचीनां,'यदा नेच्छति पापानि यदा पुण्यावि वाञ्छति

निषेध किया गयाहै। और(११।२०।१०)श्लोक पर"न याति स्वर्गनरको यद्यन्यत् न समाचरेत्" अर्थात् स्वधर्म में रह कर निष्कामभाव से यज्ञादि के द्वारा भगवान् की आराधना करने पर स्वर्ग में नहीं जावेगा न नरक में जावेगा यदि निषिद्ध कर्म एवं काम्यकर्म का अनुष्ठान नहीं करता है ऐसा कहा गया। क्यों कि निषिद्ध अनुष्टान से नरक में तथा काम्यानुष्ठान से स्वर्ग में जाना पड़ता है। कर्मपरित्याग-विधान से दुष्कर्म्म परित्याग का विधान आप ही आ जाता है। विष्णुधर्म्मोत्तर में उल्लेख है—भगवान् के नियम को जो भंग करता है वह विष्णुभक्त नहीं है, क्यों कि श्रीहरि पवित्रधर्म से अर्च्चित होते हैं इत्यादि। अत-एव वहाँ वैष्णवगण में निषिद्ध कर्माचरण का निषेध किया गया है। (४।२१।३१) श्लोकमें-पृथुराज ने अपने प्रजावर्ग के प्रति उपदेश किया है—हे प्रजागण ! जीवों के मोक्षप्रदान में एकमात्र परमेश्वर समर्थ हैं, देवतागण मुक्तिदान नहीं कर सकते हैं क्यों कि वे शक्तिसम्पन्न जीव-विशेष हैं। भगवान् के चरणकमलों में सेवाभिरुचि होने पर संसार-

ज्ञेयस्तदा मनुष्येण हृदि तस्य हरिः स्थितः" ॥ इतिविष्णु-धर्म्म नियमेन च, "विकर्म्म यच्चोत्पतितं कथञ्चिद्धुनोति सर्व्वं हृदि सन्निविष्टः" इत्यत्रापि कथञ्चित्शब्दप्रयोगेन लब्धभक्तीनाञ्च स्वतस्तत्प्रवृत्त्ययोगात् । 'नाम्नो बलाद्यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमै हि शुद्धिरि'ति पद्ये नामाप-राधभञ्जनस्तोत्रादौ हरिभक्तिबलेनापि तत्प्रवृत्तावपराधा-पाताच्च । अपि चेत् सुदुराचार इति तु तदनादरदोषपर

दग्ध मनुष्यों का अशेष जन्मार्जित चित्त-मालिन्य विनाश हो जाता है। वह चरणसेवाभिरुचि प्रतिदिन क्रम से बढ़ती रहती है। जिस प्रकार श्रीहरि के चरणांगुष्ठ से विनिर्गता गंगा की सेवा से क्रमशः समस्त पाप विनष्ट हो जाते हैं, उस प्रकार सेवाभिरुचि वालों का चित्त-मालिन्य नष्ट हो जाता है। यहाँ "सद्यः क्षीणोति" वचन में "सद्य" शब्द का प्रयोग से यह ज्ञात होता है कि—जिन का हरिचरण-सेवा में रुचिमात्र उत्पन्न हुई है उन की पापप्रवृत्ति विनष्ट हो जाती है और जो भजन में प्रवृत्त हैं उन भक्तिसाधकों की पापप्रवृत्ति कहाँ रह सकती है ?। विष्णुधर्म में और भी नियम बतलाया गया है—जब मनुष्य पापकर्म करने में इच्छा नहीं करता है एवं पुण्यकर्म करने में इच्छा रखता है तब जानना कि श्रीहरि उस के हृदय में विराजमान हैं। इस से "विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्व्वं हृदि सन्निविष्टः" अर्थात् भगवद्भजन में यदि किसी प्रकार विकर्म उपस्थित होता है तो भगवान् उस के अनुतप्त हृदय में विराज कर उस दुष्प्रवृत्ति को

एव, न दुराचारताविधानपरः, क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मेत्यनन्तरवाक्ये दुराचारतापगमस्य श्रेयस्त्वनिर्द्देशादिति ॥११॥ ॥२०॥ श्रीभगवान् ॥१७०—१७२॥

नन्वेवं केवलानां कर्म्मज्ञानभक्तीनां व्यवस्थोक्ता। नित्यनैमित्तिकं कर्म्म तु सर्व्वेष्वेवावश्यकम्। तर्हि साङ्कर्य्ये

विदूरित कर लेते हैं यह सिद्ध होता है। यहाँ "कथञ्चित्" शब्द का प्रयोग है-उस से यह ज्ञात होता है-जिन्हों ने भगवान् में भक्तिलाभ किया है उन की स्वतन्त्ररूप से विकर्म में प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। पद्मपुराण में कहा गया है-"नाम्नो बलाद् यस्य हि पापबुद्धिर्न विद्यते तस्य यमैर्हि शुद्धिः" अर्थात् जिस की नाम महिमाबल से पाप करने की प्रवृत्ति होती है-तात्पर्य-पाप कर के सर्वापहारक नाम कीर्त्तन कर अनुष्ठित पापों का प्रायश्चित्त कर लूँगा इस प्रकार दुष्प्रवृत्ति होती है उस की यम-नियमादि पवित्र साधनों से भी शुद्धि नहीं है। इस प्रकार नामापराधभञ्जनस्तोत्रादि में हरिभक्तिबल से पापप्रवृत्ति अपराध-जनक करके उल्लेख है। "अपि चेत् सुदुराचार' इत्यादि गीता के श्लोक में सुदुराचारी को भी साधु कर के सम्मान करने की जो व्यवस्था दी गई है उस का समाधान—"सुदुराचारः" पद से अनन्य देवता-उपासक श्रीभगवद्भजनकारी भक्त का अनादर करना अत्यन्त दोषावह है इस तात्पर्य्य को लेकर ही उस प्रकार कहा गया है परन्तु दुराचारता का विधान नहीं किया गया। क्यों कि-परश्लोक में "क्षिप्रं भवति धर्म्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति" अर्थात्

कथं शुद्धे ज्ञानभक्ती प्रवर्त्तेयातां तदेतदाषङ्क्य तयोः कर्माधिकारितां वारयति—तावत्कर्म्माणि कुर्व्वीत न निर्व्विद्येत यावता । मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥१७३॥

—※—

उस की वह दुराचारता निवृत्ति होने पर ही मंगल होता है इस प्रकार निर्देश किया गया है । अच्छा ? यहाँ यह प्रश्न उठ सकता है कि—केवल कर्म, ज्ञान एवं भक्ति की यह व्यवस्था की गई । परन्तु नित्य-नैमित्तिककर्म कर्मी, ज्ञानी एवं भक्त सब का आवश्यक पड़ता है । यदि ऐसा ही है तो ज्ञान एवं भक्तिके साथ कर्मका मिश्रण हुआ । तब शुद्ध ज्ञान-भक्ति दोनों किस प्रकार चल सकते हैं ? इस प्रकार आशंका कर के ज्ञान एवं भक्ति के कर्माधिकारत्व का वारण करते हैं-"तावत् कर्म्माणि कुर्व्वीत न निर्व्विदच्येत यावता । मत्कथा-श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते" इस श्लोक से । श्रीकृष्ण कह रहे हैं—ज्ञानी तब तक नित्य-नैमित्तिक कर्म का अनुष्ठान करें जब तक ऐहिक तथा पारलौकिक सुखभोग में निर्वेद उपस्थित न हों और भक्त तब तक नित्य-नैमित्तिक कर्म करें जब तक मेरे कथा-श्रवण-कीर्त्तनादि में दृढ़ विश्वास रूप श्रद्धा का उदय न होवें ॥१७३॥

—※—

इति प्रथमखण्डः समाप्तः

श्रीभागवतम्

शंके नीताः सपदि दशमस्कन्धपद्यावलीनां
वर्णाः कर्णध्वनिपथिकतामानुपूर्व्व्याद्भवद्भिः।
हंहो डिम्भाः परमशुभदान् हन्त धर्म्मार्थकामान्
यद्गर्हन्तः सुखमयममी मोक्षमप्याक्षिपन्ति ॥

(भक्तिरसामृतसिन्धौ)

पूर्वविभागे द्वितीयलहर्य्याम्

अर्थात्—अहे निर्व्वोधगण ! श्रीमद्भागवत के दशमस्कन्ध के पद्यों की वर्णावली-समूह जो परम शुभद, धर्म्मार्थकामरूप त्रिवर्ग को निन्दा करती सुखमय चतुर्वर्ग मोक्ष को तिरस्कार कर सर्वोपरि विराजमान है ! हाय ! यह आशंका हो रही है कि तुम सबने आनुपूर्वक रूप से उन वर्णसमूह को सदय ही अपने कर्णपथमें पथिक बनाया अर्थात् तुम सब ने क्रम से उन का श्रवण किया यह यहाँ निन्दा-च्छलसे अर्थात् व्याजस्तुति के द्वारा भागवत की प्रशंसा की गई, अर्थात् श्रवण-निषेध छलसे उस के अवश्य कर्त्तव्य की व्यवस्था दी जा रही है। इस पद्य में अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यध्वनि के द्वारा स्तुति बतलाय जाती है जो निन्दाव्याजसे व्याजस्तुति नामक अलङ्कार को व्यक्त करती है।

——✻✻✻✻——

मुद्रक—मोहनचन्द्र गोस्वामी मोहन प्रेस, वृन्दावन ।